पौराणिक भूगोल

पुराण में भूगोल और खगोल एक अत्यन्त सारवान् विषय है। पुराणकारों ने भूगोल का विवरण दो दृष्टियों से किया है—एक तो है समस्त संसार का भूगोल और दूसरा है भारतवर्ष का भूगोल। इन दोनों के बीच प्रथम में कल्पना का प्राचुर्य है और द्वितीय में पूर्ण यथार्थता का सद्भाव—ऐसी धारणा अनेक विद्वानों की है। मेरी दृष्टि में संसार के पौराणिक भू-विवरण में कल्पना का उतना समावेश नहीं है, जितना साधारणतया समझा जाता है। आजकल के वैज्ञानिक युग में परिज्ञात तथा बहुशः वर्णित समस्त भूमिखण्ड पुराणकारों को सर्वथा ज्ञात थे और उन्होंने इसका विवरण बड़ी यथार्थता से दिया है। त्रुटि इतनी ही है कि उन स्थानों की पहिचान आजकल निःसन्दिग्ध रूप से ज्ञात नहीं हो रही है। पृथ्वी के सप्तद्वीपों की कल्पना पौराणिक भूगोल की निजी विशिष्टता है। इन द्वीपों में से तीन—कुशद्वीप, शकद्वीप और जम्बूद्वीप—की पहिचान बड़े ही सांगोपांग रूप से यथार्थतः हो सकी है। पुराणों की भौगोलिक यथार्थता का परिचायक यह घटना कथमपि विस्मरणीय नहीं है कि कप्तान स्पीक ने पुराणस्थ संकेत को आधार मान कर ही मिश्र देश में बहने वाली आफ्रिका की नील नदी के उद्गम का पता लगाया। पुराण में नदी का उद्गमस्थान कुशद्वीप में बतलाया गया है। कुश देश तथा कुश लोगों का उल्लेख प्रख्यात पारसीक सम्राट् दारियबहु (५२२–४८६ ईस्वी पूर्व) के अनेक फारसी अभिलेखों में मिलता है। कुशद्वीप को आधुनिक नूबिया मान कर पौराणिक वर्णन का अनुसरण करते हुए कप्तान स्पीक ने नील नदी का स्रोत खोज निकाला। यह पौराणिक भूगोलीय यथार्थता का विजयघोष है !!!

वहां कुश लोगों का राज्य २२००—१८०० ई० पू० में था। शक द्वीप की पहचान यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित 'सिथिआ' से की जाती है। पुराणों के द्वारा वर्णित शक देश की अवान्तर जातियों का, वहाँ के दूध सागर का तथा नदियों का विवरण इतना यथार्थ है कि यह स्पष्टतः कल्पना प्रसूत न होकर ठोस अनुभव पर आश्रित है। भारतवर्ष के नवीन उपनिवेश जहां हिन्दुओं ने जाकर अपनी सभ्यता और संस्कृति की वैजयन्ती फहराई थी पुराणों में विशदता के साथ उल्लिखित और वर्णित है। एसिया की, व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वशालिनी बड़ी-बड़ी सात नदियों का वर्णन भी उतना ही यथार्थ है। पाताल की पहिचान पश्चिमी गोलार्ध से की गई है जिसमें नियामक वर्णन है मध्य अमेरिका के मयसंस्कृति के क्रीडाक्षेत्र मेक्सिको और पेरू के भू-वृत्त का।

इस प्रकार पौराणिक भूगोल यथार्थ है, काल्पनिक नहीं; इतना होने पर भी अभी भी उसकी कुछ भौगोलिक सामग्री इतनी उलझी हुई और गोलमाल है कि उसके आधार पर विश्व का पूरा नकशा अभी भी ठीक-ठीक तैयार नहीं किया जा सकता। यहां इस पौराणिक भूगोल के मुख्य अंशों की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

पुराण में भुवनकोश एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसमें समग्र भुवनों का भौगोलिक नाम, विस्तार तथा स्वरूप का विशद वर्णन पुराणों में उपस्थित किया गया है। इस भूवृत्त को समझने के लिए इसके केन्द्रस्थानीय पर्वत मेरु का स्वरूप जानना परम आवश्यक है।

समग्र पृथ्वी को कमल का रूप स्वीकार किया गया है जिसकी कर्णिका (मूल मध्य जहां से पंखुडियां निकल कर चारों ओर फैलती हैं) में मेरु पर्वत की स्थिति मानी गई है।

अव्यक्तात् पृथिवीपद्मं मेरुपर्वत कर्णिकम्।

—वायु ३४।३७

वायुपुराण का अन्यत्र कथन है कि उस महात्मा प्रजापति का सोने का बना (हिरण्मय) मेरुपर्वत गर्भ है, समुद्र गर्भ से निःस्यन्दमान उदक हैं और सिरायें तथा हड्डियां पर्वत हैं:—

हिरण्मयस्तु यो मेरुस्तस्योल्वं तन्महात्मनः।
गर्भोदकं समुद्राश्च सिराद्यस्थीनि पर्वताः॥

—(वायु[1] ५।८०)

इसी प्रकार मत्स्यपुराण में मेरु अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा का नाभि-बन्धन माना गया है—नाभिबन्धन संभूतो ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः (मत्स्य। १।२।१४)। तात्पर्य यह है कि मेरु पर्वत पृथ्वी की नाभि होने से वह केन्द्र है जिसे मूल मान कर भुवनकोश का विन्यास किया गया है।

मेरु पर्वत पुराण परम्परा के अनुसार इलावृत्त वर्ष के मध्य में स्थित है जो जम्बूद्वीप का केन्द्र माना जाता है[2]। इलावृत्त के चारों ओर चार पर्वत मेरु

---

१ कूर्मपुराण ने वायु के इस वचन को परिष्कृत रूप में उपस्थित किया है—
मेरुरुल्वमभूत् तस्य जरायुश्चापि पर्वताः।
गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन् परमात्मनः॥

—कूर्म ४।४०

२. इलावृत्तं तु तन्मध्ये सौवर्णो मेरु रुच्छ्रितः। अग्नि १०८।९।
जम्बूद्वीपो द्वीपमध्ये तन्मध्ये मेरुच्छ्रितः। तत्रैव १०८।३।

को आलम्बन देने वाले खम्भों के समान फैले हुए हैं'—पूरब दिशा में है मन्दर पर्वत, दक्षिण में है गन्धमादन, पश्चिम में है विपुल पर्वत तथा उत्तर में है सुपार्श्व। मेरु को चारों ओर से घेरने वाले अन्य पर्वतों का भी उल्लेख मिलता है। मेरु के उत्तर में है नील पर्वत, उसके उत्तर में है श्वेत पर्वत जिसके उत्तर में है शृंगी पर्वत। पूरब ओर हैं जठर तथा देवकूट। दक्षिण में है निषध पर्वत, जिसके दक्षिण में है हेमकूट और इसके भी दक्षिण में हिमवान (हिमालय)। पश्चिम ओर हैं दो पर्वत माल्यवान तथा गन्धमादन। इन पर्वतों के नाम तथा स्थान पुराणों में इतनी भिन्नता से वर्णित हैं कि मेरु की स्थिति समझने में बड़ी गड़बड़ी तथा कठिनाई का सामना करना पड़ता है। परन्तु पुराणों में मेरु पर्वत के वर्णनों में इतनी विस्तृत बातों का विवरण दिया गया है कि उसे हम कल्पना-प्रसूत पर्वत नहीं मान सकते। मेरु के वर्णन में वायु पुराण (३४।१६–१८) का कथन है कि वह 'प्रजापतिगुणान्वित:' है अर्थात् प्रजापति के गुणों से युक्त है। पूरब ओर वह श्वेत रंग का है जिससे उसका ब्राह्मण्य प्रकट होता है; दक्षिण ओर वह पीतवर्ण का है जिससे उसका वैश्यत्व ख्यापित होता है; पश्चिम ओर वह भृङ्गराज के पत्र के समान है (श्यामरंग का) और यह इसके शूद्रत्व का ख्यापक है। उत्तर ओर वह रक्तवर्ण का है जो उसके क्षत्रियत्व का संकेत करता है। प्रजापति की समता तो इससे अवश्य सिद्ध होती है, परन्तु इन विभिन्न रंगों का वास्तविक तात्पर्य समझना एक विकट समस्या है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि मेरु वास्तव में एक विशिष्ट पर्वत था जिसकी पुराणवर्णित भौगोलिक स्थिति के आधार पर वर्तमान स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

मेरु की पहिचान

मेरु की पहिचान के विषय में विद्वानों ने नाना मत माने हैं। मेरु एक ऐसा विशिष्ट पर्वत है जहाँ से पर्वतश्रेणियाँ निकल कर चारों दिशाओं में फैलती हैं। फलत: अनेक विद्वानों ने इसे पामीर पर्वत का ही प्रतिनिधि माना है। डा० हर्षे ने अपने एक सुचिन्तित लेख में मेरु पर्वत को अलताई पर्वत के क्षेत्र में स्थित माना है। यह अलताई पर्वत-श्रेणी एशिया के नकशे में पश्चिमी साइबे-

---

१. विष्कम्भा रचिता मेरोर्योजनायुत-विस्तृता:।
पूर्वेण मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादन:।
विपुल: पश्चिमे पार्श्वे सुपार्श्वे सुपार्श्वश्चोत्तरे स्मृत:॥

—वायु १।३५।११,१६। अग्नि १०८।११–१२। कूर्म ४५। १५–१६

रिया तथा मंगोलिया में स्थित देखी जा सकती है। हिमालय के उत्तर में मेरु पर्वत की स्थिति पुराणों में बतलाई गई है अर्थात् हिमालय तथा मेरु के बीच में हेमकूट और निषध दो पर्वतों की स्थिति है। एशिया के नक्शे में 'कू:नलून' तथा 'थिएनशान' पर्वत की श्रेणियां देखी जाती हैं इन्हें ही क्रमशः हेमकूट तथा निषध पर्वतों का वर्तमान रूप माना जा सकता है। डा० हर्ष ने अपने सिद्धान्त को स्थिर करने में अनेक प्रौढ़ युक्तियाँ दी हैं और इस मेरु पर्वत को ही आर्यों का मूल निवास बतलाया है। उनके तर्कों में बहुत बल और आधार है। 'आलताई' शब्द मंगोलिन भाषा का है (आलतेन-उला) जिसका अर्थ है—सुवर्ण का पर्वत। और पुराणों ने प्रायः सर्वत्र मेरु को सुवर्ण पर्वत कहा है—हिरण्मय तथा सौवर्ण पर्वत। नाम का ही साम्य नहीं है, प्रत्युत पुराणों में वर्णित मेरु का भौगोलिक विवरण-आस पास की नदियों तथा चारों ओर फैलने वाले पहाड़ों का वर्णन भी—इस साम्य को पुष्ट करने के लिए प्रमाणभूत माना जा सकता है। मेरु पर देवों का निवास माना जाता है और इसलिए वह भूतल का स्वर्ग है। इन सब तथ्यों का भी आधार खोजा जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि मेरु पर्वत हिमालय के उत्तर में स्थित है और बहुत सम्भव है कि वह पश्चिमी साइबेरिया में वर्तमान आलताई पहाड़ ही हो[1]।

चतुर्द्वीपा वसुमती

पुराणों के 'भुवन कोश' के समीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि उसमें वसुमती के द्विविध विवरणों का संमिश्रण हो गया है। पृथ्वी के विषय में प्राचीन मत (वायु पुराण में निर्दिष्ट) था कि पृथ्वी में चार द्वीप हैं मेरु की चारों दिशाओं में; परन्तु आगे चलकर सप्तद्वीपा वसुमती की कल्पना भी कभी जागरूक हुई और पुरानी चतुर्द्वीपी कल्पना के साथ इस अभिनव कल्पना का संमिश्रण हो जाने से वर्णनों में बड़ी गड़बड़ी तथा मिलावट दीख पड़ती है जिसकी छानबीन कर मूल रूप को भी पहचाना जा सकता है। वायु पुराण के इस कथन पर चतुर्द्वीपा वसुमती की कल्पना सर्वप्राचीन कल्पना प्रतीत होती है :—

> पद्माकारा समुत्पन्ना पृथिवी सघनद्रुमा।
> तदस्य लोक-पद्मस्य विस्तरेण प्रकाशितम्॥ ४५॥

---

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० आर० जी० हर्षे : 'मेरु होमलैण्ड आव दी आरियन्स' नामक लेख। विश्वेश्वरानन्द-भारतभारती लेखमाला १०९; होशियारपुर, पंजाब, १९६४।

महाद्वीपास्तु विख्याताश्चत्वारः पत्रसंस्थिताः।
ततः कर्णिकसंस्थानो मेरुर्नाम महाबलः ॥ ४६ ॥

—वायुपुराण, अध्याय ३४।

मेरु से महाद्वीपों की स्थिति संकेतित की गई है। पूरब की ओर है भद्राश्व महाद्वीप, दक्षिण में है जम्बुद्वीप (जो 'भारतवर्ष' के नाम से भी वर्णित है), पश्चिम में केतुमाल तथा उत्तर में उत्तरकुरु :

स तु मेरुः परिवृतो भुवनैर्भूतभावनैः।
यस्येमे चतुरो देशा नाना पार्श्वेषु संस्थिताः ॥
भद्राश्वं भारतं चैव केतुमालं च पश्चिमे।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्य-प्रतिश्रयाः ॥

—मत्स्य, ११२ अ०, ४३–४४ श्लो०

(ये दोनों श्लोक इसी रूप में वायु पुराण अ० ३४, श्लो० ५६–५७ श्लो० में भी उपलब्ध होते हैं। वायु० का ३४ अ० मेरु पर्वत के विशद तथा विस्तृत विवरण के लिए नितान्त मननीय है)।

इन चारों महाद्वीपों की वर्तमान स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। 'भद्राश्व' का शाब्दिक अर्थ है कल्याणकारी घोड़ा। सम्भवतः यह चीन देश को सूचित करता है। भारत तो हमारा भारतवर्ष है। भारत हैमवत वर्ष के नाम से कभी इसलिए विख्यात था कि वह हिमालय की दक्षिण दिशा में वर्तमान है। वंक्षुनदी (आकस नदी–आमू दरिया और सिर दरिया) का प्रदेश केतुमाल महाद्वीप है जो मेरु के पश्चिम में वर्तमान है। उत्तर कुरु वह विशाल देश है जो आलताई पर्वत से लेकर उत्तरी समुद्र तक फैला हुआ है। इसकी सौख्य-समृद्धि के विस्तृत वर्णन को पुराणों में पढ़कर यह एक काल्पनिक स्वर्ग-भूमि के समान प्रतीत होता है, परन्तु वह एक यथार्थ भौगोलिक क्षेत्र था जो मेरु के उत्तर में स्थित था। साइबेरिया का पूरबी तथा उत्तरी भाग इस क्षेत्र के भीतर आता है। भौगोलिक परिवर्तनों के कारण आज यह प्रदेश अत्यन्त शीतमय तथा हिममय होने से मानवों के निवास के लायक नहीं रहा, परन्तु कभी यह बड़ा ही समृद्धिशाली प्रदेश था और आज भी वहाँ की खानों से निकलने वाली बहुमूल्य धातुओं की सत्ता से उसके वैभव का संकेत समझा जा सकता है। यही है चतुर्द्वीपा वसुमती का सामान्य पौराणिक निर्देश।

इन प्रत्येक महाद्वीप में एक विशिष्ट पर्वत, एक नदी, एक वृक्षकुंज, एक झील, एक वृक्ष तथा आराधना के निमित्त एक विशिष्ट रूपधारी भगवान् की

भी स्थिति थी। फलतः ये महाद्वीप सर्व प्रकार के भौगोलिक साधनों से सम्पन्न भी थे। इनकी स्थिति इस नकशे में देखिए[1]:—

चतुष्पत्री भुवनपद्म

७ वटवृक्ष
६ मत्स्य भगवान्
५ महाभद्र सरस्
४ सावित्र वन
३ सोमा नदी
२ शृङ्गी पर्वत
१ उत्तरकुरु

१ केतुमाल		१ भद्राश्व
२ ऋषभ, पारिमात्र पर्वत	मेरु	२ देवकूट पर्वत
३ चक्षु (वक्षु) नदी	इलावृत्त वर्ष	३ सीता नदी
४ वैभ्राज वन		४ चैत्ररथ वन
५ शीतोद सरस्		५ अरुणोद सरस्
६ वराह भगवान्		६ हयग्रीव भगवान्
७ अश्वत्थवृक्ष		७ भद्रकदाम्ब वृक्ष

१ भारतवर्ष
२ कैलास-हिमवत् पर्वत
३ अलकनन्दा
४ नन्दन वन
५ मानस सरस् (= मान सरोवर)
६ कच्छप भगवान्
७ जम्बू वृक्ष
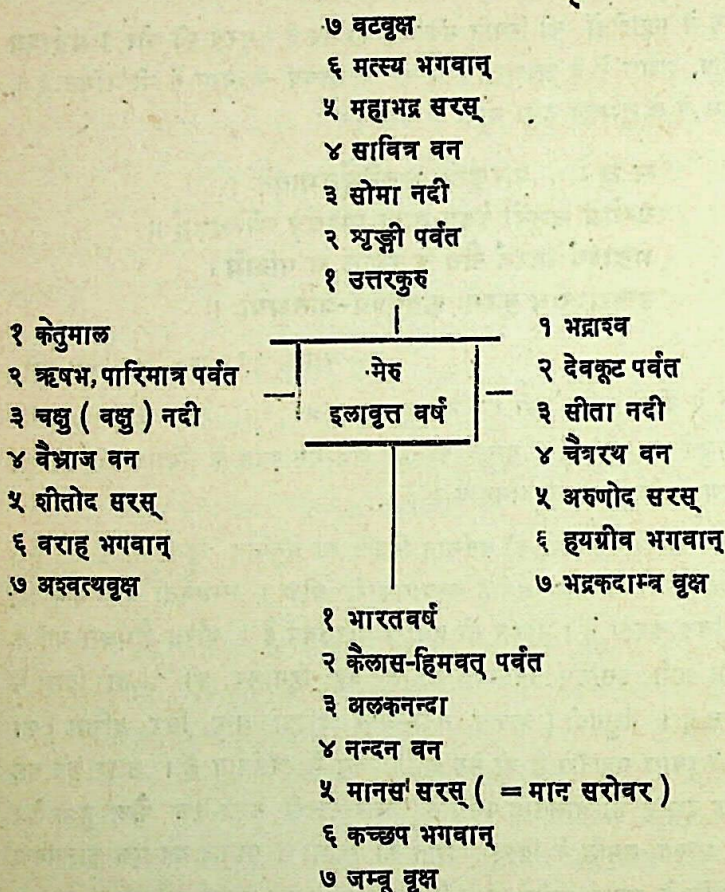
सप्तद्वीपा वसुमती

भुवनकोष के विषय में प्राचीन मत यही था कि पृथ्वी चार द्वीपों से घिरी है, परन्तु पुराणों के नवीन संस्करण में सातद्वीपों का सिद्धान्त मान लिया गया। इन सात द्वीपों के क्रम के विषय में पुराणों में ऐकमत्य नहीं दृष्टिगोचर होता,

---

१. डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल के अंग्रेजी Matsya Purana : A Study नामक ग्रन्थ से उद्धृत, पृ० १८७। (प्रकाशक अखिल भारतीय काशिराज न्यास, रामनगर, वाराणसी, १९६३)। यह वर्णन विष्णुपुराण के २।२। पर तथा श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध, १६ अ० पर आधृत है।

परन्तु सप्तद्वीपा वसुमती का सिद्धान्त समग्र पुराणों का एक नितान्त महनीय तथा मान्य रहस्य है। जम्बूद्वीप इस कल्पना के द्वारा मध्य में है और यह सात द्वीपों के द्वारा वेष्टित है और ये द्वीप आपस में एक-एक समुद्र के द्वारा पृथक्कृत किये गये हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) **जम्बूद्वीप** (क्षार समुद्र या लवणोदधि द्वारा वेष्टित)।
(२) **प्लक्ष** (गोमेदक) द्वीप (इक्षुरस समुद्र द्वारा वेष्टित)।
(३) **शाल्मलि द्वीप** (सुरा समुद्र के द्वारा वेष्टित)।
(४) **कुशद्वीप** (घृत समुद्र द्वारा वेष्टित)।
(५) **क्रौञ्च द्वीप** (दधि समुद्र द्वारा वेष्टित)।
(६) **शाकद्वीप** (क्षीर समुद्र के द्वारा वेष्टित)।
(७) **पुष्करद्वीप** (स्वादु जल समुद्र द्वारा वेष्टित)।

इनमें प्रथम या मध्यस्थित जम्बू द्वीप का विस्तार—एक लक्ष योजन है। प्रत्येक द्वीप अपने पूर्व द्वीप से आयाम में द्विगुणित है। फलतः प्लक्ष द्वीप का विस्तार द्विलक्ष योजन माना जाता है। इसी प्रकार अन्य द्वीपों का भी विस्तार समझना चाहिए। प्रत्येक द्वीप में सात नदियों तथा सात पर्वत होते हैं।[1] द्वीपों का यह क्रम वायु, विष्णु (२।४) भागवत (५।२०) तथा मार्कण्डेय (५४.६) के अनुसार है। मत्स्य (अ० १२१ तथा १२२) के अनुसार द्वीपों का क्रम इस प्रकार है—(१) जम्बू द्वीप, (२) शाक, (३) कुश, (४) क्रौन्च, (५) शाल्मल, (६) गोमेद तथा (७) पुष्करद्वीप। इन द्वीपों की वर्तमान भौगोलिक स्थितियों का पता लगाना नितान्त दुःसाध्य है। कुशद्वीप के विषय में संकेत सूत्रमात्र उपलब्ध होता है, परन्तु शाकद्वीप के विषय में यूनानी, अरब तथा ईरानी लेखकों के ग्रन्थों के साहाय्य से बड़ी ही उपादेय तथा निर्णायक सामग्री मिलती हैं।

कुशद्वीप

कुश नामक देश तथा वहां के निवासी **कुशीय** लोगों का उल्लेख अनेक प्राचीन फारसी शिलालेखों में मिलता है। उदाहरणार्थ **दारयवहु** (अंग्रेजी में डेरियस; ५२२–४८६ ईस्वी पूर्व) के हमदान लेख[2] में उसके राज्य की सीमा

---

१. इन नदियों और पर्वतों के नाम में बड़ी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। स्थानाभाव से इस विषय की समीक्षा यहाँ नहीं की जा सकती। केवल स्थूल बातें ही दी जाती हैं।

२. इस मूल लेख के लिए द्रष्टव्य डा० डी. सी. सरकार रचित 'जियाग्रफी आव ऐनशण्ट ऐण्ड मधिएवल इण्डिया' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ पृष्ठ १६४।

इस प्रकार बतलाई गई है :—सोग्दियाना (सिरदरिया और आमूदरिया के बीच का बुखारा प्रान्त) से पर पार में रहने वाले शकों के देश से—वहाँ से लेकर कुश तक—सिन्धु (सिन्धु प्रदेश,—भारतवर्ष का सिन्ध नदी से प्रवाहित प्रदेश) से लेकर स्वर्दा तक ('एशिया माइनर' में सारडिस नामक स्थान) ये प्रदेश उसके राज्य की सीमा हैं। यहां कुशदेश का नाम स्पष्टतः उल्लिखित है। कुशदेश है कहाँ ? कुछ विद्वान इथोपिआ से इनका समीकरण मानते हैं और दूसरे विद्वान इसे मिश्रदेश के मध्यभाग में स्थित मानते हैं। प्राचीन फारस सम्राटों के राज्यों के प्रान्तों की गणना में कुश तथा मुद्राय (इजिप्त या मिश्रदेश) दोनों को अलग-अलग गिनाया गया है। अतः कुश की स्थिति मिश्र से बाहर अफ्रिका के पूर्वोत्तर भाग में कहीं पर मानना उचित होगा। यही कुश हमारी दृष्टि में पुराणों का कुशद्वीप है।

शकद्वीप या शाकद्वीप

शकद्वीप विषयक पौराणिक सामग्री बड़ी महत्त्वपूर्ण तथा भौगोलिक तथ्यों से सर्वथा परिपूर्ण है। इसमें पुराण रीत्यनुसार सात पर्वत तथा सात नदियों के नाम दिये गये हैं। मत्स्यपुराण (अध्याय १२१) इनके दो-दो नाम देता है (**द्विनामानः**)। इन द्विविध नामों का रहस्य यही प्रतीत होता है कि एक नाम तो भारतीय (पुराणस्थ) हैं और दूसरे नाम विदेशी (अर्थात् शकीय = शक जाति के लोगों द्वारा प्रदत्त)। पुराणों ने इस द्वीप का वर्णन इतना सांगोपांग किया है कि उनके आधार पर इसकी पहिचान पूर्ण प्रामाणिक रीति पर की जा सकती है।

शकद्वीप में सात पर्वत, सात वर्ष तथा सात नदियों का उल्लेख मिलता है (मत्स्य अध्याय १२१)। शाकद्वीपों के पर्वतों के नाम ये हैं—मेरु (दूसरा नाम उदय), जलधार (चन्द्र नाम से भी ख्यात, विष्णु में जलाधार), दुर्ग शैल (नारद से भी प्रख्यात), श्याम (अपर नाम दुन्दुभि), अस्तगिरि (अपर नाम सोमक), आम्बिकेय (अपर नाम सुमनस्), विभ्राज (अपर नाम केशव)। विष्णुपुराण में रैवतक तथा केशरी दो नाम इनमे से किन्हीं दो पर्वतों के लिए दिये गये हैं।

शकद्वीप के सात वर्षों के नाम हैं :—१. उदय वर्ष (उदय पर्वत का प्रदेश), २. सुकुमार वर्ष (अपर नाम शैशिर; जलधार पर्वत का प्रदेश), ३. कौमार (अपर नाम सुखोदय; नारद पर्वत का प्रदेश), ४. मणिचक (अपर नाम आनन्दक, श्याम पर्वत का प्रदेश), ५. कुसुमोत्कर (अपर नाम असित, सोमक पर्वत का प्रदेश), ६. मैनाक (क्षेमक भी ख्यात, आम्बिकेय पर्वत का देश), ७. विभ्राज ('ध्रुव' नाम से भी ख्यात; विभ्राज पर्वत का देश)।

शकद्वीप की सात नदियां :—१. सुकुमारी ('मुनितप्ता' भी), २. कुमारी (तपःसिद्धा नाम से भी प्रख्यात), ३. नन्दा (अपर नाम पावनी), ४. शिविका (द्विविधा नाम भी), ५. इक्षु (अपर नाम कुहू), ६. वेणुका (अपर नाम अमृता), ७. सुकृता (अपर नाम गभस्ति)।

शकद्वीप का यह भूगोल 'हिरोदोतस' नामक यूनानी लेखक द्वारा वर्णित शकों के निवास-प्रान्त के भूगोल से बिल्कुल मिलता है। नन्दलाल दे ने अपनी पुस्तक में अनेक पौराणिक नामों की पहिचान इस प्रकार दी है :—

संस्कृत नाम	यूनानीनाम
शकद्वीप	सी दिया
कुमुद	कौमेदेइ
सुकुमार	कोमारोई
जलधार	सलतेरोई
इक्षु	आक्सस नदी
श्यामगिरि	मुस्तामूग (जिसका अर्थ है काला पर्वत और जो अवेस्ता में निर्दिष्ट श्यामक गिरि से भिन्न नहीं है)
सीता	सिर दरिया
मूग	मरगिआना (वर्तमान 'मर्व')
मशक	मस्सगेताइ

शकद्वीपीय जातियाँ

भविष्यपुराण का कथन है कि इस द्वीप में चार जातियाँ निवास करती थीं जो भारत के चतुर्वर्णों की प्रतिनिधि मानी जा सकती हैं :—

तत्र पुण्या जनपदाश्चतुर्वर्णसमन्विताः।
मगाश्च मगगाश्चैव गानगा मन्दगास्तथा॥
मगाः ब्राह्मणभूयिष्ठा मगगाः क्षत्रियाः स्मृताः।
वैश्यास्तु गानगा ज्ञेयाः शूद्रास्तेषां तु मन्दगाः॥

—भविष्य १।१३९

भविष्य के इन वचनों के आधार पर शकद्वीप की जातियाँ चार वर्णों में विभक्त हैं—मग ब्राह्मण हैं, मगग राजन्य क्षत्रिय हैं, गानग वैश्य हैं तथा मन्दग शूद्र हैं। महाभारत में इन लोगों के नाम कुछ भिन्न ही हैं—

तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोक-संमिताः।
मगाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा॥

—महाभारत ६।१२।३३

महाभारत में प्रदत्त इन अभिधानों में आदि तथा अन्त नाम तो मत्स्य-पुराण वाले ही हैं, केवल बीच वाले नाम भिन्न पड़ते हैं। 'मगगा' के स्थान पर 'मशका' पाठ मिलता है तथा गानगा के स्थान पर 'मानसा'। इन चारों नामों के विभिन्न पाठान्तर महाभारत के पूना सं० में दिये गये हैं (क्रिटिकल संस्करण, भाग ७, पृष्ठ ६०)। इन चारों की पहिचान शकदेशीय चार विभिन्न जन-जातियों के साथ बड़ी आसानी से की जा सकती है। 'शक' एक सामुदायिक जातीय अभिधान है जिसके भीतर अनेक जातियां सम्मिलित थीं। प्रथम शती ईस्वी में भारतवर्ष में अपना शासन स्थापित करने वाले कुषाण लोग भी शक जाति से ही मूलतः सम्बद्ध थे। शक लोग एक घुमक्कड जाति के थे जो अपने आरम्भिक जीवन में एक स्थान पर स्थिरतया प्रतिष्ठित न होकर उर्वर भूमि की खोज मे घूमा करते थे। कभी ये मध्य एशिया में भी रहते थे, परन्तु वहाँ से चलकर ये ईरान (फारस) के समीपस्थ कास्पियन (काश्यपीय) सागर के तीरस्थ भूमिखण्ड में निवास करने लगे थे। यूरेशिया द्वीप में एक समय दुनाई नदी (डेन्यूब) से लेकर त्यान्शान्–आल्ताई (पर्वत श्रेणी) तक फैली शक जाति की भूमि ही भारतीय परिभाषा के अनुसार 'शकद्वीप' है, पुराने ईरानी शब्दानुसार इसे 'शकानवेइजा' (शकानां बीजः ?) या पीछे की भाषा के अनुसार **शकस्तान** भी कह सकते हैं, लेकिन ई० पू० द्वितीय शती में शकों के बस जाने के कारण ईरान के पूर्वी भाग को शकस्तान या सीस्तान कहा जाने लगा[१]। काश्यप समुद्र के तीरस्थ प्रदेश को आदि-शकस्तान कहा जाना चाहिए[१]। पुराणों का शक (या शाक ?) द्वीप यही भूभाग है—इसे ही आगे सप्रमाण्य सिद्ध किया गया है।

(क) शाकद्वीप की प्रथम जाति जिसका उल्लेख पुराणों में **मग** (या मक) है। इस शब्द के दो पाठान्तर भी मिलते हैं—सग और मद्। सग तो 'शक' का ही प्राकृत रूपान्तर है तथा मद 'माद' का रूपान्तर है। **माद्** एक ईरानी जाति थी जिसका उल्लेख असुरिया के नवम शती ईस्वी पूर्व के अभिलेखों में प्राप्त होता है। ईरानी ऋत्विज् या पुरोहित की ईरानी संज्ञा है—**मगुस्** और 'मग' इसी शब्द का संस्कृत रूप है। पुराणों में 'मग' की एक व्युत्पत्ति[२] दी गई है—मं मकरं = सूर्यं, गच्छतीति **मगः** अर्थात् सूर्योपासकः। अवेस्ता में

---

१. शकों के रीति-रस्म के बारे में देखिए, राहुल सांकृत्यायन : मध्य एशिया का इतिहास, खण्ड प्रथम (पटना, १९६०) पृ० ६४-७०।

२. मकरो भगवान् देवो भास्करः परिकीर्तितः।
मकारध्यान–योगाच्च मगा ह्येते प्रकीर्तिताः।

—भविष्यपुराण, १३९ अ०

'मगुस्' का प्रयोग कम बतलाया जाता है। इसके स्थान पर अथ्रवन्, एथ्रग या एथ्रपति शब्द का ही बहुल प्रयोग इसके ऋत्विज् अर्थ की ही अभिव्यंजना करता है। यज्ञों में इनका यह कार्य विशेष महत्त्व का था और इसके अतिरिक्त वे अर्थ तथा न्याय के शासन में अधिकारी रूप में भी पाये जाते हैं। यही ईरानी 'मगुस' शब्द यूनानियों के यहाँ 'मगि' या 'मागि' या मेगास के रूप में गृहीत किया गया है। बाइबिल में भी इसका प्रयोग 'पूरब के विद्वज्जन' के अर्थ में किया गया है जो ईसा के जन्म लेने पर महनीय भविष्यवाणी करने के लिए उनके पिता के पास पहुंचे थे। फलतः **'मगाः ब्राह्मणभूयिष्ठाः' मग** लोगों के स्वरूप का यथार्थ प्रमापक वाक्य है।

ये ही मग लोग भारतवर्ष में भी कुषाण राजाओं के संग में आये होंगे—यह मानना ऐतिहासिक दृष्टि से सुसंगत प्रतीत होता है। गरुडपुराण के अनुसार भारतवर्ष में इन्हें लाने का श्रेय श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब को है जिन्होंने अपने कुष्ठ रोग की निवृत्ति के हेतु चन्द्रभागा नदी (चेनाब) के तीर पर सूर्य का मन्दिर बनवाया, परन्तु भारत में उचित पूजारी के न मिलने पर इन ब्राह्मणों को शकद्वीप से गरुड द्वारा बुलवाया और भारत में सूर्य की तान्त्रिक पूजा का तभी अवतार हुआ।

(ख) **गोग** तथा **मगोग** नामक अत्यन्त उग्र आक्रामक शक जातियाँ थीं जिनके आक्रमण के कारण समग्र ईरान प्रदेश भय के कारण थर-थर कांपता था। ये बड़ी क्रूर, अत्याचारी तथा हिंस्र जातियां थीं। इनका उल्लेख यहूदियों के ओल्ड टेस्टामेन्ट (पुरानी बाइबिल) में इन्हीं नामों से तथा कुरान में इन्हीं शब्दों के विकृत रूप याजुज् तथा माजुज नाम से अनेकशः किया गया है। गोग और मगोग यहूदी भाषा के शब्द हैं जिनका अर्थ है 'बाहर की बर्बर जातियाँ'। इन्हीं शब्दों के साथ पुराणों में उल्लिखित 'गानग' या 'गनक' और 'मगग' शब्दों का समीकरण करना कथमपि अनुचित नहीं है। इन भयंकर, घुमन्तू, लडाकू जातियों को शकद्वीप का क्षत्रिय तथा वैश्य जाति मानना भी सर्वथा शोभन है। पुराणों में निर्दिष्ट **मन्दग** 'माद' नामक ईरानी जाति का भारतीय प्रतिनिधि है। ये ईरान से सुदूर पूरब से आने वाले लोग बतलाये जाते हैं। 'माद' लोग ही 'मीडीज' के नाम से यूरोपीय इतिहास में अपनी आक्रमणकारी प्रवृत्तियों के कारण नितान्त विख्यात हैं। हिरोदोतस नामक ग्रीक इतिहासलेखक ने भी शक लोगों में चार जातियों की सत्ता मानी है जो भारतीयों के पूर्वोक्त वर्णन से भली भाँति मेल रखता है।

(ग) कैसपियन सागर के विषय में अधिक जानकारी की जरूरत है। यह आज संसार भर में सबसे विस्तृत, बड़ा अन्तर्देशी समुद्र है, जिसका क्षेत्रफल एक लाख ऊनहत्तर हजार (१,६९,०००) वर्गमील है। किसी प्राचीन युग में यह अपने

से पश्चिम में स्थित कृष्णसागर से आरम्भ होकर साइबेरिया के उत्तरी भाग में फैले हुए आर्कटिक समुद्र तक फैला हुआ था। इस प्रकार यह नितान्त विशाल विस्तृत क्षेत्रफलवाला उन्मुक्त महार्णव था जो उत्तर में फैलने वाले साइबेरिया के घास वाले मैदान (जिसे स्टेपीज के नाम से अंग्रेजी में पुकारते हैं) के ऊपर से होकर बहता था। उस युग में यह एक महासमुद्र था। महान् हिम युग में यह अपने क्षेत्रफल में घटने लगा जिससे कृष्णसागर (पश्चिम) तथा अराल सागर (पूरब) के साथ इसका भौगोलिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। अपनी विशालता के ही कारण यह यूरेशियन भूमध्य सागर (यूरेशियन मेडिटरेनियन) के नाम से विख्यात था। फलतः ऐसे विशाल समुद्र ने शक प्रदेश को उत्तर और पश्चिम की ओर से घेर रखा था,[1] तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? आज इसका पानी खारा ही है, परन्तु प्राचीन युग में इसका पानी बहुत ही मीठा था। इसका प्रमाण यह है कि इस विस्तृत कैस्पियन सागर से पृथक्कृत बालकश झील संसार भर में आज मीठे पानी का विशालतम झील माना जाता है। किसी समय ये दोनों जलाशय एक साथ ही संलग्न थे। और बालकश झील की वर्तमान दशा से हम भली भांति अनुमान कर सकते हैं कि उस युग में कैस्पियन सागर अपने मीठे स्वादिष्ट पानी के लिए प्रख्यात था। इसीलए इसे ईरान वाले 'शीरवान्' नाम से पुकारते थे। पुराणों में वर्णित 'क्षीरसागर' से इसकी पहिचान करना कथमपि अनुचित या अप्रामाणिक नहीं है।

शकद्वीप पुराणों में क्षीरसागर (दूध समुद्र) के द्वारा आवृत बतलाया गया है। साधारण जन तो 'क्षीरसागर' के नाम से चमत्कृत होकर इसे भौगोलिक अभिधान न मान कर केवल काल्पनिक जगत् में इसकी सत्ता मानते हैं; परन्तु तथ्य यह है कि यह वास्तव जगत् का ही एक समुद्र है। 'मार्कोपोलो' नामक सुप्रसिद्ध यात्री ने अपने यात्राविवरण में 'शीरवान' नामक समुद्र की चर्चा की है जो कास्पियन समुद्र से भिन्न नहीं माना जाता। यह शीरवान क्षीरसागर का प्रतिनिधि है। फारसी 'शीर' शब्द संस्कृत 'क्षीर' ही है। इस प्रदेश

---

१. During the pleistocene Ice Age the Caspian flowed over the steppes that stretch away to north and was probably still connected with the Black Sea. After the great ice cap has thawed the Caspian began to shrink in area and simultaneously its connections with the Black Sea and the Sea of Aral were severed.

—Encyclopaedia Britannica Vol. IV. PP. 969.

में क्षीर नदी की कल्पना आज भी जागरूक है। ईरान की एक नदी का भी नाम है—शीरीं तथा रूस के इस भूभाग में प्रवाहित होने वाली 'मोलोकन्या' नामक नदी क्षीरनदी की ही प्रतिनिधि है। इस नदी का नाम रूसी शब्द—'मो–लो–को' से निकला है जिसका अर्थ है दूध और जो अंग्रेजी शब्द 'मिल्क' से भली भांति शब्द-साम्य की दृष्टि से मिलता-जुलता है। पुराणों में उल्लिखित शकद्वीपीय सरिताओं का भी नाम साम्य शक स्थान की नदियों के साथ खोजा जा सकता है। ईरान के पूरबी प्रान्त का नामकरण साइस्तान (या शकस्तान) इन्हीं शकों के निवासस्थान होने के कारण ही माना जाता है। ऐतिहासिकों का कथन है कि ई० पू० प्रथम-द्वितीय शती में इनके उपलब्ध उल्लेखों से पूर्व ही शक इस प्रान्त में मध्य एशिया के **यूचि** लोगों के दबाव के कारण आकर बस गये थे। शकों का प्रभाव अफगानिस्तान के कबीलों की भाषा पर भाषा-शास्त्री अब मानने लगे हैं। पश्तो भाषा की यह विशिष्टता—'द' के स्थान पर 'ल' का परिवर्तन-शक भाषा का ही प्रभाव माना जाता है। फारसी पिदर = पश्तो पिलर (पिता), फारसी दुख़्तर (दुहितर, पुत्री) = पश्तो लुर। यह लकार की प्रवृत्ति शक भाषा की विशिष्टता मानी जाती है।

(घ) शकों में सूर्य की ही मुख्यरूपेण उपासना होती थी जिसे वे **स्वलियु** के नाम से पुकारते थे जिसमें 'र' के स्थान पर 'ल' के साथ शकों के अत्यन्त प्रेम को हटा देने पर 'सूर्य' शब्द साफ दिखाई पड़ता है। शकों के परम पूज्य देवता सूर्य ही थे, इसका परिचय यूनानी ग्रन्थों से ही नहीं चलता; प्रत्युत पुराणों से भी भली भाँति चलता है। विष्णुपुराण का प्रमापक वचन है—

शाकद्वीपे तु तैर्विष्णुः सूर्यरूपधरो मुने
यथोक्तैरिज्यते सम्यक् कर्मभिर्नियतात्मभिः ॥

—विष्णु २।४।७०

शकद्वीप से सूर्योपासक ब्राह्मणों का भारत में आगमन (गरुडपुराण), भारत में शकों जैसे बूटधारी सूर्य प्रतिमाओं का व्यापक प्रसार तथा ईसाई धर्म स्वीकार करने से पूर्व रूसियों की सूर्य में एकान्त भक्ति इस बात की साक्षी है कि शकों के पूज्य देव सूर्य ही थे। यह स्वलियु देव दिवू (द्यौः) पिता और अपिया माता का (द्यावापृथिवी का) पुत्र था।

पुराण ने शकद्वीप की जातियों, नदियों, पर्वतों का कितना यथार्थ भौगोलिक विवरण सुरक्षित रखा है—यह देख कर पुराणों के भुवनविन्यास वाले परिच्छेदों पर हमारी पूर्ण आस्था जमती है। पौराणिक भूगोल के केवल तीन द्वीपों की—जम्बूद्वीप, कुशद्वीप तथा शाकद्वीप–की ही पूरी जानकारी अभी तक

मिलती है। हमारा विश्वास है कि अन्य द्वीप भी काल्पनिक न होकर भौगोलिक तथ्य हैं। इस विषय में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है।[1]

जम्बूद्वीप के नौ वर्ष

जम्बूद्वीप आरम्भ काल में भारतवर्ष का ही सूचक देश था, परन्तु शकों तथा कुषाणों के आगमन से भारतीयों की भौगोलिक दृष्टि विशेषरूप से विस्फारित हुई और उस युग तक बहुत से अज्ञात देश भी भारतीयों की ज्ञान-सीमा के भीतर विराजमान हो गये। ऐसे ही युग में जम्बूद्वीप के नव वर्षों की कल्पना हमारे पुराणकारों ने की जिसमें नवीन भौगोलिक सूचनायें एकत्र कर सुव्यवस्थित बनाई गई हैं। इन वर्षों की जानकारी[2] के लिए इस रेखाचित्र को देखिए।
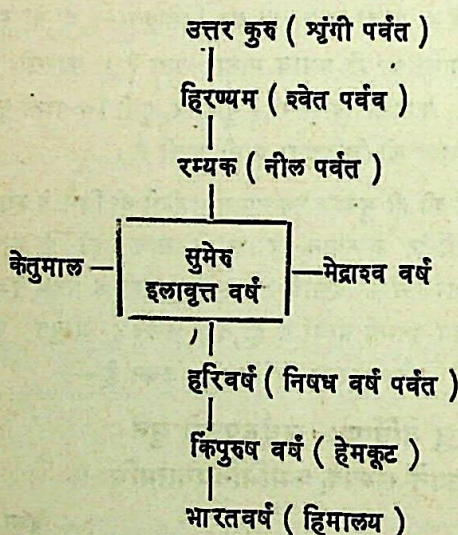
इन नव वर्षों के भीतर भारतवर्ष के बाहरी देशों का भी समावेश अब भारत की विस्तृत सीमा के भीतर किया जाने लगा। इन वर्षों की पहिचान निःसंदिग्ध

१. शकद्वीप के विवरण के लिए द्रष्टव्य डा० बुद्धप्रकाश का सुचिन्तित लेख पुराण पत्रिका (भाग ३, खण्ड २ जुलाई १९६१) पृष्ठ २५३–२८७। इसी के आधार पर हमारा संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया गया है। शकों के विषय में द्रष्टव्य राहुल सांकृत्यायन : मध्य एसिया का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ७४—८० (पटना, १९६०)

२. द्रष्टव्य विष्णुपुराण अंश २, अध्याय २; श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अध्याय १६; देवीभागवत, स्कन्ध ८।

रूप से नहीं की जा सकती। उत्तर कुरु तोलोमी का 'ओत्तोरो कोराई' देश है जो सम्भवतः चीनी तुर्किस्तान की तारिम घाटी को द्योतित करता है। हरिवर्ष सम्भवतः सुग्द (या बोखारा प्रान्त) है जो घोड़ों के लिए सर्वदा प्रसिद्ध था। इलावृत्त वर्ष सम्भवतः इलि नदी की घाटी है जो साइबेरिया के पर्वत से निकल कर बालकश में गिरती है। भद्राश्व सम्भवतः चीन का सूचक है। चीन का जातीय चिह्न है सफेद ड्रेगन। 'ड्रेगन' अंग्रेजी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है अपने मुँह से ज्वाला उद्गीर्ण करने वाला मकर या सर्प जो अक्सर घोटक-मुख— घोड़ा मुँह वाला—बताया जाता है। इसीलिए कल्याणकारी घोटक वाले देश—भद्राश्व— से चीन की पहिचान भली भाँति की जाती है।

केतुमाल चक्षु या वक्षु नदी के द्वारा पहिचाना जा सकता है उससे होकर बहती थी। चक्षु या वक्षु=आक्सस=आमू दरिया जो अराल सागर आज गिरती है और यहीं का भूभाग केतुकाल की संज्ञा से अभिहित था। किंपुरुष वर्ष तो किन्नारों का देश है जो हिमालय प्रान्त का सूचक है। हिरण्मय वर्ष एशिया के 'बदक्शाँ' प्रदेश का द्योतक है जो हीरा, जवाहिरात तथा कीमती धातुओं की खानों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इसी प्रकार रम्यक वर्ष सुदूर पूर्व के रमि या रम्नि टापूओं का सम्भवतः सूचक है। तात्पर्य यह है कि यह समस्त नव वर्षों की कल्पना एशिया के विशाल प्रदेश को ही अपने में गतार्थ नहीं करती, प्रत्युत सुदूर पूरवी प्रदेशों से सम्बन्ध रखती है। इन वर्षों का भौगोलिक विवरण अभी विशेष अनुसंधान की अपेक्षा रखता है[1]।

एशिया की नदियाँ

चतुर्द्वीपी वसुमती की प्राचीन कल्पना में गंगा की चतुर्दिशा में प्रवाहित होने वाली चार धाराओं का समुल्लेख बड़े महत्त्व का है। पहिली धारा **सीता** है, जो पूरब में भद्राश्व से होकर समुद्र में गिरती है, द्वितीय धारा **अलकनन्दा** है जो दक्षिण में भारतवर्ष से होकर दक्षिणी समुद्र में, तृतीय धारा **चक्षु** (या स्वरक्षु) है जो पश्चिम में केतुमाल से होकर पश्चिमी सागर में गिरती है। चतुर्थ धारा **भद्रा** उत्तर कुरु को पारकर उत्तरी समुद्र में गिरती है। इनमें से दो नदियों की पहिचान तो निःसन्दिग्धरूपेण की जा सकती है। अलकनन्दा से तो हम परिचित ही हैं। यही है हमारी गंगा की मूलभूत धारा। चक्षु, स्वरक्षु या वक्षु एक ही नदी के विभिन्न अभिधान हैं जिसे यूनानी आक्सस कहते थे और आज आमू दरिया कहलाती है और पामीर पठार से निकल कर अराल के सागर में गिरती है। सीता तथा भद्रा की पहिचान अभी तक निश्चित नहीं हो सकी है।

१. इन द्वीपों की पहिचान के लिए द्रष्टव्य कृष्णमाचालू : दी क्रैन्डल आव इंडियन हिष्ट्री (अड्यार लाइब्रेरी ग्रन्थ संख्या ५६, १९४७) पृष्ठ ३८-६३

गंगा को सप्त धारा की कल्पना मत्स्यपुराण (आ० १२१।४२) तथा वायु (४७।३७-५१ श्लो०) में जो दी गई है वह भारतीयों के भौगोलिक ज्ञान के विस्तार को सूचित करती है। भारतीयों का ज्यों-ज्यों एशिया के विभिन्न प्रदेशों से आना-जाना शुरु हुआ, उनकी इन देशों के विषय में जानकारी बढ़ने लगी और इन नवीन भौगोलिक जागृति के युग में निबद्ध पुराणों का कलेवर इस अभिनव जानकारी से सर्वतः परिपूर्ण हैं। एशिया की ये सात नदियाँ परिमाण तथा विस्तार क्षेत्र में ही बड़ी नहीं हैं, प्रत्युत इतिहास तथा व्यापार की दृष्टि से उनका विपुल माहात्म्य है। इन सातों नदियों को गंगा की सात धारायें मानना गंगा पर पूज्यबुद्धि रखने वाले भारतीयों की धार्मिक श्रद्धा का एक विलास है। इन सात नदियों में पश्चिम समुद्र में गिरने वाली तीन है तथा पूरबी समुद्र में गिरने वाली भी तीन हैं और इन दोनों के बीच में प्रवाहित होने वाली दक्षिण समुद्र में गिरने वाली एक है। इन नदियों के वर्णन में वायुपुराण का वर्णन बड़ा ही सटीक और यथार्थ है। मत्स्य का वर्णन पाठों की अशुद्धि के कारण विकृत है। इनमें सीता, चक्षु तथा सिन्धु तो पश्चिमी समुद्र में गिरती हैं। चक्षु तो आक्सस का ही नामान्तर है, सीता पूरबी भाग में भद्राश्व वर्ष से होकर गिरने वाली इस नाम से प्रसिद्ध सीता नदी से नितान्त भिन्न है। वायु कहता है कि सीता सिन्धु मरु (विस्तृत रेगिस्तान) को पार कर म्लेच्छ देशों से— चीन, बर्बर, पवन तथा रूषाण आदि से होकर पश्चिमी समुद्र में गिरती है। ये म्लेच्छ जातियाँ एशिया के पश्चिमी भाग में अफगानिस्तान से उत्तर में निवास करती थीं। रूषाण जाति कौन है ? क्या यह रूसी (रशियन) लोगों का संस्कृत नाम तो नहीं है ? सीता की पहिचान सिरदरिया से की जा सकती है, **चक्षु** बड़ी विशाल नदी थी जो चीनमरु (चीनी तुर्कीस्तान), शूलिक (शूले या काशगर) तुषार, बर्बर तथा पारद और शक जातियों के प्रदेश से होकर बहती थी। उत्तरापथ के मुख्य चौरास्ते इसी के प्रान्त में आकर मिलते थे। **सिन्धु** तो हमारी सिन्ध ही जो पंजाब से होकर बहती है। **ह्लादिनी** पूरबी एशिया की कोई विशाल नदी होगी जिसकी पहिचान आज नहीं हो सकती। **नलिनी** सम्भवतः बरमा की इरावदी है जो इन्द्रद्वीप के पास समुद्र में गिरती है। **पावनी** सम्भवतः मेकाङ्ग (माई गंगा) नदी हो जो स्याम के दक्षिण में प्रवाहित होती है। गंगा तो अपनी चिरपरिचित भागीरथी है। ये हैं सभ्यता का विस्तार करने वाली एशिया की सप्त नदियां।

भारतवर्ष

(क) भारतवर्ष नाम पड़ने से पहिले यह देश **अजनाभ** (भाग० ५।७।३) तथा **हैमवत वर्ष** (वायु ३५।५२) के नाम से प्रख्यात था। **हैमवत वर्ष**

नाम का हेतु तो यह है कि इस वर्ष में सीमा विभाजन करने वाला हिमवत् गिरि (हिमालय या हिमाचल) प्रधानरूप से अवस्थित है और वह वर्षपर्वत है। फलतः हिमवत् के द्वारा उत्तर में वेष्टित होने के कारण यह नाम स्वाभाविक रीति से इस देश को दिया गया है। परन्तु अजनाभ अविधान का तात्पर्य बहुत ही गम्भीर तथा अन्तरंग है। 'अजनाभ' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है— अज (अजन्मा भगवान् विष्णु) के नाभि कमल पर स्थित देश। इस शब्द का स्वारस्य यह है कि ब्रह्मा ने भगवान् के नाभि-कमल पर निवास करते हुए जिस प्रथम लोक का निर्माण किया, वही है यह अजनाभ वर्ष। यह शब्द प्रदर्शित कर रहा है कि आदि सृष्टि यहीं अजनाभ वर्ष में ही हुई। मानवों की उत्पत्ति का स्थान यही वर्ष है। मानव सर्वप्रथम यहीं उत्पन्न हुआ और यहीं से भिन्न-भिन्न दिशाओं में फैलकर उसने सभ्यता का विस्तार किया। यह व्युत्पत्ति मनुस्मृति में उपलब्ध इस पद्य की प्रामाणिकता प्रदर्शित करती है—

> एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

फलतः आर्य जाति का मूलस्थान यही भारतवर्ष है; अन्य स्थान से आकर आर्यों ने भारतवर्ष को अपना उपनिवेश बनाया आदि नवीन कल्पनायें सर्वथा अप्रामाणिक हैं। पुराणों में आर्यों के मूलस्थान के विषय में यही सिद्धान्त सर्वतोभावेन मान्य है।

'भारत' नाम की निरुक्ति

भारतवर्ष इस देश का नाम क्योंकर पड़ा ? इस विषय में पुराणों के कथन प्रायः एक समान हैं। केवल मत्स्यपुराण ने इस नाम की निरुक्ति के विषय में एक नया राग अलापा है। 'भरत' से ही 'भारत' बना है, परन्तु भरत कौन था ? इस विषय में मत्स्य मनुष्यों के आदिम जनक मनु को ही प्रजाओं के भरण और रक्षण के कारण 'भरत' संज्ञा दी है—

> भरणात् प्रजानाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
> निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्॥
>
> —मत्स्य ११४।५-६

प्रतीत होता है कि यह प्राचीन निरुक्ति के ऊपर किसी अवान्तर युग की निरुक्ति का आरोप है। प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायम्भुव मनु के पुत्र थे प्रियव्रत जिनके पुत्र थे नाभि। नाभि के पुत्र थे ऋषभ जिनके एकशत पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरत ने पिता का राजसिंहासन प्राप्त किया। और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह प्रदेश 'अजनाभ' से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने

लगा। जो लोग दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर यह नामकरण मानते हैं, वे परम्परा के विरोधी होने से अप्रमाण हैं—

(क) ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्
तस्मात्तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥

—वायु ३३।५१-५२; मार्कं० ५३।३९-४०

(ख) प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायंभुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिः ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥
अवतीर्णं पुत्रशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायण-परायणः
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमुत्तमम्॥

—भाग० ११।१५,१७

(ग) भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितल परिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासन परः पञ्चजनीं विश्वरूप-दुहितरमुपयेमे''
......। अजनाभं नामैतद् वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति।

—भागवत ५।७।१-३

भारतवर्ष का भूगोल दो रीतियों में पुराणों में अभिव्यक्त हुआ है—(क) कार्मुक संस्थान तथा (ख) कूर्म संस्थान। कार्मुक संस्थान से अभिप्राय है कि समग्र भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति कार्मुक अर्थात् धनुष के समान है जिसकी प्रत्यंचा या डोरी स्वयं हिमाचल उत्तर में है तथा जिसका खींचा हुआ दण्ड दक्षिण की ओर फैला हुआ है। कार्मुक संस्थान का निर्देश पुराणों में बहुशः किया गया मिलता है—

दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा[1] गुणाः॥

—मार्कं० ५७।६०

मार्कंण्डेयपुराण ने अपने ५७ अध्याय में इसी संस्थान को लक्ष्य कर भारत-वर्ष के सात कुलपर्वत, नदियों तथा जनपदों की एक विस्तृत सूची दी गई है। पुराणों के भुवनकोशों का यही प्राचीन भूगोल था जो कूर्म (पूर्वार्ध अध्याय

---

१. यही श्लोक ब्रह्म० २७।६५।६६। में उपलब्ध है। ब्रह्म के २७ अ० में भारतवर्ष के पर्वत, नदियों तथा जातियों का विस्तृत विवरण है। अन्त में भारत की उत्कृष्ट महिमा प्रतिपादित है (श्लोक ७१—७८)।

४६), ब्रह्माण्ड (अ० ४९), मत्स्य (अ० ११४), वायु (अ० ४५) और वामन (अ० १३) तथा श्रीमद्भागवत के पञ्चमस्कन्ध (१६-२० अ०) में उपलब्ध होता है। मार्कण्डेयपुराण का वर्णन अनेक दृष्टियों से महत्त्वशाली है। यहाँ सात कुलपर्वतों का तथा उनसे निकलने वाली नदियों का पर्वतों से सम्बद्ध कर सुचारु वर्णन है। साथ में इस देश के विभिन्न भागों के जनपदों का तथा वहां रहने वाली जातियों (जिन्हें 'फिरके' शब्द से सूचित किया जा सकता है) का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। जनपदों की नामावली भारतवर्ष को सात विभागों में बांट कर की गई है। इन विभागों के नाम इस प्रकार हैं—(१) मध्य देश्य, (२) उदीच्य, (३) प्राच्य, (४) दक्षिणापथ, (५) अपरान्त, (६) विन्ध्यपृष्ठ और (७) पर्वताश्रयी।

कूर्म संस्थान—भारतवर्ष में आराध्य देव भगवान् कच्छप हैं। प्रतीत होता है कि इस भावना को आधार मान कर समग्र भारतवर्ष को कच्छप की आकृति माना गया है और कच्छप के भिन्न अंगों के सादृश्य पर भारतवर्ष को नव भागों में विभक्त किया गया है। ये विभाग इस प्रकार हैं—(१) मध्यभाग, (२) मुख, (३) पूर्व-दक्षिणी पैर, (४) दक्षिण कुक्षि, (५) पश्चिम दक्षिणी पैर, (६) पुच्छ या पृष्ठभाग, (७) पश्चिमोत्तरी पैर, (८) उत्तर कुक्षि, (९) पूर्वोत्तरी पैर। इन्हीं नव विभागों में भारतीय जनपदों का विभाजन किया गया है। कूर्म संस्थान का विवरण मार्कण्डेय के ५८वें अध्याय में विस्तार से है। इस प्रकार दो संस्थानों का विवरण एक ही पुराण में एक ही स्थान पर मिलता है— मार्कण्डेयपुराण में। भारतीय जनपदों की इस नवीन सूची को पूर्व अध्याय की प्राचीन सूची से मिलाने पर अनेक नूतन नाम मिलते हैं जो भारतीय इतिहास की बदली हुई परिस्थिति में कुषाण तथा गुप्तकाल में प्रथमबार उपलब्ध मिलते हैं। इतिहासविदों की यही मान्य सम्मति है। इस कूर्मस्थानीय भारत का मुख पूरब की ओर है और इसी दिक्सूत्र को पकड़ कर अन्य अवयवों की आपेक्षिक स्थिति निश्चित की जा सकती है। कूर्मसंस्थान पर आधारित जनपद सूची ज्यौतिषशास्त्र के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है—वराह मिहिर की बृहत्संहिता के नक्षत्र कूर्माध्याय (अ० १४), नरपति जयचर्या नामक ग्रन्थ में तथा पराशरादि मुनियों द्वारा निर्मित प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थों में है।

भारत—कर्मभूमि

पुराणों में भारतवर्ष की प्रकृष्ट प्रशस्ति दी गई है। जो आधुनिक मतवाले भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य के ऊपर देशप्रेम के अभाव का लाञ्छन लगाते हैं, उन्हें पुराणों में दी गई भारत-प्रशस्ति का अनुशीलन करना चाहिए। इस प्रशस्ति की पृष्ठभूमि गुप्त साम्राज्य का सुवर्ण युग माना जा सकता है जब

भारतवर्ष आधिभौतिक, भौतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में समस्त विश्व में अपना प्रतिमान नहीं रखता था और जब इसके पराक्रमी नाविकों ने अगम्य तथा दुर्गम्य उत्तालतरंगमय महार्णव को पार कर पूर्वी द्वीप-पुंजों में—जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलिपाइन्स आदि-आदि में—अपनी सभ्यता की पताका फहराई थी और इन द्वीपों को अपना उपनिवेश बनाया था। उस युग में भारतीयों में एक अदम्य उत्साह था, नाना देशों में अपनी संस्कृति फैलाने की अश्रान्त लिप्सा थी। तभी भारतीयों ने अपने भीतर सुप्त स्वज्योतिः-पुञ्ज का दर्शन किया था तथा उसी की आभा को विश्व के सामने छिटकाया था। इन प्रशस्तियों के अनेक आधार सूत्र हैं—

(क) भारत के समान पृथ्वी का कोई भी देश नहीं है—यह समूचे भूमण्डल में अनुपम और अद्वितीय है।

(ख) भारत स्वर्ग से बढ़कर है और इसीलिए स्वर्गवासी देवगण भारत में मनुष्य के रूप में जन्म लेने को श्रेयस्कर समझते थे।

(ग) मानव जीवन के जितने मंगल तथा कल्याण होते हैं उनके बीच भारत में विद्यमान हैं।

(घ) भारत कर्मभूमि है—अन्य देश भोगभूमि हैं। भारत में सिद्धियां कर्म के वशीभूत होकर फलीभूत होती हैं।

इन तथ्यों को सिद्ध करने वाले कतिपय श्लोक पुराणों से यहां उद्धृत किये जाते हैं:—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
मैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

—(देववचन; भागवत ५।१९।२१)

भारतभूमि कर्मभूमि है तथा स्वर्गभूमि भोगभूमि है—

इस तथ्य की पुष्टि में पुराणों में विशेष महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये गये हैं—

पृथिव्यां भारतं वर्षं कर्मभूमिरुदाहृता।

—(ब्रह्मपुराण २७।२)

जाम्बवे भारतं वर्षं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
कर्मभूमिर्यतः पुत्र तस्मात् तीर्थं तदुच्यते॥

—(तत्रैव ७०।२१)

अभिसंपूजितं यस्मात् भारतं बहुपुण्यदम् ।
कर्मभूमिरतो देवैर्वर्षं तस्मात् प्रकीर्तितम् ॥

—(तत्रैव ७०।२४)

कर्मणस्तु प्रधानत्वमुवाच त्रिपुरान्तकः ।
सर्वकर्मैव नाकर्म प्राणी काप्यत्र विद्यते ।
कर्मैव कारणं यस्माद् अन्यदुन्मत्तचेष्टितम् ॥

—(तत्रैव १४३।८-११)

कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम् ।

—(विष्णु २।३।२)

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ॥

—विष्णु २।३।२२

भारत नाम यद्वर्षं दक्षिणेन मयोदितम् ।
तत् कर्मभूमिर्नान्यत्र संप्राप्तिः पुण्यपापयोः ।
एतत् प्रधानं विज्ञेयं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

—मार्कण्डेय ५५।२१–२२

प्रयाति कर्मभूर्ब्रह्मन् नान्यलोकेषु विद्यते ।

—वही ५७।६२

कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यान्ति सुरालयम् ।

—वनपर्व १८१।३१

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रम् । अन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति ।

—भागवत ५।१७।११

भारतवर्ष के मनुष्य देवों से भी बढ़कर हैं, क्योंकि उनके हाथ में उनका भविष्य है। कर्म के सम्पादन की छूट होने से भारतवर्ष का मानव भोगभूमि स्वर्ग में कर्मफल को भोगने में आसक्त देवताओं से कहीं बढ़ कर है। मानव की श्रेष्ठता की यह स्वीकृति पुराणों की एक महत्त्वशाली देन माना जाना चाहिए :—

(क) देवानामपि विप्रर्षे ! सदा एष मनोरथः ।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ ।
मनुष्यः कुरुते तत्तु यन्न शक्यं सुरासुरैः ॥

—मार्कं० ५७।६३–६४

(ख) अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।
कदाचित् लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात् ॥
—विष्णु २।३।२३

(ग) गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
—वही २।३।२४

(घ) ……धन्याः खलु ते मनुष्याः
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीणाः।
—वही २।३।२६

भारतवर्ष के नवखण्डात्मक विभाजन

भारतवर्ष के नव खण्डों का विभाजन पुराणों में मिलता है। मत्स्य (११४। ७–८) तथा मार्कण्डेय (५७।५) में भारतवर्ष के इन खण्डों की संज्ञा इस प्रकार है—(१) इन्द्रद्वीप, (२) कसेरु (३) ताम्रपर्ण, (४) गभस्तिमान् (५) नागद्वीप, (६) सौम्य, (७) गन्धर्व, (८) वारुण, (९) स्वयं भारत ही :—

भारतस्य च वर्षस्य नव भेदान् निबोधत।
इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागर संवृतः ॥
—(मत्स्य ११४।७–८)

ये ही नाम मार्कण्डेय (अ० ५७) में पुनरावृत्त हैं और एक नई बात का यहाँ अधिक संकेत है कि ये नव विभाग एक दूसरे से समुद्र के द्वारा विभक्त (अन्तरित) थे तथा जमीन के रास्ते से अगम्य थे जहां जाना नितान्त असम्भव था—

समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्।
—मार्कं० ५७।५ = वायु ४५।७८

'अयं तु नवमस्तेषाम्' प्रकट कह रहा है कि इस पुराण का लेखक भारत में ही कहीं बैठ कर लिख रहा है। प्रश्न यह है कि इस नवम भाग का नाम क्या था? राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में इस भाग का नाम कुमारी द्वीप बतलाया है (कुमारी द्वीपश्चायं नवमः)। अन्य पुराणों के लेखकों ने नव

भागों के विवरण देते समय नवम भाग की स्थिति के विषय में मौन ही धारण किया है, परन्तु वामन पुराण के रचयिता को यह श्रेय देना चाहिए कि उसने इस नवम भाग का अभिधान तथा स्वरूप ठीक ठीक दिया है—

अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।
कुमाराख्यः परिख्यातो द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः ॥

—वामन १३।११

वामन पुराण और काव्यमीमांसा के अनुसार यह नवम भाग कुमार द्वीप या कुमारीद्वीप के नाम से प्रख्यात था। इस संज्ञा का हेतु यही था कि यह प्रदेश कुमारी (कन्या कुमारी) से आरम्भ होकर गंगा के प्रवाह तक फैला हुआ था (आयतस्तु कुमारीतो गङ्गायाः प्रवहावधि.[1]—मत्स्य ११४।१०)। फलतः दक्षिण से उत्तर तक फैलने वाले देश का दक्षिण विन्दु था—कुमारी (या कन्या कुमारी) और इसीलिए यह भारत ही स्वयं **कुमारीद्वीप** के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भारतवर्ष के इस नवखण्डात्मक विभाजन का मुख्य कारण गुप्तों के समय में भारतवर्ष का सांस्कृतिक विस्तार था। इसी युग में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का, भाषा तथा साहित्य का, धर्म तथा दर्शन का पूर्वी द्वीपपुंजों में आश्चर्यजनक विस्तार सम्पन्न हुआ। ये सकल द्वीपसमूह भारतवर्ष के भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत तत्र समझे जाने लगे अर्थात् आजकल का बृहत्तर भारत (ग्रेटर इण्डिया) भारतवर्ष का क्षेत्र माना गया, तब मुख्य भारत के लिए किसी नये नाम की खोज की गई और यही नाम था—**कुमारीद्वीप**। वामन पुराण ने स्पष्टतः[2] कहा है कि जिसे अब तक भारत के नाम से पुकारते थे, उसे ही अब कुमारीद्वीप के अभिधान से पुकारने लगे। इस नवीन स्थिति की स्वीकृति सामान्य जनता ने भी दी। जिस परिवर्तित स्थिति का संकेत पुराण के लेखकों ने अपने नाना वचनों में किया, उसको सामान्य जनों ने भी स्वीकार

---

१. आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगा-प्रभवाच्च वै ।
तिर्यगुत्तरविस्तीर्णः सहस्राणि नवैव तु ॥

— वायु ४५।८

२. इमे तवोक्ता विषयाः सुविस्तराद्
द्वीपे कुमारे रजनीचरेश ।
एतेषु देशेषु च देशधर्मान्
सङ्कीर्त्यमानान् शृणु तत्त्वतो हि ॥

—वामन १३।५९

करते विलम्ब नहीं किया। आज भी प्रतिदिन के 'संकल्पवाक्य' में भारतीय जन इस भौगोलिक परिवर्तन के स्वीकरण की सूचना देते हैं :—हरिः ओं तत्सत्। श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे कलियुगे प्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे भारते वर्षे कुमारिकाखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते काशीक्षेत्रे आदि।

इस संकल्प-वाक्य में प्राचीन तथा नवीन भावनाओं का पूर्ण सामञ्जस्य प्रदर्शित किया गया है। 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे' तो प्राचीन भावना का संकेत है जब भरतखण्ड जम्बूद्वीप के साथ अभिन्न अथवा उसका एक विशिष्ट खण्ड माना जाता था। 'भारते वर्षे कुमारिकाखण्डे'—यह नवीन भावना का द्योतक है जब समग्र भारतवर्ष नव खण्डों में विभक्त होकर एक विशाल भौगोलिक ईकाई माना जाता था और मूल भारत 'कुमारिका खण्ड' की आख्या से प्रसिद्ध हो गया था।

भारतवर्ष के समुद्रान्तरित आठ विभागों की वर्तमान स्थिति का आज संकेत मिल सकता है। ये भारत से पूरव की ओर फैलने वाले द्वीपसमूहों के अवयव हैं जिन्हें कालिदास के युग में 'द्वीपान्तर' के नाम से पुकारा जाता था और जहाँ कला, साहित्य, भाषा तथा संस्कृति के क्षेत्र में भारतवर्ष का पुष्कल प्रभाव पड़ा था।

(१) इन्द्रद्वीप = इन्द्रद्युम्न, अंडमन टापू
(२) नागद्वीप = नागवरं = नक्कवरं (चोल-शिलालेख) = निकोबार टापू
(३) ताम्रपर्णी = सिंघल, लंका।
(४) वारुणद्वीप = बोरनियो टापू.
(५) कसेरुमान = मलयद्वीप
(६) गभस्तिमान् = ?
(७) सौम्य = ?
(८) गन्धर्वद्वीप = ?

अन्य पुराणों में भी भारतवर्ष के नव खण्डों का नाम प्रायः एतत्-समान ही है, परन्तु कहीं कहीं कतिपय खण्डों के नाम भिन्न रूप से मिलते हैं। यथा वामन पुराण में ऊपर दी गई सूची के अन्तिम दो नामों के स्थान पर **कटाह** तथा **सिंहल** द्वीप के नाम दिये गये हैं। कटाहद्वीप तो मलय प्रायद्वीप का **केडा** नामक स्थान से अभिन्न है जिसका उल्लेख संस्कृत के कथा - साहित्य में विशेष उपलब्ध होता है और जो कथा-सरित्सागर में **कटकच्छ द्वीप** के अभिधान से निर्दिष्ट किया गया है। **सिंहल द्वीप** तो आजकल का सीलोन या लंका है।

ताम्रपर्ण का भी सिंहल के संग-साथ में उल्लेख इन दोनों के वैभिन्य का द्योतक है। सामान्यतः ताम्रपर्ण वर्तमान लंका की ही संज्ञा माना जाता है, परन्तु सिंहल के साथ एक ही सूची में उल्लिखित होने से यह कोई भिन्न टापू प्रतीत होता है।

कुमारीद्वीप की विभिन्न दिशाओं में स्थित जन-जातियों का भी उल्लेख कम महत्त्व का नहीं है। मत्स्य तथा मार्कण्डेय में कहा गया है कि कुमारीद्वीप की पूर्वोत्तरी सीमा पर **किरातों** का तथा पश्चिमोत्तरी सीमा पर **यवनों** का आवास था। यवनों का यह स्थिति-निर्देश ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। यह सम्भवतः बैक्ट्रिया के यूनानी लोगों का स्पष्ट निर्देश है, जो मूल रूप में चतुर्थ शती ई० पू० में बैक्ट्रिया में निवास करते थे और पिछली शतियों में गन्धार तथा काबुल घाटी में आकर बस गये थे। वामन पुराण के इस विवरण में दो नाम सन्निविष्ट किये गये हैं—दक्षिण में **आन्ध्र** तथा उत्तर में **तुरुष्क**। यह ऐतिहासिक परिस्थिति के परिवर्तन का द्योतक माना जा सकता है प्रथम अथवा द्वितीय शती ईस्वी में, जब आन्ध्र-शातवाहनोंका साम्राज्य दक्षिण में पूरवी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक विस्तीर्ण था तथा उत्तर में तुरुष्क या तुषारदेशीय शक (कुषाण आदि) पेशावर में राज्य कर रहे थे।

कुलपर्वत

पौराणिक भूगोल में पर्वत दो प्रकार के होते हैं—वर्ष पर्वत तथा कुलपर्वत। **वर्षपर्वत** तत्तत् वर्षों के सीमागिरि हैं जो एक वर्ष को दूसरे वर्ष से पृथक् करते हैं। **कुलपर्वत** देश के भीतर उसके प्रान्तों की सीमा बनाते हैं तथा एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से पृथक् करते हैं। कुलपर्वतों की संख्या सात मानी गई है—(१) महेन्द्र, (२) मलय, (३) सह्य, (४) शुक्तिमान् (५) ऋक्ष, (६) विन्ध्य, (७) पारियात्र। इन पर्वतों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है :—

(१) **महेन्द्र**—कलिंग से शुरू होने वाली पूर्वी घाट की पर्वत-शृंखला का नाम **महेन्द्र** है। परशुराम जी इसी पर्वत पर तपस्या करते हुए बतलाये गये हैं। आज भी गंजम के समीप यह महेन्द्रमलै कहलाता है।

(२) **मलय**—दक्षिण भारत का नीलगिरि पर्वत, जहां पूर्वी घाट तथा पश्चिमी घाट की पहाड़ियां एक दूसरे से मिलकर एक बंकिम रेखा के समान आकार धारण करती हैं। इस पर्वत पर चन्दन के वृक्ष बहुतायत से होते हैं और इसी कारण चन्दन 'मलयज' के नाम से विख्यात है।

(३) **सह्य या सह्याद्रि**—उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ पश्चिमी घाट की पर्वत-शृंखला, आज भी जो महाराष्ट्र तथा कोंकण में इसी नाम से पुकारी जाती है।

(४) **शुक्तिमान्**—इसकी वर्तमान स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। सह्याद्रि पर्वत की उत्तरी छोर से कुछ पहिले ही पूर्व की ओर बढ़ने वाली उसकी भुजायें ही इस नाम से संकेतित की गई जान पड़ती हैं जिसमें खानदेश की पहाड़ियों, अजन्टा तथा गोलकुण्डा का पठार भी सम्मिलित मानना चाहिए।

(५) **ऋक्ष पर्वत**—सतपुड़ा पहाड़ियों से आरम्भ होने वाली पर्वत-शृंखला इसका आधुनिक प्रतिनिधि है। ताप्ती तथा वेन गंगा इस पहिचान को पुष्ट करती है। उड़ीसा की ब्राह्मणी और वैतरणी नदियों का उद्गम भी इसी पर्वत से था। मानना पड़ेगा कि यह पर्वत छोटा नागपुर की पहाड़ियों तक फैला हुआ था।

(६) **विन्ध्य पर्वत** तो सुप्रसिद्ध विन्ध्याचल पर्वत है जिसमें शोण (सोन नद), नर्मदा, महानदी, तमसा (टौंस नदी मध्यभारत की) तथा दशार्ण (आजकल की धसान) नदियाँ निकल कर विभिन्न समुद्रों में प्रवाहित होती हैं।

(७) **पारियात्र** = अड़ावली पहाड़ी। इससे निकलने वाली नदियों से इसकी पहिचान की जा सकती है। इस पारियात्र से निकलने वाली नदियों में पर्णास (बनास नदी) चर्मण्वती (चम्बल), मही, पार्वती, वेत्रवती (वेतवा)—ही मुख्य नदियाँ इस पर्वत से निकलती हैं जो इसके पूर्व पहिचान को दृढ़ करती हैं। इन पर्वतों के अतिरिक्त और भी पर्वत पुराणों में दिये गये हैं जैसे मलय, दर्दुर, रैवत, अर्बुद, गोमन्त आदि आदि। हिमाचल वर्षपर्वत होने के नाते कुलपर्वतों की गणना में नहीं आता। इन पर्वतों से निकलने वाली नदियों का नाम मार्कण्डेय में ५७ अध्याय में सुव्यवस्थित रूप से दिया गया है। पुराणों ने भारतवर्ष के भीतर निवास करने वाली जन-जातियो का भी यथार्थ वर्णन किया है जो इतिहास की दृष्टि में विशेष महत्त्व रखता है[1]।

---

१. इन नदियों तथा जातियों तथा देशों के वर्णन के लिए इन ग्रन्थों का अध्ययन उपयोगी है:—

(क) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—मार्कण्डेय पुराणः एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ १४६—१५५

(ख) डा० अग्रवाल—मत्स्यपुराण ए स्टडी पृष्ठ पृ० १८४-२०८

(ग) डा० डी० सी सरकार : स्टडीज इन दी ज्याग्रफी आफ् ऐन्शण्टएण्ड मिथिवल इंडिया पृष्ठ १७—१०९। इस ग्रन्थ में पुराण की नदियों का समग्ररूप से एक तुलनात्मक अध्ययन किया गया है जो महत्त्वशाली है। ५६ देशों तथा जातियों का भी विवरण उसी प्रकार बड़ा ही बढ़िया तथा उपयोगी है।

पुराण की दृष्टि में ब्रह्माण्ड

पुराण की दृष्टि में ब्रह्माण्ड के भीतर चौदह भुवन हैं जो भूतत्त्व से निर्मित हैं। पृथ्वी को ही मुख्य मान कर कह सकते हैं कि छः भुवन उसके ऊपर हैं तथा सात भुवन उसके नीचे हैं जिनको सामान्य रीति से 'पाताल' कहते हैं। इन चौदहो भुवनों की स्थिति इस प्रकार समझनी चाहिए :—

	लोक	स्वर्ग	
ऊर्ध्वलोक[1]	सत्य लोक—	ब्राह्मस्वर्ग; अकृतक त्रैलोक्य (सत्य, तपो, जन लोक)	दिव्य स्वर्ग कृतकाकृतक (सत्य लोक से महर्लोक तक)
	तपो लोक—		
	जन लोक —		
	महर्लोक —	प्राजापत्य स्वर्ग	
	स्वर् लोक —	माहेन्द्र स्वर्ग	कृतक त्रैलोक्य (स्वर् लोक से भू लोक तक)
	भुवर्लोक	भौम स्वर्ग (भुवर्लोक, भू लोक)	
मध्यलोक	भू लोक		
अधोलोक[2]	अतल—	बिल स्वर्ग (अतल से पाताल तक)	
	वितल—		
	सुतल—		
	तलातल—		
	रसातल—		
	महातल—		
	पाताल—		

पाताल लोकों का पुराणनिर्दिष्ट विवरण साधारण विश्वासों से नितान्त भिन्न है। सामान्य जनता का तो यही विश्वास है कि पाताल नितान्त अन्धकार से आच्छन्न, क्लेशमय तथा प्राणी-निवास के सुतरां अयोग्य है; परन्तु पुराणों का प्रामाण्य इस विषय में ठीक इससे विपरीत है। विष्णुपुराण (२।५।५—१२)

(घ) डा० वी० सी० ला—दी हिस्टारिकल ज्याग्रफी आफ ऐनक्षंट इंडिया (१९५४, पैरिस से प्रकाशित)

१ ऊर्ध्वलोकों के वर्णन के लिए द्रष्टव्य विष्णुपुराण द्वितीय अंश, ७ अ०, तथा वायुपुराण ५० अ०।

२. अधोलोकों के वर्णन के लिए द्रष्टव्य विष्णु—२।५; श्रीमद्भागवत ५।२४; वायुपुराण ५० अ० १—४८ श्लो०।

ने महर्षि नारद की अनुभूति को उल्लिखित कर पाताल के विषय में यह कहता है-पाताल तो स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर है। **स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः**[1]। सूर्य तथा चन्द्रमा की वहाँ स्थिति होनेसे वह सर्वथा प्रकाशमय तथा कान्तिमान् होता है—परन्तु एक वैशिष्ट्य के साथ। दिन में सूर्य की किरणें केवल प्रकाश ही करती हैं, परन्तु घाम नहीं करतीं; रात में चन्द्रमा की किरणों से शीत नहीं होता, केवल चांदनी ही फैलती है। वहां के निवासी दैत्य, दानव तथा नागलोक स्वच्छ आभूषण, सुगन्धमय अनुलेपन तथा वेणु—वीणा आदि स्वरयन्त्रों—आदि उदारजनों के द्वारा भोग्य पदार्थों का सेवन करते हैं। भोग-विलास की समग्र सामग्री से सम्पन्न पाताल लोक का निवास मनुष्यों के लिए भी एक स्पृहणीय वस्तु है, गर्हणीय नहीं। वहां भगवान् विष्णु की तामसी तनु जिसका नाम शेष अथवा अनन्त है; निवास करती है। वे अपने फणों की सहस्र मणियों से सम्पूर्ण दिशाओं कों देदीप्यमान करते हुए संसार के कल्याण के समग्र असुरों को वीर्यहीन करते रहते हैं। श्रीमद्भागवत (५।२४।८–१५) ने भी इन्हीं कमनीय शब्दों में पाताल लोकों के ऐश्वर्य, वैभव तथा भोगविलास का वर्णन किया है।[2] विष्णु पुराण की अपेक्षा श्रीमद्भागवत का वर्णन विशिष्टतर है, क्योंकि यह सातों पाताल लोकों में प्रत्येक का वर्णन अलग अलग वैशद्य से करता है। यह वर्णन इतना साङ्गोपाङ्ग है कि इसमें अनुभूति की सत्यता स्पष्टतः झांकती दृष्टिगोचर होती है। इस पाताल की पहिचान क्या किसी भूविशेष से की जा सकती है?

मेरी दृष्टि में पाताल की पहिचान समग्र पश्चिमी गोलार्ध से की जा सकती है जिसे आजकल उत्तरी, मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका के नाम से पुकारते हैं। श्रीमद्भागवत ने 'अतल' नामक पाताल लोक में मय नामक असुर की स्थिति बतलाई है। यह प्रामाण्य बड़ा सारवान् है। मध्य अमेरिका के मुख्य प्रदेश मेक्सिको की प्राचीन संस्कृति **मयसंस्कृति** के नाम से विख्यात है और वहां के निवासी आज भी उस प्राचीन संस्कृति के प्रचुर उपासक हैं। मय था,

---

१. स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः।
प्राह स्वर्गसदोमध्ये पातालेभ्यो गतो दिवम्।

—ब्रह्म २१।५ तथा विष्णु २।५।५

२. तुलना कीजिये महाभारत के तादृश वचन से—

' न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे।
परिवासः सुखस्तादृग् रसातलतले यथा॥

—महाभारत, आरण्यपर्व १०२।१५

बड़े ही अद्भुत महलों का निर्माता असुरों का इञ्जीनियर। मेक्सिको तथा पेरु आदि देशों की समृद्ध शिल्पकला तथा भास्कर्यकला के प्राणवन्त प्रासादों को निरीक्षण कर आधुनिक शिल्पी आश्चर्य-चकित हो उठता है उस प्राचीन युग की इन विशद कलाकृतियों की विस्मयकारिणी समृद्धि तथा सम्पन्नता की सत्ता से। मय असुर माया के लिए भी प्रसिद्ध था और इन स्थानों में आज भी प्राचीन युग के गुप्त महलों में असंख्य धनराशि अभिमन्त्रित कर रखी हुई है। मेक्सिकों[1] का आचार-विचार, रहन-सहन, सिल-बट्टे का प्रयोग, भोजन का प्रकार, चपातियों का दाल तरकारी के साथ खाना—सब कुछ आज भी भारतीय है। फलतः मेरी दृष्टि में समग्र अमेरिका की पाताल से पहिचान करना सर्वथा सत्य, प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक है।

एक बात और भी इस विषय में ध्यान देने योग्य है। वह है वहां का स्थानीय जलवायु। अमेरिका के इस भाग का जलवायु समशीतोष्ण है—न अधिक गरम, और न अधिक ठंढा। पुराणवर्णित सूर्य—चन्द्र के मर्यादित व्यवहार का यह सर्वथा प्रमापक माना जा सकता है। गरमी का कम होना तथा शीत का भी मर्यादित रूप इस पुराण-निर्दिष्ट वैशिष्ट्य का स्पष्टतः द्योतक माना जा सकता है। पुराण का कथन है कि पाताल लोक भारतीयों के लिए अगम्य और अव्यवहार्य नहीं थे, परन्तु वहां से हमारा व्यवहार भी चलता रहा—

सप्तैवमेते कथिता व्यवहार्या रसातलाः।
देवासुरमहानागराक्षसाध्युषिताः सदा॥

—वायु ५० अ०, ५४ श्लो०।

निष्कर्ष यह है कि पाताल का पौराणिक वर्णन कल्पनाप्रसूत न होकर अनुभवाश्रित है। ये सच्चे भूभाग की भौगोलिक इकाई हैं जहां आर्यों का गमनागमन होता था। यह तो भूगोल के पाठकों को अज्ञात नहीं है कि साइबेरिया का पूरवी प्रदेश उत्तरी अमेरिका के अलास्का नामक उत्तरी प्रदेश से किसी समय बिल्कुल ही संलग्न था। फलतः पाताल लोकों में जाने का रास्ता इधर से स्थलमार्ग से भी था; यह मानना अनुमान-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

---

१. मेक्सिको के निवासियों के आचार-विचार के विषय में द्रष्टव्य दीवान चमन लाल रचित 'हिन्दू अमेरिका' नामक अंग्रेजी पुस्तक जिसके बड़े संस्करण में वहाँ की कलाकृतियों के नमूने भी प्रचुरता से दिये गये हैं। संक्षिप्त संस्करण में ग्रन्थकार ने अपने दीर्घकालीन खोजों के आधार पर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। लघुसंस्करण विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित है।

स्पेन के इतिहास से भी इन जातियों में से अन्यतम जाति इन्का लोगों का जो अद्भुत वृत्तान्त मिलता है उससे भी उक्त पहिचान की पुष्टि होती है। इस विषय में दो-चार बातें यहां स्पेनी इतिहास के आधार पर दी जाती हैं :—

सन् १५३३ ईस्वी में दक्षिणी अमेरिका के एक विशाल भूभाग पर जहाँ आजकल पेरु, ईक्वाडोर, चिली और अर्जन्टाइना के कुछ हिस्से हैं वहाँ 'अताहुआल्पा' नामक राजा राज्य करता था। इसके पूर्वज 'इन्का' जाति के सम्राट् थे जिनका सार्वभौम राज्य पूरे देश पर था। उस सम्राट् की राजधानी का विपुल वैभव देख कर आज आश्चर्य होता है, परन्तु बात बिल्कुल ठीक है कि सम्राट् के प्रमुख पथ, और महल की दीवारें सोने के पत्तरों से जड़ी हुई थीं। राजमन्दिर का विस्तृत उद्यान पूरा पक्के सोने का बना हुआ था। सोने के पेड़, सोने के फूल, सोने की पत्तियाँ, सोने की घास, सोने की तितलियाँ सब कुछ सोने का बना हुआ था। हीरे, जवाहिरात तथा सोने का वहां अपार ढेर था जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। लोगों का विश्वास था कि इन्का सम्राट् को सूर्य भगवान् ने लोगों को शासन करने के लिए भेजा है। उनकी आज्ञा देवाज्ञा के समान पवित्र तथा अपरिहार्य मानी जाती थी। पूरे देश में सोने, चांदी, जवाहिरात की इतनी अधिक खानें थी जितनी कल्पना में भी नहीं आ सकतीं। स्पेनी सरदार पिज़ारो ने इस इन्का सम्राट् को कैद कर डाला और अपने आदेश के अनुसार सोना प्राप्त हो जाने पर भी उसने सम्राट् को कैद से नहीं छोड़ा और उसे मार डाला। पिजारो ने मृत राजा के एक व्यक्ति को सम्राट् बना कर, एकत्रित अतुल सुवर्ण राशि को लेकर स्पेन लौट आया। इधर नवीन सम्राट् ने अपने प्राणों को संकटापन्न मानकर अतुल सम्पत्ति के साथ अपने राज्य के भीतर जंगलों में अपनी नयी राजधानी स्थापित की जिसका नाम था विल्काबम्बा और वहीं पर महलों के भीतर धनराशि रखकर उसे तिलिस्म के सहारे बन्द कर दिया। इन तिलिस्मों की कुञ्जी एक रस्सी और रंगीन गाठों में है जिसके संकेत को आज भी कोई समझ नहीं रहा है। उसके पाने के अनेक खोजी साहसी व्यक्तियों ने अश्रान्त परिश्रम किया, परन्तु अभी सफलता उन्हें प्राप्त नहीं हुई। इस उद्योग की कहानी जो कल्पना से भी अधिक चमत्कारजनक है अभी अखबारों में प्रकाशित हुई है।[1]

जिस तिलिस्म का उल्लेख यहाँ ऊपर किया गया है वह आसुरी माया का एक दृष्टान्त है। मय केवल प्रासादों के निर्माण में ही अलौकिक दाक्ष्य नहीं रखते थे, परन्तु विलक्षण माया (या जादू) के भी वे अधीश्वर थे। ऊपर के

१. द्रष्टव्य 'धर्मयुग' नामक साप्ताहिक पत्र (२० सित०, १९६४ का अंक पृष्ठ २५-२६; जहां बहुत से तथ्य एकत्र किये गये हैं)

वर्णन को पाताल के पौराणिक वर्णनों से मिलाने पर विलक्षण समता दृष्टिगोचर होती है। पुराण में उल्लिखित पाताल के वैभव की एक फीकी रेखा इस वर्णन में भी मिलती है। फलतः आसुरी माया से सम्पन्न इन्का लोगों को तथा विशाल प्रासादों के निर्माता एवं मय-संस्कृति के उपासक मेक्सिकन लोगों को पाताल लोक का अधिवासी मानने में किसी प्रकार का अनौचित्य प्रतीत नहीं होता।

मय असुर के विशाल प्रासादों के निर्माता होने की बात भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध है। युधिष्ठिर के राजप्रासाद की रचना मय मे ही की थी जिसके गच को देखने से भ्रम हो जाता था कि वह जल है या स्थल है। मेक्सिकों में मय लोगों के प्रासाद भी इसी नमूने के हैं। इसके विषय में एक विशेषज्ञ[1] की सम्मति यहां उद्धृत की जाती है जिससे मय लोगों की शिल्पकला की प्रक्रिया का परिचय मिल जायगा। भारतीय मय असुर के निर्माण तो केवल पुराणों में वर्णन के विषय हैं, परन्तु मेक्सिको देश के मय लोगों के निर्माण आज भी विद्यमान हैं और अपनी अनुपम कला के द्वारा वे वर्तमान वैज्ञानिक युग के इन्जिनीयरों को भी आश्चर्य-चकित कर रहे हैं।

पाताल लोक में दैत्य, दानव तथा नाग लोगों का निवास है। सबसे निचले लोक—पाताल में नाग लोक हैं जहाँ उसके अधिपति वासुकि, धृतराष्ट्र, धनञ्जय, शंखचूड आदि महाभोग-सम्पन्न नागलोकाधिपति निवास करते हैं जिनके फणों के ऊपर चमकने वाली मणियों से उस लोक का अन्धकार सद्यः

---

१. When one wanders through the great Maya Cities, One feels convinced that the Maya architects could not have accomplished such master pieces as the great-temples of Tokal or the charming temples of Sun, the Cross, and the foliated cross at Palenque, nor the house of the Governer and the nunnery at Uxmal, without first having laid out careful ground plans and having drawn up elevations and made sketches for the design. They must have made estimates of the amount of stones with or without design to be ordred from the stone cutters and roughly calculated how many zapote-wood beams would be needed for their door ways.

—Frans Blom

'हिन्दू अमेरिका' पृ० २१२ (तृतीय सं०) पर उद्धृत।

विदूरित किया जाता है' (भाग० ५।२४।३१)। भागवत के इस कथन के साक्ष्य पर पाताल लोक में नागलोगों का निवास सर्वथा समर्थित तथा प्रमाण-पुरःसर है। मेक्सिको तथा पेरु में नाग लोगों का निवास था—यह वहां के इतिहास से समर्थित है। नागपूजा भी उस देश में प्रचलित थी। वोटन[१] नामक उस देश का प्रथम ऐतिहासिक जिसने उस जाति के उद्गम के विषय में एक ग्रन्थ लिखा है अपने को उस ग्रन्थ में नाग बतलाता है तथा वहां के देशी निवासियों को 'नाग' की संज्ञा देता है—पुराण का पूर्वोक्त वर्णन मध्य तथा दक्षिण अमेरिका में अक्षरशः चरितार्थ होता है। इतना ही नहीं; मेक्सिको के अन्तिम शासक जो **अजटेक** के नाम से पुकारे जाते हैं नागदेवता के पूजक थे और बहुत सम्भव है कि यह शब्द **आस्तीक** से ही उद्भूत हुआ है। यह नाम उस ऋषि का है जिन्होंने अपने बुद्धि वैभव से जनमेजय के नाग यज्ञ में सर्वाहुति होने से नागों को बचाया था[3]। नाग के उपासक 'अजटेक' जाति का नामकरण नागों के उद्धारक तथा संरक्षक आस्तीक ऋषि के नाम पर पड़ा हो—यह कथमपि असम्भाव्य नहीं है।

मेक्सिको—पेरु आदि अमेरिकन देशों का धनवैभव, सोने से जड़ा हुआ महल तथा सड़कें इस बात का प्रत्यक्ष दृष्टान्त है कि ये देश नितान्त समृद्ध तथा

---

१. Votan was the first historian of his people and wrote a book on the origin of the race, in which he declars himself a snake (Naga), a descandant of Imos, of the line of chan, of the race of chivim".......The intercsting fact emrges that there was a snake people in America as there are Nāga people in India.

२. Votan is Said to havc returned to Paieque, where he found that several more of the natives had arrived. There he recogrised as Snakes (Nages) and showed them many favours.

—Maekenyie : myths of pre-columbian America P. 265 quoted in Hindu America P. 13.

३. आस्तीक का चरित महाभारत के आस्तीक पर्व में वर्णित है जो आदि-पर्व का एक अवान्तर पर्व १३ अध्याय से लेकर ५८ अ० तक फैला हुआ है। ये यायावर कुल के जरत्कारु ऋषि के पुत्र थे। नागराज वासुकि के भवन में इनका पोषण हुआ और उसी के प्रत्युपकार में इन्होंने जनमेजय द्वारा उत्पीडित नागों को बचाया था (आदिपर्व, ५८ अ०)।

धन दौलत से भरे-पूरे थे। इन सब प्रमाणों को एकत्र करने से हम इस निःसंदिग्ध निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अमेरिका, विशेषतः मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका, पुराणों में बहुशः वर्णित अतुल धन-सम्पत्ति शाली पाताल लोक से भिन्न नहीं है। दोनों के सादृश्य-प्रतिपादक अन्य प्रमाणों का भी अध्ययन तथा अनुशीलन अभी भी करने योग्य है।

पुराण साहित्य में चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड का परिचय मिलता है जिसका एक संक्षिप्त ऊपर दिया गया है। भूलोक से लेकर सत्यलोक समग्र भूलोक और नीचे के अधोभुवन सप्त प्रकार पाताल आदि इसी के अन्तर्गत है। इसी ब्रह्माण्ड का ज्ञाता व्यक्ति शास्त्रों में **'पुराणविद्'** के नाम से प्रख्यात है। परन्तु आगमो से पता चलता है कि इससे भी विस्तृत तथा विशाल ब्रह्माण्डों की सत्ता विद्यमान है। तथ्य यह है कि केवल पृथ्वीतत्त्व के अन्तर्गत भुवनों की गणना पुराणों में है और उन भुवनों की समष्टि का नाम **ब्रह्माण्ड** की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। परन्तु तन्त्रों की दृष्टि में इस ब्रह्माण्ड के बाहर तथा इससे और भी विशाल अण्डों की सत्ता विद्यमान है। ब्रह्माण्ड संख्या में असंख्य हैं, परन्तु इस ब्रह्माण्ड से भी बाहर ब्रह्माण्ड से भिन्न एक अण्ड है जो **प्रकृत्यण्ड** के नाम से प्रख्यात है। यह जल तत्त्व से लेकर प्रकृति तत्त्व तक के तेइस (२३) तत्त्वों की समष्टि से बनता है। यह भी स्वयं असंख्य है। प्रकृत्यण्ड से भी ऊपर तद्भिन्न एक अन्य अण्ड है जो **मायाण्ड** के नाम से विख्यात हैं। पुरुष-नियति काल-राग-विद्या-कला तथा माया—इन सात तत्त्वों की समष्टि से निर्मित अण्ड को 'मायाण्ड' कहते हैं। एक एक मायाण्ड के भीतर असंख्य प्रकृत्यण्ड होते हैं। यह मायाण्ड पुरुष से लेकर पञ्चकञ्चुक और उनकी कारणरूपा माया से बना है। माया से बाहर ज्योतिर्मय शुद्ध सत्त्वात्मक अण्ड है जो **शाक्ताण्ड** के नाम से प्रख्यात है। यह विद्यातत्त्वों की समष्टि से बना है अर्थात् इस अण्ड के भीतर शुद्ध विद्या, ईश्वर तथा सदाशिव तत्त्वों की समष्टि विद्यमान रहती है। इन अण्डों के अधिष्ठाता पुरुषों की भी तन्त्रों में कल्पना है ब्रह्माण्ड (या पार्थिवाण्ड) के अधिष्ठाता ब्रह्मा है; प्रकृत्यण्ड के अधिष्ठाता विष्णु हैं; मायाण्ड के अधिष्ठाता रुद्र हैं। यहाँ तक तो रहता है माया का राज्य। अब इससे आगे आरम्भ होती है शुद्धसत्त्वात्मक सृष्टि। और इसीलिए शाक्ताण्ड के अधिष्ठाता हैं ईश्वर और सदाशिव। ईश्वर और सदाशिव तिरोधान और अनुग्रह शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर के ही दो कार्यानुरूप आधिकारिक नाम हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव — इन पाँचों अधिकारी पुरुषों को तन्त्रों में 'पंच कारण' कहते हैं विश्व के समस्त व्यापारों में अपने विशिष्ट अधिकार के अनुसार इन्हीं का प्राधान्य रहता है।

इस प्रकार तान्त्रिक साहित्यमें वर्णित अण्डों से पौराणिक अण्ड (या ब्रह्माण्ड) की तुलना करने पर यह बहुत ही छोटा लघु स्थान को आवृत करने वाला प्रतीत होता है। इतने पर भी वह स्वयं अनन्त तथा असंख्य है। तान्त्रिक अण्डों को ध्यान में लेने पर इस महाब्रह्माण्ड की विशालता तथा असंख्यता मानव बुद्धि से अगोचर की वस्तु ठहरती है[1]।

१. इस गम्भीर विषय को यथार्थता से समझने के लिए देखिये म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज जी के दोनों मौलिक पुस्तक—

(क) 'तान्त्रिक वाङ्मयमें शाक्त दृष्टि' पृष्ठ १३८–१५४

(ख) भारतीय संस्कृति और साधना पृष्ठ २८६–२८७

(प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, विक्रमाब्द २०२०) ऊपर का संक्षिप्त विवरण इन्हीं दोनों ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। लेखक इसके लिए कविराज जी का विशेष अनुग्रह मानता है।
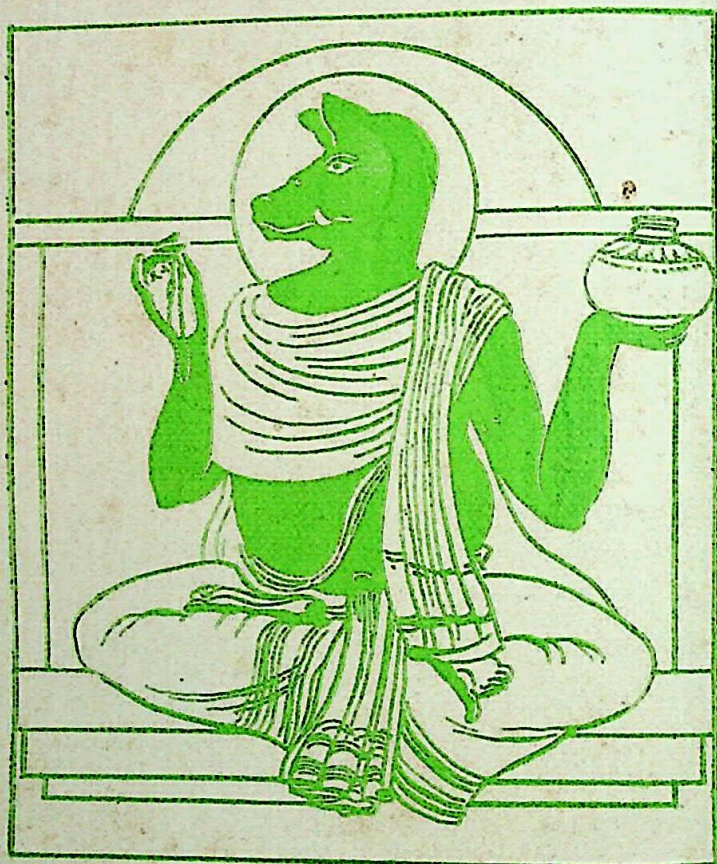
इतिहासः कुशाभासः सूकरास्यो महोदरः ।
अक्षसूत्रं घटं बिभ्रत्कुङ्कुमाभरणान्वितः ॥

दशम परिच्छेद

पौराणिक वंशवृत्त

अनुश्रुतिगम्य इतिहास की सत्यता

पुराणों में अनुश्रुति के आधार पर इतिहास का वर्णन किया गया है। इस इतिहास की सत्यता की जाँच इतर प्रामाणिक शिलालेखों तथा मुद्राओं के द्वारा सिद्ध होती है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल आदि अनेक विद्वानों ने पौराणिक अनुश्रुति की पर्याप्त परीक्षा कर यह परिणाम निकाला है कि ये वास्तविक रूप से सत्य हैं। इधर डा० मिराशी ने इस सत्यता के कतिपय दृष्टान्त प्रस्तुत किया है[1]। उनके द्वारा पढ़े गये मुद्रालेखों से पुराणगत अनेक राजचरितों की सत्यता प्रमाणित होती है। वाकाटकों के विषय में वायु तथा ब्रह्माण्ड में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है जिसकी सत्यता ताम्रपत्रों से सिद्ध होती है। पुराण राजा विन्ध्यशक्ति के पुत्र का नाम 'प्रवीर' बतलाता है, जो प्रवरसेन प्रथम ही प्रतीत होता है। उसके द्वारा वाजपेय तथा अश्वमेध के अनुष्ठान का पौराणिक निर्देश वाकाटकों के ताम्रपत्रों से प्रामाणिक सिद्ध होता है। उसके चार पुत्रों का पौराणिक उल्लेख भी सत्य ही प्रतीत होता है। यद्यपि उसके एक ही पुत्र (गौतमीपुत्र) होने की बात प्रचलित थी, परन्तु मुद्राओं के द्वारा उसके द्वितीय पुत्र सर्वसेन की सत्ता भी पौराणिक उल्लेख को सत्य सिद्ध कर रही है। बहुत सम्भव है कि उसके अन्य दो पुत्रों के विषय में ऐतिहासिक सामग्री भविष्य में उपलब्ध हो। आन्ध्रों के विषय में भी पौराणिक अनुश्रुति प्रामाणिक सिद्ध हो रही है। पुराणों में पुलोमा वाशिष्ठीपुत्र नामक आन्ध्र राजा निर्दिष्ट है (पार्जिटर की सूची में ३४ वां नाम)। वायुपुराण के एक हस्तलेख में इस राजा के पुत्र 'शातकर्णि' का उल्लेख मिलता है, जो अन्य पुराणों में न मिलने के कारण सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था; परन्तु कन्हेरी शिलालेख में इस राजा का 'शातकर्णि वाशिष्ठीपुत्र' नाम उल्लिखित हुआ है जो पुराण के साक्ष्य को प्रमाणित करता है। इसकी रानी महाक्षत्रप रुद्रदामन् की पुत्री थी। इस घटना से पुराण का कथन सत्य सिद्ध होता है। आन्ध्रों के उत्तराधिकारियों में 'मान' नामक शक राजा का उल्लेख पुराणों में

---

१. द्रष्टव्य मिराशी का लेख पुराणम् (काशिराज निधिद्वारा प्रकाशित, रामनगर, वाराणसी) भाग १ संख्या १, पृष्ठ ३१–३८।

मिलता है। इस तथ्य की पुष्टि इसी राजा की मुद्रा से अभी हुई है जो हैदराबाद के दक्षिण से प्राप्त हुई है। यह 'महिष्य' देश का शासक था, जो दक्षिणभारत का एक छोटा प्रान्त विशेष था। शिशुनाग, नन्द, शुंग, कण्व, आन्ध्र तथा आन्ध्र-भृत्य, मित्र, नागवंशी राजाओं की समग्र ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि पुराणों की देन है। यह विषय इतना विख्यात है कि आज इसे पुष्ट तथा प्रमाणित करने के निमित्त उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है[1]।

पुराणों की अनुश्रुति में सम्भव है कहीं कहीं गड़बड़ी हो तथा घटनायें आपस में मिश्रित कर दी गई हों, परन्तु सूतों ने राजाओं की वंशावली को बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखा है। इन वंशावलियों में एक नाम वाले अनेक राजा हुए हैं। इन नामों में अशुद्धि की सम्भावना को दूर करने के लिए पुराणों में ऐसे नामों का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है। यथा नल नामक दो राजा हुए—एक तो थे नैषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र तथा दूसरे थे इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न। **मरुत्त** नामक दो राजा हुए-- करन्धम के पुत्र तथा दूसरे अविक्षित् के पुत्र जो प्राचीन काल में एक महान् नरेश गिने जाते थे और जिनके महाभिषेक का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंचिका में किया गया है। इसी प्रकार ऋक्ष, परीक्षित तथा जनमेजय दो-दो हुए तथा भीमसेन तीन हुए[2]।

इतनी सचाई से किया गया यह उल्लेख लेखक के ऐतिहासिक यथार्थ-ज्ञान का पूर्ण परिचय कराता है।

---

१. द्रष्टव्य पार्जीटर का बहुमूल्य ग्रन्थ—एन्शयेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति) लंडन, १९२२; । इसकी पुष्टि में जयचन्द विद्यालंकार ने दो नई युक्तियाँ दी हैं जिनके लिये देखिये उनका ग्रन्थ भारतीय इतिहास की रूपरेखा जिल्द १, पृष्ठ २३७-२३९ प्रथम सं० हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, प्रयाग, १९३३।

२. नलौ द्वाविति विख्यातौ पुराणेषु दृढव्रतौ
वीरसेनात्मजश्चैव यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्वहः ॥

—वायु ८३।१७४-७५; ब्रह्माण्ड २।६३।१७४, लिंग ६६।२४-२५

करन्धमस्तु त्रैसानोर्मरुत्तस्तस्य चात्मजः
अन्यस्त्वाविक्षितो राजा मरुत्तः कथितः पुरा ॥

— वायु ९९।२; मत्स्य ४८।२; ब्रह्म १३।१४३; ब्रह्माण्ड २।७४।२

द्वावृक्षौ सोमवंशेऽस्मिन् द्वावेव च परीक्षितौ
भीमसेनाख्यो विप्रा द्वौ चापि जनमेजयौ ॥

—ब्रह्म १३।११२-३; हरिवंश १।३२।४-५

पार्जीटर ने इस अनुश्रुति के प्रामाण्य की सिद्धि में अनेक प्रमाण तथा युक्तियाँ दी हैं जो प्रायः प्रसिद्ध होने से यहाँ दुहराई नहीं जाती। आज पौराणिक अनुश्रुति की सत्यता पर कोई अविश्वास नहीं करता। तथ्य तो यह है कि पौराणिक अनुश्रुति इतनी तथ्यपूर्ण है कि यदि शिलालेखों, ताम्रपत्रों अथवा मुद्राओं के आधार पर अब तक उसकी पुष्टि नहीं हुई, तो यह असम्भव नहीं है कि भविष्य की खोजों से उसकी पुष्टि न हो सके। इतना अवश्य है कि वह अनुश्रुति अधिक साक्ष्य के ऊपर आधारित होनी चाहिए।

पार्जीटर इस विषय के उन्नायक नेता हैं जिनके महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ—एन्श्येंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति) ने पुराणों के अन्तरंग ऐतिहासिक महत्त्व को विद्वानों के सामने प्रमाणभूत तथा यथार्थ सिद्ध किया। परन्तु उनके अनेक सिद्धान्त सिद्धान्ताभास न होकर वस्तुतः अपसिद्धान्त ही हैं। ऐसा ही एक अपसिद्धान्त है—प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति का ब्राह्मण तथा क्षत्रिय श्रेणी में विभाजन, क्षत्रिय अनुश्रुति की यथार्थता तथा ब्राह्मणों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव आदि[1]। पार्जीटर ने ब्राह्मणों को खूब कोसा है अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ में। ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव होना उनका कोई अपराध नहीं हैं, परन्तु पार्जीटर ने यह विशिष्ट दोषारोपण किया है कि ब्राह्मणों ने जानबूझ कर प्राचीन इतिहास को अपने क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि के लिए विकृत किया है, तो यह धोखा देना ब्राह्मणों का महान् अपराध सिद्ध होता है, यदि यह सच्चा प्रमाणित हो जाय। तथ्य तो यह है कि अंग्रेज शासकों का ब्राह्मणवर्ग पर धोखा देने का अपराध लगाना स्वयं स्वार्थ की पराकाष्ठा है। भारतीय विद्वान् भी ब्राह्मणों के महत्त्व को ठीक ठीक नहीं आँकते या नहीं आँक सकते—यही तो समस्या को गम्भीर बनाता है।

ब्राह्मण का महत्त्व

वर्णव्यवस्था में सर्वोच्च स्थान ब्राह्मण का है। ब्राह्मण का अस्तित्व ही हिन्दूसमाज का अस्तित्व है और इसके नाश से इस समाज का भी नाश अनिवार्य है। 'महाभारत' में 'युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः' इत्यादि कहकर अन्त में 'मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च' कहा गया है। क्यों ब्राह्मण को मूल कहा गया? ब्राह्मण का महत्त्व क्या है? इसे यथार्थ रूप से समझना चाहिये।

---

१. इस दोषारोपण का थोड़ा उत्तर जयचन्द विद्यालङ्कार ने तथा काणे महोदय ने अपने ग्रन्थों में दिया है। द्रष्टव्य भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रथम जिल्द, पृष्ठ २४०–२४७ तथा हिष्ट्री आव धर्मशास्त्र पंचम जिल्द, भाग २, पृष्ठ ८४५–८४९। पूना १९६३।

भारतीय समाज में ब्राह्मण की मुख्यता औपचारिक नहीं, प्रत्युत वास्तविक है। ऋग्वेद के उस सुप्रसिद्ध मन्त्र में चतुर्वर्णों के उद्गम का वर्णन सर्वप्रथम किया गया मिलता है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' अर्थात् उस विराट् पुरुष का ब्राह्मण मुख था। इस वाक्य के अनुशीलन से हम ब्राह्मण के स्वरूप तथा शक्ति का संकेत पा सकते हैं। शरीर में मुख की महत्ता निःसन्देह सिद्ध है। इसी प्रकार इस समाज-व्यवस्था में ब्राह्मण की महत्ता सर्वातिशायिनी है। मुख से उत्पन्न होने के कारण अथवा मुखरूप होने के हेतु ब्राह्मण की मुख्यता वास्तविक है। ब्राह्मण इस समाज का मस्तिष्क है। सोचने का, विचारने का, विषम स्थिति को सुलझाने का तथा प्रगति के लिए अग्रसर होने के निमित्त उपदेश देने का काम ब्राह्मण के लिए स्वाभाविक है। ब्राह्मण के 'स्वकर्म' या स्वधर्म' का वर्णन स्मृति में बड़े संक्षेप में इस सुन्दर पद्य में किया गया है—

"अध्यापनं अध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चेति ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥"

अध्ययन तथा अध्यापन, यज्ञ करना तथा कराना (यजन तथा याजन), दान देना तथा दूसरों से दान लेना (प्रतिग्रह)—ये ब्राह्मण के षट् कर्म स्वभावज कर्म' बतलाये गये हैं। इस श्लोक पर ध्यान देने से ब्राह्मण के स्वरूप का भलीभांति परिचय मिल सकता है। समाज के नेतृत्व का भार ब्राह्मणों के ऊपर जन्मजात है। शिक्षित व्यक्ति ही समाज का नेता बन सकता है। अतएव स्वयं वेदशास्त्रों का अध्ययन कर जनता में उनके सिद्धान्तों का अध्यापन तथा प्रचारण करना ब्राह्मण का मुख्य कर्म माना जाता है। अध्ययन तथा अध्यापन के बीच की दो आवश्यक श्रेणियां होती हैं—बोध तथा आचरण। अध्ययन करने के अनन्तर उसके सिद्धान्तों का बोध (ज्ञान) करना नितान्त आवश्यक होता है। तदनन्तर उस तथ्य का आचरण अपने जीवन में करना पड़ता है अर्थात् जिन सिद्धान्तों का अध्ययन के द्वारा सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है तथा मनन के द्वारा जिनका विशिष्ट ज्ञान (बोध) उपलब्ध होता है, उन सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने की भी बड़ी आवश्यकता होती है और तभी उनका प्रचारण भी भलीभांति उचित रीति से किया जा सकता है। ब्राह्मण क लिए अधीति (अध्ययन), बोध, आचरण तथा प्रचारण इन चारों वस्तुओं की आवश्यकता होती है और प्रत्येक विद्या को इन चारों प्रकारों के द्वारा अभ्यास करने के बाद ही ब्राह्मण सच्चा अध्यापक बनता था तथा देश एवं राष्ट्र की उन्नति में अपना जीवन खपा डालता था।

ब्राह्मण अपने 'ब्रह्मकोष' की गुप्ति (रक्षा) के निमित्त सर्वदा जागरूक रहा। वह जिस किसी को अपनी विद्या देने या अध्यापन करने से सदा पराङ्-

मुख था। अधिकारी को ही विद्या का दान देना उसका व्रत था। ब्राह्मण अपनी विद्या को एक बहुमूल्य धरोहर के रूप में समझता था और इसलिए उसकी अक्षुण्णता बनाये रखने के साथ ही साथ वह उसकी पवित्रता पर भी विशेष आग्रह करता था। अनभिज्ञ आलोचकों की यह आलोचना है कि 'ब्राह्मण विद्या के वितरण में सदा कृपणता का व्यवहार करता था,' परन्तु वस्तुस्थिति कुछ भिन्न ही है। ब्राह्मण कभी नहीं चाहता था कि उसकी विद्या किसी अपात्र के हाथ में चली जाय और इसीलिए वह पात्रापात्र पर, उचित व्यक्ति तथा अनुचित व्यक्ति के गुण तथा अगुण पर कड़ी दृष्टि रखता था। जब शिष्य परीक्षा के द्वारा सुपात्र सिद्ध हो जाता था, तभी उसे विद्या दी जाती थी। इस घटना से ब्राह्मण के कार्पण्य का परिचय नहीं मिलता, प्रत्युत विद्या की धारा को पवित्र तथा विशुद्ध बनाये रखने की उसकी तीव्र कामना का ही सङ्केत मिलता है। शास्त्रों के अध्यापन के अवसर पर भले ही यह निश्चय कुछ शिथिल दीखता हो, परन्तु वेदों के अध्यापन के समय तो इस नियम का निर्वाह बड़ी कड़ाई के साथ किया जाता था। शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार न होने का कारण इसी व्यापक नियम के भीतर छिपा हुआ है। इसका ऐतिहासिक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है। वारेन हेस्टिङ्ग्स के समय में बड़े न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने ब्राह्मण संस्कृतज्ञ से संस्कृत पढ़ने के लिए बड़ा ही उद्योग किया, आकाश-पाताल एक कर डाला, परन्तु कोई भी ऐसा ब्राह्मण नहीं निकला, जो अपनी निधि को एक गोमांसाशी विधर्मी को देने के लिए तैयार होता। अन्ततोगत्वा एक कायस्थ बङ्गाली संस्कृतज्ञ ने जोन्स साहब को संस्कृत का अध्यापन कराया, परन्तु वह भी बड़े नियमों के साथ। हम पिछले इतिहास से जानते हैं कि अंग्रेजों को संस्कृत पढ़ाने का क्या फल हुआ और इन विधर्मियों ने संस्कृत के ज्ञान का कितना उपयोग किया। उसे इन्होंने अपने ईसाई धर्म के प्रचार का मुख्य साधन बनाया और देश का घोर अमङ्गल किया। ऐसी परिस्थिति में विद्यादान के विषय में ब्राह्मण का सर्वथा जागरूक रहना क्या उसकी तीव्र कामना का प्रतिफल नहीं है ?

सच्ची बात तो यह है कि अध्यापन तथा प्रचारण के लिए त्याग तथा तपस्या की विशेष आवश्यकता होती है और इसलिए ब्राह्मण त्याग तथा तपस्या का प्रतीक था। शरीर के क्लेशों पर तनिक भी ध्यान न देकर घनघोर उग्र तपस्या का आदर्श ब्राह्मण के लिए सर्वदा जागरूक था। इसलिए 'भागवत' का स्पष्ट उपदेश है—

> "ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
> कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥"

ब्राह्मण का शरीर संसारके भोग-विलास जैसे क्षुद्र काम के लिए नहीं बनाया गया है। उसके सामने दो ही आदर्श होते हैं—(१) कठिन व्रतों तथा तपस्या का आचरण तथा (२) मर जाने पर अनन्त सुख—मोक्ष—की प्राप्ति। इस छोटे से पद्य में भागवतकार ने ब्राह्मण के जीवन के आदर्श को बड़े ही संक्षेप में बतलाया है। तपस्या त्याग के विना कभी भी सिद्धिदायिनी नहीं हो सकती। फलतः त्याग तथा तपस्या के आचरण से ब्राह्मण में वह ब्रह्मवर्चस उत्पन्न होता था, जिसके सामने प्रबलप्रतापी दुर्दान्त राजन्यों के भी मस्तक स्वयमेव नत हो जाते थे। ब्राह्मण के त्याग की अद्भुत कहानियां इतिहास के पृष्ठों को आज भी सुशोभित करती हैं। कालिदास के समय में वरतन्तु के शिष्य कौत्स ने अपनी जिस त्यागवृत्ति का परिचय दिया था, उसे इस महाकवि ने 'रघुवंश' के पंचम सर्ग में अपनी प्रतिभा के बल पर उज्ज्वल रूप प्रदान किया है। इसी त्याग-तपस्या की उपासना से ब्राह्मण जगत् के वैषयिक सुखों पर लात मारकर, स्वयं भिक्षुक बनकर जीवनयापन करना उचित समझता था तथा राजन्यों को सिंहासन पर बैठाकर स्वयं उनका मन्त्री बनना ही राष्ट्रहित के लिए श्रेयस्कर समझता था।

साधारणतया आजकल यही समझा जा रहा है कि 'ब्राह्मण राष्ट्र का अध्यात्मोपदेशक ही होता था, ब्राह्मण का जीवन अध्यात्म के चिन्तन में ही व्यतीत होता था तथा इहलोक की अपेक्षा उसे परलोक की ही अधिक चिन्ता होती थी।' परन्तु सच्ची बात इसके विपरीत है। ब्राह्मण सचमुच राष्ट्र का, भारतीय राष्ट्र का उन्नायक तथा नेता होता था और वह राष्ट्र का आध्यात्मिक अथवा धार्मिक नेता होने के अतिरिक्त व्यावहारिक विषयों का भी उपदेष्टा होता था। ब्राह्मण राजा का पुरोहित होता था और यह 'पुरोहित' पद उसके अध्यात्म-चिन्तन का परिणाम न होकर उसके व्यवहारकौशल का प्रतीक होता था। मनु की कल्पना के अनुसार क्षात्रतेज से संवलित ब्राह्मतेज का संयोग पवन तथा अग्नि के समागम के समान ही लाभकारी तथा राष्ट्रमङ्गल का साधक होता है। कालिदास ने ठीक ही कहा है—

"पवनाग्निसमागमो ह्ययं ज्वलितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा।"

इस कथन का साक्ष्य भारतीय इतिहास भलीभाँति दे रहा है। राष्ट्र के ऊपर विपत्ति आने पर ब्राह्मण अपनी व्यवहारकुशलता तथा राजनीतिपटुता के कारण देश का हितसाधन करता था तथा अपने उपदेशों के अनुसार वह एक महनीय राजन्यविभूति के उद्गम में समर्थ होता था। भारतीय राष्ट्र को विधर्मी शत्रुओं से बचाने का समग्र श्रेय ब्राह्मणों को ही देना न्यायसङ्गत प्रतीत होता है। भारत की मृत्युञ्जय संस्कृति के ऊपर तीन बड़े ही भयङ्कर आघात आये थे

और इन सभी अवसरों पर इसके संरक्षण कर्ता ब्राह्मण के ही प्रवल प्रयत्न से भारतीय राष्ट्र छिन्न-भिन्न होने से, विदेशियों के द्वारा पददलित होने से, बाल-बाल बच गया। इतिहास इसका स्पष्ट साक्षी है।

सब से प्रथम प्रबल आघात पहुँचा था हमारे देश को सिकन्दर के द्वारा विक्रमपूर्व तृतीय शतक में। विद्वानों से छिपा नहीं है कि सिकन्दर पारसीक संस्कृति के समान भारतीय संस्कृति को ध्वस्त करना चाहता था तथा यवन-संस्कृति को विश्व की संस्कृति बनाना चाहता था। परन्तु एक निर्धन ब्राह्मण ने उससे टक्कर लिया और उस महापुरुष का नाम था कौटिल्य, चाणक्य। उस ऋषिस्वरूप ब्राह्मण ने चन्द्रगुप्त के समान तेजस्वी शासक का निर्माण किया और महाबलशाली सिकन्दर अपना बोरिया-बँधना लेकर सिन्धु के तीर पर आंसू बहाकर अपने देश लौट गया। दूसरा आघात हुआ प्रातःस्मरणीय गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक महाराज विक्रमादित्य के समय में। महाप्रतापी रणबांकुरे शकों ने आर्यावर्त को आत्मसात् करने की ठानकर भारतभूमि की स्वतन्त्रता पर आक्रमण कर दिया था, परन्तु उस समय भी एक ब्राह्मण ने जनता की नस-नस में आग फूँककर वीर विक्रम के नाम में कलङ्क लगने नहीं दिया। उसका नाम था कालिदास। इस महाकवि ने अपनी दिव्य लेखनी के बल पर उस आदर्श का चित्रण किया, विक्रम में वह उत्साह फूँका कि शकों की एक भी न चली। वे अपने स्वप्नराज्य से सदा के लिए बहिष्कृत कर दिये गये। तीसरा आघात हुआ था मुसलमानों के द्वारा। उस समय भी एक संन्यासी ने इस भारतभूमि की रक्षा की थी। उस प्रातर्वन्दनीय परमत्यागी समर्थ स्वामी रामदास को कौन नहीं जानता? उस महान् आत्मा ने अपने उपदेशों से छत्रपति शिवाजी जैसे सच्चे प्रतापी वीर का निर्माण किया। क्षत्रियवंशावतंस छत्रपति ने फिर एक बार उस हत्यारी शक्ति को नाकों चने चबवाये। सचमुच ब्राह्मण राष्ट्र का सच्चा नेता होता था।

राज्यसञ्चालक होने पर भी ब्राह्मण में न गर्व का लेश था, न ऐश्वर्य से प्रेम। ब्राह्मण अमात्यों के निवास स्थान के कभी-कभी रोचक चित्र हमें संस्कृत के नाटकों में उपलब्ध हो जाते हैं। आर्य चाणक्य के नाम से उस युग क राजा-महाराजा थर्रा उठते थे। वे ही चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर आरूढ़ करनेवाले साहसी पुरुष थे, परन्तु उनकी विभूति की बात क्या कही जाय? 'मुद्राराक्षस' में उनके निवास का रोचक वर्णन पढ़कर किस आलोचक का हृदय चाणक्य के प्रति श्रद्धा तथा आदर से भर नहीं जायगा? उनकी कुटिया के आँगन में छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े रखे गये थे, जिनसे गोमय को तोड़-तोड़कर छोटे-छोटे खण्ड बनाये जाते थे। कुटिया पर सूखने वाली समिधाओं के द्वारा छत झुक गयी थी।

दीवारें बिल्कुल जर्जर हो गयी थीं। छात्रों के द्वारा लाये गये कुशों का व्यूह रखा हुआ था, जिसका उपयोग यज्ञ के अवसर पर होता था। कहां तो महामन्त्री चाणक्य का वह प्रभाव कि जिसके डर से सम्राट् चन्द्रगुप्त थर्राता था और कहां उनका दीन-हीन निवासस्थान !!! क्या आजकल के मन्त्रीलोग इस वर्णन से कुछ भी शिक्षा ग्रहण करने की कृपा करेंगे? दीन जनता के प्रतिनिधि होकर भी वे अपना भोगमय जीवन आलीशान महलों में बिताते हैं। भला, वे निर्धन प्रजा के दुःखों के प्रति कभी भी चिन्ता करते होंगे? 'महाभारत' में तो सभा के सभ्यों के लिए विशेषरूप से कहा गया है। भारत कृषिप्रधान राष्ट्र है। अतः व्यासजी का आग्रह है कि जो नेता स्वयं अपने हाथों कृषि नहीं करता, खेत नहीं जोतता, उसे नेता बनकर राष्ट्र की समिति (आजकल की लोकसभा तथा विधानपरिषद्) में जाने का तनिक भी अधिकार नहीं है—

"न नः स समितिं गच्छेत् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम्"

—(उद्योग० ३६।३१)

'महाभारत' का यह कथन यथार्थ ही है। किसानों का नेता किसान ही हो सकता है। कृषि से अनभिज्ञ कुर्सीतोड़ बकवादी नेता भला किसानों का कोई मङ्गल क्या कर सकता है? ब्राह्मण मन्त्री साधारण जनता के समान ही अपने को समझता था। वह दीन-हीन दशा में अपना जीवन विताया करता था अर्थात् दीन जनता के साथ सम्पर्क से वह कभी विरहित नहीं होता था। यह था ब्राह्मण अमात्यों का राजनैतिक महत्त्व। 'मुद्राराक्षस' के रचयिता विशाखदत्त द्वारा चाणक्य का चित्रण करने वाला पद्य यही है—

"उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥"

—(मुद्राराक्षस ३।१५)।

ब्राह्मण राष्ट्र का प्रतीक माना जाता था। अतएव जो वस्तु ब्राह्मण के लाभ की मानी जाती थी, वह पूरे राष्ट्र की कल्याणसाधिका होती थी। जो वस्तु ब्राह्मण के हित में अनिष्टकारक होती थी, उससे जनता घृणा करती थी और उसे दूर फेंकने के लिए तैयार रहती थी। ब्राह्मण का अपमान पूरे राष्ट्र का अपमान माना जाता था और ब्राह्मण का सम्मान पूरे राष्ट्र का सम्मान था। ब्राह्मण के इस राजनैतिक महत्त्व का परिचय 'अब्रह्मण्यम्' शब्द भलीभांति आज भी दे रहा है। 'ब्रह्मणे हितम् ब्रह्मण्यम्। न ब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्' अर्थात्

ब्राह्मण के लिए अनिष्टकारक पदार्थ। राजा का कोई भी कार्य यदि ब्राह्मणों के लिए हितकारक नहीं होता, तो प्रजा 'अब्रह्मण्यम्' का उद्घोष करती, जो राष्ट्र के महान् अनर्थ का प्रतीक माना जाता था और जिसे सुनकर राजा कांप उठता था। तथ्य यह है कि ब्राह्मण केवल अग्रजन्मा ही नहीं होता है, प्रत्युत वह राष्ट्र के परममङ्गलविधान का सम्पादक भी होता है। वह राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधित्व करता था और इस घटना से हम उसके महत्त्व को भलीभांति आंक सकते हैं।

ब्राह्मण भारतीय राष्ट्र तथा संस्कृति के श्लाघनीय प्रसारक थे। बृहत्तर भारत में जावा, सुमात्रा, वोर्नियो, फिलिपाइन, बाली आदि द्वीपसमूहों में भारतीय संस्कृति का प्रसार इस बात का साक्षात् पोषक है कि ब्राह्मण कूपमण्डूक न होकर देशभक्ति की उच्च भावना से प्रेरित होने वाले श्लाघनीय प्राणी थे। ब्राह्मणों ने भारत के बाहरी देशों में भारतीय संस्कृति का, भारतीय धर्म तथा दर्शन का, भारतीय आचार-विचार का, प्रचुर प्रसार किया। सच तो यह है कि ब्राह्मण के इस अध्यवसाय के अभाव में ये पूर्वोक्त देश आज भी असभ्य, अशिष्ट तथा बर्बर बने रहते। इन देशों में जो राज्य पनपे तथा समृद्ध बने, उनकी मूल स्थापना में ब्राह्मणों का ही हाथ है। चम्पा राज्य की स्थापना का श्रेय 'कौण्डन्य' नामक ब्राह्मण को दिया जाता है। रामायण, महाभारत जैसे साहित्यग्रन्थों को उन देशों की भाषाओं में उन्हीं ने प्रचार किया। मनु की स्मृति के उदार नियमों का प्रसार वहाँ इन्हीं के प्रयास का सुन्दर परिणाम है।

एक बात और ध्यान देने की है कि ब्राह्मणों का संस्कृत भाषा के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध रहा है। राष्ट्र के अध्यापक होने के नाते संस्कृत भाषा तथा साहित्य की समृद्धि की ओर इनका ध्यान आरम्भ से ही रहा है। ब्राह्मणों ने सूखे चने चबाये, प्राणों को सङ्कट में डाला, परन्तु देवभाषा के उज्ज्वल रत्नों को विस्मृति के गर्त से सदा बचाया। हम उस युग की बातें नहीं करते, जब हिन्दू राजाओं की छत्रछाया उनके ऊपर कल्पतरु के समान विराजमान थी। भारतवर्ष के मध्ययुग का इतिहास साक्ष्य दे रहा है कि ब्राह्मणों के सत्प्रयत्नों, अध्यवसायों तथा प्रयासों के फलस्वरूप ही संस्कृत साहित्य के रत्न आज भी उपलब्ध हो रहे हैं। ब्राह्मण का यह औदार्य उसका स्वाभाविक गुण ही है। जहाँ भी ब्राह्मण है, उसमें यह गुण प्रभूतमात्रा में पाया जाता है। बाली द्वीप में आज भी ब्राह्मण पण्डित मिलते हैं, जो वहाँ 'पदण्ड' के नाम से विख्यात हैं। पदण्ड लोग संस्कृत भाषा का एक अक्षर भी नहीं जानते, परन्तु उनके मुख में आज भी सैकड़ों स्तोत्र तथा श्लोक विराजमान हैं, जिनका उपयोग वे कर्मकाण्ड कराने के अवसर पर करते हैं। पदण्ड लोग इन स्तोत्रों का एक अक्षर भी नहीं

समझते, पर उन्होंने बड़े प्रेम तथा लगन के साथ इस विशाल साहित्य को अभी तक अपने प्रयासों से जीवित बना रखा है। भारत के बाहर वाले इन ब्राह्मणों के उत्साह, धर्मप्रेम तथा साहित्यानुराग की प्रशंसा किन शब्दों में की जा सकती है? भारत में आज भी वेदों को जीवित तथा अक्षुण्णतया पवित्र बनाये रखने का श्रेय ब्राह्मणों को ही है।

इस प्रकार भारतीय राष्ट्र को प्रतिष्ठित बनाने में, समाज को सुव्यवस्थित बनाने में तथा भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार करने में ब्राह्मणों का महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मण अपने किये गये अपराधों के दण्ड को स्वीकार करने में कभी भी पश्चात्पद नहीं होता था। धर्मशास्त्र के लेखकों ने दण्डविधान का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया है। समाज के नेता होने के नाते ब्राह्मण को कतिपय सुविधायें भले ही प्राप्त हों, परन्तु दण्डविधान के नियम उसके लिए भी उसी प्रकार अकाट्य तथा अनिवार्य थे, जिस प्रकार अन्य वर्णों के लिए। ब्राह्मण इन दण्डों को सहर्ष स्वीकार करता था। शङ्ख तथा लिखित का आख्यान इसका स्पष्टतः परिचायक है। शङ्ख ने अपने भाई लिखित के आश्रम में पके बेरों को बिना उनकी आज्ञा के ही तोड़कर अपनी भूख बुझायी। स्पष्टतः यह काम चोरी का था। राजा से उन्हों ने अपना अपराध स्वीकार किया तथा दण्डविधान की प्रार्थना की। राजा ने कांपते हुए स्वर में कहा—'महर्षे! आप की ही स्मृति के अनुसार तो हम प्रजाओं का दण्डविधान करते हैं, भला आप के लिए दण्डविधान क्या?' महर्षि ने कहा—'मेरे नियमों के अनुसार मुझे दण्ड दीजिये। आपत्काल में जानबूझ कर मुझे यह जघन्य कार्य करना पड़ा है। अपराध तो अपराध ही है, चाहे वह एक सामान्य जन का हो या किसी मान्य महर्षि का।' राजा ने महर्षि का उचित दण्ड-विधान कर दिया। चोरी करनेवाला हाथ काट डाला गया। उसी समय बाहुदा नदी में स्नान करते हुए महर्षि का कटा हुआ हाथ फिर जम आया[1]!! ब्राह्मण दण्डविधान से कभी पराङ्मुख नहीं होता था।

इस प्रकार चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था में तथा सन्तुलित प्रतिष्ठा में राष्ट्र के जागरूक नेता के नाते तथा भारतीय संस्कृति के संरक्षक तथा प्रसारक की दृष्टि से ब्राह्मण का महत्त्व सर्वथा अक्षुण्ण रहा है।

वंश

पुराणों में जितने वंशों का वर्णन है उन सब का प्रारम्भ मनु से होता है। मनु की सन्तति होने से ही सब मनुष्य 'मानव' की संज्ञा से पुकारे जाते हैं। यों तो मनुओं की संख्या चौदह है (जिनका विवरण मन्वन्तर के प्रसंग में

१. द्रष्टव्य शान्ति पर्व अ० २३

पूर्व ही किया गया है), परन्तु वंश के प्रतिष्ठापक की दृष्टि से दो मनु विशेष महत्त्वशाली हैं—(१) स्वायम्भुव मनु (प्रथम मनु) तथा (२) वैवस्वत मनु (सप्तम तथा इस समय प्रचलित मनु)। स्वायम्भुव मनु ब्रह्मा के प्रथम पुत्र तथा पृथ्वी के प्रथम सम्राट् थे। मनुकी पत्नी शतरूपा थी, जिनसे उनके **उत्तानपाद** तथा **प्रियव्रत** नामक दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति नामक तीन कन्यायें हुईं। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत को समस्त पृथ्वीमंडल का शासन सौंप दिया। उत्तानपाद की दो पत्नियाँ थी सुनीति तथा सुरुचि; जिनमें सुनीति के पुत्र थे ध्रुव तथा सुरुचि के पुत्र थे उत्तम। इन दोनों का शासनकाल कुछ ही दिनों तक था। प्रियव्रत की दो पत्नियाँ थीं—(१) प्रजापति विश्वकर्मा की पुत्री बर्हिष्मती; (२) अज्ञातनामा पत्नी। भागवत के अनुसार बर्हिष्मती से १० पुत्र तथा एक कन्या उत्पन्न हुई। पुत्रों के नाम हैं—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेतस्, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। प्रियव्रत ने रात्रि को भी दिन में परिणत करने के उद्देश्य से एक ज्योतिर्मय रथ पर बैठकर सूर्य के पीछे पीछे पृथ्वी की सात परिक्रमा की। उनके रथ के पहियों से जो लीकें पृथ्वी पर बनीं वे ही सात समुद्र के रूप में परिणत हुइ और उनसे पृथ्वी में सात द्वीप हुए—(१) जम्बू, (२) प्लक्ष, (३) शाल्मलि, (४) कुश, (५) क्रौञ्च, (६) शाक तथा (७) पुष्कर। इन्हीं सात द्वीपों के अधिपति प्रियव्रत के सातों पुत्र हुये (तीन पुत्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे)। इस प्रकार मनु के इन पौत्रों ने समग्र पृथ्वी-मण्डल पर अपना राज्य स्थापित किया तथा उन द्वीपों पर विधिवत् शासन किया। प्रियव्रत की दूसरी रानी से तीन पुत्र उत्पन्न हुए—उत्तम, तामस तथा रैवत और ये तीनों ही तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम मन्वन्तरों के क्रमशः अधिपति हुए।[1] मनु की तीनों कन्याओं से प्रजा का विशेष विस्तार सम्पन्न हुआ।

इस वंश का आविर्भाव बहुत ही प्राचीन काल में हुआ। इसमें अनेक बलशाली तथा कीर्तिसम्पन्न शासक हुए जिनकी गाथा आज भी हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत है। ऐसे शासकों में प्रियव्रत, ऋषभ, नाभि, भरत (जिनके नाम पर पूर्व में 'अजनाभ' नाम से विश्रुत यह वर्ष भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ) ध्रुव, भद्राश्व, पृथु आदि शासकों का नाम नितान्त प्रख्यात तथा महत्त्व-सम्पन्न है।

वैवस्वत मनु के वंशजों का विवरण पौराणिक इतिहास का मेरुदण्ड है। आज प्रचलित मन्वन्तर के ये ही अधिपति हैं। मनु सूर्यवंश के प्रथम राजा थे। इन्हीं से चन्द्रवंश तथा सौद्युम्न वंश भी चला। मनु के नव[1] पुत्र थे तथा

---

१. मनु के इन पुत्रों के नाम पुराणों में विभिन्न रूप से भी मिलते हैं। भागवत (८।१३।१–२) ने मनुपुत्रों की संख्या दश बतलाई है। विष्णु

एक कन्या थी। इन पुत्रों के नाम हैं—(१) इक्ष्वाकु, (२) नाभाग, (३) नृग, (४) धृष्ट, (५) शर्याति, (६) नरिष्यन्त, (७) प्रांशु, (८) नाभानेदिष्ट, (९) करुष, तथा (१०) पृषध्र। इन पुत्रों ने भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जाकर अपना शासन स्थापित किया।

(१) इनमें से ज्येष्ठ पुत्र **इक्ष्वाकु** मनु के उत्तराधिकारी होकर मध्यदेश के शासक हुए जिनसे प्रमुख सूर्यवंश चला। राजधानी उनकी अयोध्या नगरी थी जो इस प्रकार आरम्भ से भारतीय संस्कृति तथा विद्या की केन्द्रस्थली थी।

(२) मनु के पुत्र **नाभानेदिष्ट** (संख्या ८) ने वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, विहार) में एक वंश की स्थापना की।

(३) मनु के पुत्र **कारूष** (संख्या ९) ने बिहार के दक्षिण-पश्चिम तथा रीवां राज्य के पूर्व सोन नद के तट पर एक राज्य स्थापित किया जो रामायण-काल में बिहार के शाहाबाद जिले को भी समाविष्ट करता था।

(४) मनु के पुत्र **धृष्ट** (संख्या ४) के वंशजों ने पूरबी पजाब पर अपना अधिकार किया।

(५) मनु के पुत्र **नाभाग** (संख्या २) ने यमुना नदी के दक्षिण तट पर एक राज्य की स्थापना की।

(६) मनुपुत्र **शर्याति** (संख्या ५) ने आनर्त देश (उत्तर सौराष्ट्र) में अपना राज्य स्थापित किया। इन्होंने अपनी पुत्री सुकन्या को च्यवन ऋषि से व्याही थी जिन्होंने अश्विनों की कृपा से एक विशिष्ट रसायन का (जो इन्हीं के नाम पर पीछे 'च्यवनप्राश' के नाम से प्रख्यात हुआ) सेवन कर वार्धक्य से यौवन प्राप्त किया था।

(७) मनुपुत्र **नरिष्यन्त** (संख्या ६) के वंशज भारतवर्ष के वाहर मध्य-एशिया तक चले गये और 'शक' नाम से प्रख्यात हुए।

(८) मनुपुत्र **पृषध्र** (संख्या ९) अपने गुरु च्यवन की गाय मारने के कारण शूद्र हो गये और उनसे कोई राजवंश नहीं चला। मनुपुत्र **प्रांशु** (संख्या ७) के विषय में कुछ विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता।

मनुपुत्री इला का पौराणिक वृत्त बड़ा विलक्षण है। इस इला का विवाह सोम (चन्द्र) के पुत्र बुध से हुआ था। इससे **पुरूरवा** नामक पुत्र उत्पन्न हुआ

(३।१।३३–३४) ने भागवत में पृथग्रूप से निर्दिष्ट नाभाग तथा दिष्ट को एक ही व्यक्ति (नाभागोदिष्ट) मानकर नव की संख्या अक्षुण्ण रखी है। इन नामों को मिलाइए भाग० (९।१।१२); ब्रह्माण्ड० (२।३८।३०-३२); वायु (६४।२९ तथा ८५।४)

जो इला से उत्पन्न होने के कारण 'ऐल' कहलाया तथा सोम से उत्पन्न होने के कारण चन्द्रवंश का प्रवर्तक हुआ। पुराण की कथा है कि शिवजी के प्रसाद से इला पुनः पुरुष हो गई जिसका नाम पड़ा सुद्युम्न। मूल राजधानी प्रतिष्ठानपुर (= वर्तमान प्रयाग के पास झूसी) छोड़ कर यह मगध की ओर पूरब तरफ चला गया जिधर इसके तीनों पुत्रों ने अपने लिए शासन-क्षेत्र प्रस्तुत कर लिया। गय ने वर्तमान गया नगरी बसाई और मगधपर राज्य किया। उत्कल के नाम पर उत्कल प्रान्त का नाम करण हुआ जहाँ इसके वंशजों ने अपना राज्य कायम किया। हरिताश्व का राज्य पूर्व के प्रदेशों पर था जो कुरुओं के राज्य का सीमावर्ती राष्ट्र था। इन तीनों पुत्रों के वंशज सौद्युम्न नाम से विश्रुत हुये। फलतः एक ही मनु से तीनों राज्यवंश चले—(१) सूर्यवंश अयोध्या में; (२) चन्द्रवंश प्रतिष्ठानपुर में तथा(३) सौद्युम्नवंश भारत के पूरबी-दक्षिण प्रान्त में।

मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु के वंशजों ने भारतवर्ष के भीतर तथा बाहर जाकर अपना राज्य स्थापित किया और आर्य संस्कृति का प्रचार किया। इनके समुल्लेख इस प्रकार हैं :—

(१) इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने उत्तर-पूर्व विहार में विदेहकुल की स्थापना की। इसी वंश में एक राजा ने मिथिला की प्रतिष्ठा कर उसे अपनी राजधानी बनायी। यहां के सब राजा जनक नाम से अभिहित होते थे।

(२) इक्ष्वाकु के पुत्र दण्ड ने दक्षिण के जंगल प्रदेश का अनुसन्धान किया जो उन्हीं के नाम से 'दण्डकारण्य' कहलाया।

(३) इक्ष्वाकु के पचास वंशजों ने, जिनके प्रमुख शकुनि थे, उत्तरापथ (उत्तर-पश्चिम भारत) पर अधिकार किया तथा वसति के ४८ वंशजों ने दक्षिणापथ पर अधिकार किया।

(४) इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र विकुक्षि के बाइस वंशजों ने मेरु के उत्तर प्रदेश (आजकल का साइवेरिया)पर अधिकार किया तथा उन्हीं के अन्य एक सौ चौदह वंशजों ने मेरु के दक्षिण देश में उपनिवेश बनाया[1]।

भारतवर्ष के भीतर आर्यों के प्रसार का पूर्ण वृत्त पुराणों के आधार पर तैयार किया गया है जो अपनी ऐतिहासिकता तथा सत्यता के लिए वैदिक वृत्त से पूर्ण सामञ्जस्य रखता है[2]।

---

१. इन तथ्यों के पौराणिक आधार के लिए द्रष्टव्य—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४, सं० २००६ पृष्ठ ६५—६७

२. द्रष्टव्य डा० पुसालकर का सुचिन्तित लेख—आरियन एक्सपैंशन इन इंडिया (पुराण बुलेटिन, रामनगर, वर्ष ६ संख्या २, पृष्ठ ३०७—३३२)

पार्जीटर की भ्रान्त धारणा

पौराणिक अनुश्रुति का स्पष्ट प्रामाण्य है कि भारतवर्ष की वंशावली मनु से ही प्रारम्भ होती है। मनु से ही तीनों राजवंशों का उदय हुआ—(१) सूर्यवंश का (राजधानी अयोध्या में) (२) चन्द्रवंश का (राजधानी प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग के पास आधुनिक झूंसी में), (३) सौद्युम्न वंश का जिसका शासनक्षेत्र भारत का पूरबी प्रान्त था। इन राजवंशों के विषय में पार्जीटर साहब की धारणा है कि मानव वंश द्रविड था, चन्द्रवंश या ऐल वंश विशुद्ध आर्य था तथा सौद्युम्न वंश मुंडा-मान ख्मेर जाति का था। इस तथ्य की पुष्टि में उन्होंने जो युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं, वे नितान्त भ्रान्त, परम्परा-विरुद्ध तथा अशुद्ध हैं।

पार्जीटर ने ऐलों के विषय में लिखा है कि परम्परानुसार ऐल या आर्य प्रतिष्ठानपुर से चलकर उत्तर-पश्चिम, पश्चिम और दक्षिण विजय कर वहाँ फैल गये और ययाति के समय तक उस प्रदेश पर अधिकार कर लिया जिसे मध्यदेश कहते हैं। भारतीय अनुश्रुतियों में अफगानिस्तान से भारत पर ऐलों या आर्यों के आक्रमण का तथा पूर्व की ओर उनके बढ़ाव का कोई उल्लेख नहीं है; विपरीत इसके द्रुह्यु लोगों का (जो ऐलों की एक शाखा थे) भारत के बाहर जाने का उल्लेख पुराणों में मिलता है। ऐलों के विषय में पार्जीटर का पूर्वोक्त कथन यथार्थ है; इसमें सन्देह नहीं। परन्तु अन्य दोनों राजवंशों के विषय में उनके निष्कर्ष नितान्त भ्रमोत्पादक तथा बिल्कुल असत्य हैं। इसी प्रकार ऐलों का भारत के बाहर से आने की उनकी कल्पना भी भ्रान्त है[१]। इस विषय में उनका स्पष्ट आधार है वे लोककथायें जो ऐलों के पूर्वज पुरूरवा का सम्बन्ध हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेशों से जोड़ती है। इस तर्क में विशेष बल नहीं है। बात यह है कि मनुकी कन्या इला का मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश में गिरिविहार के निमित्त जाना तथा सोमसूनु बुध के साथ उसकी भेंट होना, तो पुराणों के अनुकूल है, परन्तु सोम तथा बुध का न तो मध्यवर्ती हिमालय के ही मूल निवासी होने का कहीं संकेत है, और न इनके भारत के कहीं बाहर से आने का निर्देश है। ये लोग विशुद्ध मध्यदेश के ही निवासी आर्य जाति के थे। इनके मूलस्थान का भारत से बाहर खोज निकालने का प्रयास सर्वथा व्यर्थ तथा भ्रान्त है।

इसी प्रकार मानवों (मनुवंशियों) को द्रविड मानने में पार्जीटर[२] की युक्ति यह है कि मानवों का वर्णन ऐलों (या आर्यों) से भिन्न जाति के रूप में

१. पार्जीटरः एन्शंट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन पृष्ठ २९८।

२. वही पृष्ठ २८८

हुआ है तथा वे ऐलों से पूर्व ही यहाँ भारत में निवास करते थे। आर्यों से पूर्व निवास करने वाली जाति द्रविडों की थी। फलतः मानव द्रविड जाति के ही व्यक्ति हैं। यह युक्ति भी ठीक नहीं। पुराण मानवों को कभी भी आर्यों से भिन्न जाति का नहीं संकेत करता। प्रत्युत इन दोनों में वैवाहिक सम्बन्ध होते थे, जो जाति-साम्य के ही सूचक हैं। जाति, भाषा और धर्म की दृष्टि से दोनों समान ही कहे गये हैं। द्रविड का मूल स्थान सुदूर दक्षिण में ही सर्वदा से रहा है जहाँ वे आज भी प्रतिष्ठित हैं। उत्तर भारत के मध्य में—आर्यावर्त के ठीक बीचोबीच अयोध्या में—द्रविडों की स्थिति बतलाना इतिहास की एक विकट भ्रान्ति है। मनुवंशी पुरुषों में से अनेक ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा हैं जो उनके आर्यत्व का स्पष्ट परिचायक है, न कि उनके ऊपर आरोपित द्रविडत्व का। फलतः मानव भी उसी प्रकार विशुद्ध आर्य थे, जिस प्रकार ऐल लोग।

सौद्युम्नों के विषय में पार्जीटर का कहना है कि चूंकि वे दक्षिण-बिहार तथा उड़ीसा में शासन करते थे, फलतः वे मुंडा-मानख्मेर जाति (जंगली मुण्डा जाति) के ही थे। यह भी कथन अनुचित है। पुराणों का साक्ष्य इसके विरुद्ध है। ये लोग मानवों के ही एक उपकुल के रूप में वर्णित हैं जिनके साथ इनका वैवाहिक सम्बन्ध भी विद्यमान था। केवल शासन-क्षेत्र तथा स्थिति-प्रदेश की समता पर यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार पार्जीटर की मनुवंशविषयक ये कल्पनायें सर्वथा पुराण-विरुद्ध हैं और अत एव भ्रान्त हैं।

इक्ष्वाकु की वंशावली

यह वंशावली बड़ी सुव्यवस्था के साथ पुराणों में दी गई है। यह सूची वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत, गरुड, विष्णुधर्मोत्तर, तथा देवी भागवत; ब्रह्म, हरिवंश एवं शिव; कूर्म तथा लिंग; मत्स्य, पद्म तथा अग्नि—इन पन्द्रह पुराणों-उपपुराणों में मिलती है। (१) इनमें से 'वायु' सबसे प्राचीन है। ब्रह्माण्ड उसी का प्रायः अक्षरशः अनुसरण करता है। इन दोनों पुराणों में इतना साम्य है कि ये एक ही मूल वायुपुराण की दो शाखायें जान पड़ते हैं। विष्णु तथा भागवत की सूची इसी परम्परा के अन्तर्भुक्त है। अन्तर इतना है कि उन दोनों पुराणों से अर्वाचीन होने के कारण तथा प्रधानतः धार्मिक होने के हेतु इनमें ऐतिहासिक वृत्तों तथा संकेतों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। विष्णु का वर्णन गद्य में है और भागवत का पद्य में। भागवत में ये श्लोक वायु पुराण से नहीं लिये गये हैं, प्रत्युत भागवतकार की निजी रचना है। गरुड की वंशावली पुराणकार की निजी पद्यात्मक रचना है। विष्णु-

धर्मोत्तर और देवीभागवत में उपलब्ध सूची अधूरी है; यद्यपि ये दोनों वायु का ही अनुसरण करते हैं, तथापि श्लोक वायु के न होकर नवीन रचना है। महाभारत की वंशावली धुंधुमार तक इसी परम्परा के अन्तर्भुक्त है। इस प्रकार इन आठों ग्रन्थों का एक विशिष्ठ सन्दर्भ मानना चाहिये जिसे वायु-सन्दर्भ के नाम से पुकारना उचित होगा। इसका वैशिष्टय है कि इस में प्रायः समस्त इक्ष्वाकुवंशीय शासकों की नामावली आ गई है और स्थान-स्थान पर ऐतिहासिक चूर्णिकायें भी दी गई हैं।

(२) ब्रह्म पुराण, हरिवंश और शिव पुराण में उपलब्ध सूची में समानता है। ब्रह्म तथा हरिवंश के पाठ प्रायः शब्दतः एक हैं। शिवपुराण ने जहाँ तहाँ घटाया बढ़ाया गया है। इसमें कई नामों की त्रुटि है। सम्भव है यह सूची किसी अन्य परम्परा के ऊपर आश्रित हो। इसे ब्रह्म-सन्दर्भ के नाम से पुकारना चाहिए।

(३) **कूर्म-सन्दर्भ**— तीसरी सूची कूर्म तथा लिंग पुराण में उपलब्ध होती है जिसे कूर्म सन्दर्भ कहना चाहिए। यह सूची मनु से लेकर अहीनगु सं० (७५) तक वायु संदर्भ का ही अनुसरण करती है, परन्तु उसके बाद द्वापर के अन्त तक की सूची भिन्न हो गई है।

(४) **मत्स्य सन्दर्भ**—चौथी सूची मत्स्य पुराण, पद्म पुराण तथा अग्नि पुराण में उपलब्ध होती है जिनमें पद्म मत्स्य का अक्षरशः अनुसरण करता है। अग्नि भिन्न पड़ता है। इस संदर्भ की विशेषता है कि यहाँ अप्रधान राजाओं के नाम छोड़ दिये गये हैं तथा आरम्भ से लेकर अहीनगु (संख्या ७५) तक यह ब्रह्मसन्दर्भ के अनुसार है तथा उसके बाद द्वापर के अन्त तक कूर्म सन्दर्भ के अनुसार है। सम्भव है इस मत्स्यसन्दर्भ के पीछे इससे मूल स्रोत के रूप में कोई विभिन्न ही परम्परा हो जो पूर्वोक्त परम्पराओं से पृथक् हो।

इन चारों सन्दर्भों को दो भाग में विभक्त किया जाता है। वायु-सन्दर्भ तथा ब्रह्मसन्दर्भ में बहुत कुछ समानता है; कूर्म-सन्दर्भ तथा मत्स्य-सन्दर्भ में बहुत कुछ सादृश्य है। अतः तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि प्राचीनकाल में दो ही प्रधान परम्परायें इस विषय की थीं जिनका अनुसरण इन पुराणों ने किया है।

'इक्ष्वाकुवंश' नाम में वंश शब्द का तात्पर्य क्या है? वंश शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न सन्दर्भों में भिन्न भिन्न अर्थों में होता है। 'वंश ब्राह्मण' में वंश शब्द गुरु-शिष्यसम्बन्ध को द्योतित करता है। 'ऋषिवंश' में वंश शब्द मूल ऋषि के वंश में होने वाले प्रवर ऋषियों की सूचना देता है, परन्तु उनके क्रमशः स्थिति का संकेत नहीं करता। 'बुद्धवंश' पाली का एक विशिष्ट ग्रन्थ है जिसमें बुद्धत्व

प्राप्त करने वाले प्रधान महामानवों की संख्या की गई है। 'इक्ष्वाकु वंश' में 'वंश' शब्द कुल-परम्परा के लिए प्रयुक्त नहीं है, प्रत्युत शासक-परम्परा के लिए ही व्यवहृत है। इस तथ्य के पोषक प्रमाणों को देखिये। (१) शतपथ ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र को वैधस (वेधा की सन्तान) कहा गया है, परन्तु वेधस् नाम किसी भी इक्ष्वाकु-वंशावली में नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि हरिश्चन्द्र किसी दूसरी शाखा के ऐक्ष्वाक थे और शासक होने के नाते इस परम्परा में अन्तर्भुक्त कर लिये गये। (२) अयोध्या-नरेश ऐक्ष्वाक ऋतुपर्ण को पञ्चविंश ब्राह्मण तथा महाभारत (वन पर्व : ६-६७ अ०) में भृंगाश्व का अपत्य कहा गया है, परन्तु भृङ्गाश्व का वर्तमान इक्ष्वाकु-परम्परा में कहीं उल्लेख नहीं है। प्रतीत होता है कि ये इक्ष्वाकु की किसी दूसरी शाखा में उत्पन्न हुए थे, परन्तु राज्य के उत्तराधिकारी होने के कारण वंशावली में परिगणित किये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि वंशावली में शासक-परम्परा का ही उल्लेख है, कुल-परम्परा का नहीं। यह तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है[1]।

इक्ष्वाकु की वंशावली

मनु वैवस्वत
|
१ इक्ष्वाकु
|
२ विकुक्षि (= देवराट्, शशाद) तथा ९९ और पुत्र
|
३ पुरञ्जय (= ककुत्स्थ, इन्द्रवाह) तथा १४ अन्य पुत्र
|
४ सुयोधन
|
५ पृथु
|
६ विष्वगश्व (= दृषदश्व = विष्टराश्व)
|
७ आर्द्र (= इन्दु, चान्द्र, आन्ध्र)
|
८ युवनाश्व
|
९ श्रावस्त ('श्रावस्ती' नगरी का स्थापक)
|

१. इसके अन्य पोषक प्रमाणों के लिए देखिये राय कृष्णदास जी का सुचिन्तित लेख 'पुराणों की इक्ष्वाकु वंशावली' (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, वर्ष ५६. सं० २००८) पृष्ठ २३४—२३८

[मत्स्य तथा कूर्म सन्दर्भ के अनुसार दृढाश्व का पुत्र प्रमोद था तथा प्रमोद का पुत्र हर्यश्व था जो एक दूसरे के बाद राज्य करते थे। अग्निपुराण का कथन है कि प्रमोद तथा हर्यश्व सहोदर थे जिनमें प्रमोद कनिष्ठ था। मत्स्य-कूर्म के सूचनानुसार ऊपर का क्रम नियत किया गया है]

[मान्धाता के वंशजों के बारे में पौराणिक विवरण बड़ा गोलमाल है। मत्स्य के अनुसार मान्धाता के पुत्र थे पुरुकुत्स, मुचुकुन्द और शत्रुजित् जिसमें पुरुकुत्स का पुत्र है वसूद-तत्पुत्र संभूति तथा तत्पुत्र सुधन्वा। दूसरे पुराणों के अनुसार पुत्रनाम नीचे दिया जाता है। इनमें से द्वितीय पुत्र अम्बरीष राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। तदनन्तर उसका पुत्र युवनाश्व जिसका उत्तराधिकारी था हरित जिसके वंशज हारीत क्षत्रोपेता ब्राह्मण कहे गये हैं। हरित के अनन्तर पुरुकुत्स शासक बतलाया गया है। इस परिवर्तन का कारण यह प्रतीत होता है कि अम्बरीष के वंशज ब्राह्मण बन गये थे, तब उस वंश में शासन का कार्य समाप्त हो गया और राज्यसिंहासन पुरुकुत्स को प्राप्त हो गया जो अम्बरीष का ही जेठा भाई था]

२१ मान्धाता

- २४ पुरुकुत्स
  - २५ त्रसदस्यु
    - २६ संभूत
      - विष्णुवृद्ध
        - विष्णुवृद्ध ब्राह्मणः
      - २७ अनरण्य
        - २८ त्रसदश्व (= पृषदश्व, बृहदश्व)
          - २९ हर्यश्व
          - ३० वसुमनाः (= वसुमान्)
          - ३१ त्रिधन्वन् (= त्रिवृषन्)
          - ३२ त्र्यारुण
          - ३३ सत्यव्रत (= त्रिशंकु—पत्नी सत्यरथा या सत्यव्रता)
          - ३४ हरिश्चन्द्र (पत्नी शैव्या)
          - ३५ रोहित (= रोहिताश्व)
          - ३६ हरित
          - ३७ चञ्चु
          - ३८ विजय
          - ३९ रुरुक
          - ४० वृक
- २२ अम्बरीष
  - २३ युवनाश्व
    - हारीत
      - हारीत ब्राह्मण
- मुचकुन्द
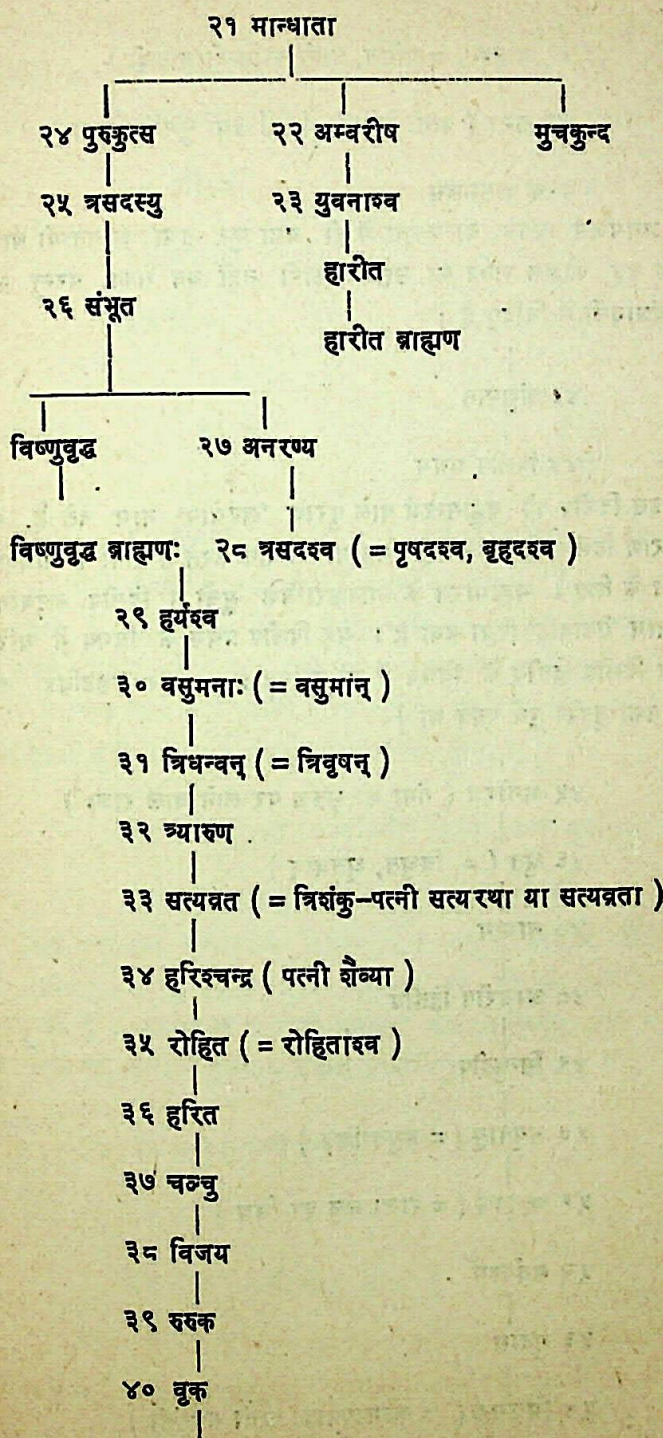
|
४१ बाहुक (= असित, पत्नी कालिन्दी यादवी)
|
४२ सगर (पत्नी केशिनी वैदर्भी तथा सुमति शैव्या)

४२क असमंजस

[असमंजस अपने बाल्यकाल में ही बड़ा क्रूर तथा आततायी था और इसीलिए वह कोशल राज्य का उत्तराधिकारी नहीं बन सका, परन्तु उसका नाम वंशावली में निर्दिष्ट है]

|
४३ अंशुमान्
|
४४ दिलीप प्रथम

[इस दिलीप को ब्रह्मसन्दर्भ वाले पुराण 'खट्वांग' नाम देते हैं, परन्तु अन्य पुराण दिलीप द्वितीय को ही यह नाम प्रदान करते हैं दोनों के पार्थक्य को दिखलाने के लिए। महाभारत के षोडशराजिक सूची में दिलीप खट्वांग का पितृज नाम 'ऐडविडि' दिया गया है। यह दिलीप प्रथम के विषय में चरितार्थं न होकर दिलीप द्वितीय के विषय में भी सुसंगत है, क्योंकि 'इडविड' नामक राजा उसका तृतीय पूर्व पुरुष था]

|
४५ भगीरथ (गंगा को भूतल पर लाने वाले राजा)
|
४६ श्रुत (= विश्रुत, श्रुतवान्)
|
४७ नाभाग
|
४८ अम्बरीष द्वितीय
|
४९ सिन्धुद्वीप
|
५० अयुतायु (= अयुताजित)
|
५१ ऋतुपर्ण (= राजा नल का मित्र)
|
५२ सर्वकाम
|
५३ सुदास
|
५४ मित्रसह (= कल्माषपाद, पत्नी मदयंती)

[मित्रसह के अनन्तर छः सात राजाओं के विषय में वायु-कूर्म की सूची ब्रह्म-मत्स्य सन्दर्भ से नितान्त भिन्न है]
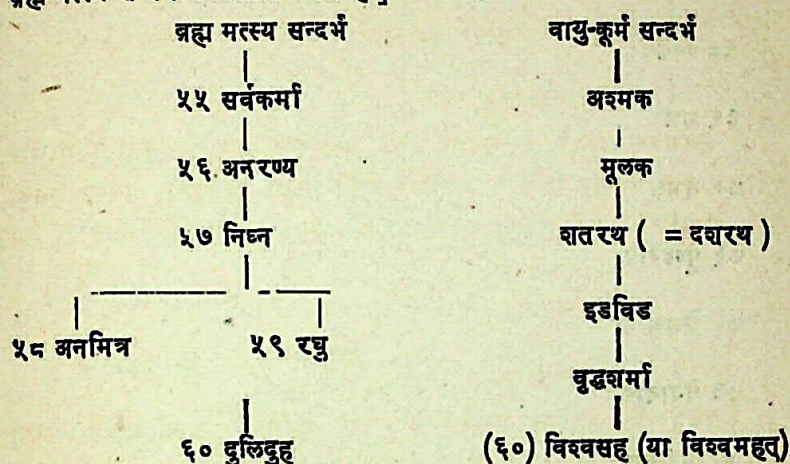
[इन दोनों सूचियों में सर्वकर्मा वाली सूची की प्रधानता है; क्योंकि सर्वकर्मा कल्माषपाद के ज्येष्ठ पुत्र थे। पहिली सूची का बुलिदुह विश्वसह का ही अपर संकेत प्रतीत होता है। यहाँ से आगे अश्मक वाली सूची को प्रधान होने की मान्यता मिल गई; क्योंकि दिलीप खट्वांग ऐडविडि कहा गया है जिससे उसका दूसरी सूची से सम्बद्ध होना स्पष्टतः प्रतीत होता है]

|

६१ दिलीप खट्वांग (= दिलीप द्वितीय, पत्नी सुदक्षिणा मागधी)

|

६२ रघु दीर्घबाहु (रघु प्रथम से विभेदक विशेषण)

[वायु तथा कूर्म सन्दर्भों में दिलीप और रघु के बीच में दीर्घबाहु का नाम आता है, परन्तु ब्रह्मसन्दर्भ में दीर्घबाहु रघु की ही उपाधि स्पष्टतः बतलाई गई है। कालिदास के द्वारा समादृत तथा उल्लिखित होने के कारण दिलीप तथा रघु का पितृ-पुत्रभाव सर्वथा प्रामाणिक तथा परिपुष्ट है]

|

६३ अज (पत्नी इन्दुमती वैदर्भी)

|

६४ दशरथ (पत्नी कौशल्या)

|

६५ राम (पत्नी सीता वैदेही)

|

६६ कुश (पत्नी कुमुद्वती) — लव
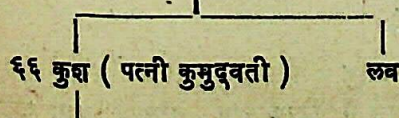
|

|
६७ अतिथि
|
६८ निषध
|
६९ नल
|
७० नभस्
|
७१ पुण्डरीक
|
७२ क्षेमधन्वा
|
७३ देवानीक
|
७४ अहीनगु
|
७५ सुधन्वा (रुरु)
|
७६ पारिपात्र (या पारियात्र)
|
७७ शित (शित)
|
७८ दल
|
७९ उन्नाभ
|
८० वज्रणाभ
|
८१ शङ्खन
|
८२ व्युषिताश्व ८३ विश्वसह (विधृति)
|
८४ हिरण्यनाभ
|
८५ पर कौशल्य (हैरण्यनाभ कौशल्य)
|
८६ वसिष्ठ (वरिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ)

[पौराणिक सूची में हिरण्यनाभ = कौसल्य = वशिष्ठ = वरिष्ठ एक ही नाम जान पड़ता है, परन्तु कालिदास में हिरण्यनाभ, कौसल्य तथा ब्रह्मिष्ठ

अनुक्रम से तीन राजा हैं। यहाँ कालिदास का ही पक्ष प्रबल होने से गृहीत हुआ है। शतपथ तथा शांख्यायन श्रौतसूत्र का प्रामाण्य कालिदास का समर्थक है]

८७ पुष्य (पुष्प)
|
८८ ध्रुवसन्धि (अर्थसिद्धि)
|
८९ सुदर्शन
|
९० अग्निवर्ण ('रघुवंश' में वर्णित अन्तिम शासक)
|
९१ शीघ्र (शीघ्रग)
|
९२ मरु (मनु)
|
९३ प्रसुश्रुत
|
९४ सुसन्धि
|
९५ अमर्षण (या अमर्ष)

९६ सहस्वान् (या महस्वान्)
|
९७ विश्रुतवान्
|
९८ बृहद्बल

[बृहद्बल इक्ष्वाकुवंश का महाभारतकालीन प्रशासक था। महाभारत-पूर्व के ऐक्ष्वाकुवंश के राजाओं में यही अन्तिम राजा था। यह महाभारत-युद्ध में अभिमन्यु द्वारा मारा गया। विष्णु० के अनुसार इसके पुत्र का नाम बृहत्क्षण था। भाग० के अनुसार बृहद्बल तक्षक का पुत्र तथा बृहद्रण का पिता था (भाग० ९।१२।८; विष्णु० ४।४।४८)[1]।

---

१. इक्ष्वाकु-वंशावली का निर्माण अनेक विद्वानों ने अपनी दृष्टि से किया है; परन्तु कलाभवन के अध्यक्ष राय कृष्णदास का पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन पर आश्रित वंशावली का निर्माण बड़ा ही वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक है। एतद्विषय में द्रष्टव्य उनका सुचिन्तित लेख—पुराणों की इक्ष्वाकु-वंशावली (नागरीप्रचारणी सभा, काशी, भाग ५६, वर्ष २००८ पृष्ठ २२६–२५०। पुसालकर का लेख भी द्रष्टव्य है—पुराणम् (रामनगर, वाराणसी से प्रकाशित शोधपत्रिका) वर्ष १९६२; जिल्द ४, संख्या १, पृष्ठ २२–३३।

इक्ष्वाकु वंश के प्रधान राजाओं का वृत्त—

(१) **मान्धाता**—युवनाश्व द्वितीय (संख्या २०) का पुत्र मान्धाता अपने समय में एक अप्रतिरथ राजा था। वह चक्रवर्ती ही नहीं, प्रत्युत सम्राट् था। इन दोनों राजकीय उपाधियों में पर्याप्त पार्थक्य है। केवल भारतवर्ष का विजेता राजा चक्रवर्ती कहलाता था, परन्तु सप्तद्वीपा वस्तुमती का विजेता सार्वभौम सम्राट् की उपाधि से मण्डित होता था। यह अपने युग का एक महाविजेता था। महाभारत के द्रोण पर्व (अ० ६२) में[1] तथा शान्तिपर्व (२८ अ०) में मान्धाता के समकालीन अथ च विजित नरपतियों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। युवनाश्व-पुत्र मान्धाता ने अङ्गार, मरुत्त, असित, गय, अङ्ग, बृहद्रथ, जनमेजय, सुधन्वा तथा नृग नामक राजाओं को जीता।[2] इन विजयों के फलस्वरूप मान्धाता का राज्य बड़ा ही विस्तृत था। पुरानी गाथा इस विस्तार को इस प्रकार बतलाती है—

यावत् सूर्य उदयति यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥

—द्रोणपर्व ६२।११; विष्णु ४।२।६५; वायु ८८।६८

इसने अपना विवाह यादवकुल में पराक्रमी नरेश शशबिन्दु की पुत्री बिन्दुमती के साथ किया था। यादवकुल चन्द्रवंशी था। फलतः सूर्यवंशी इक्ष्वाकुओं तथा चन्द्रवंशी यादवों में परस्पर विवाह सम्बन्ध स्थापित होते थे।

(२) **हरिश्चन्द्र**—इनके पूर्ववर्ती शासक का नाम था सत्यव्रत। इसके पिता का नाम था **त्र्यारुण** जो ऋग्वेद ५।२७ और ९।११० सूक्तों का द्रष्टा है। सत्यव्रत इसी का पुत्र था। 'त्रिशंकु' नाम से यही राजा प्रख्यात हुआ। सत्यव्रत ने तीन सदाचार का उल्लंघन किया था और इसी कारण वह 'त्रिशंकु' नाम से ख्यात हुआ[3]। वसिष्ठ जी के तिरस्कार करने पर विश्वामित्र ने इसे यज्ञ कराकर संदेह

---

१. जनमेजयं सुधन्वानं गयं पूरुं बृहद्रथम्।
असितं च नृगं चैव मान्धाता मानवोऽजयत्॥

—द्रोणपर्व ६२।१०

२. इन राजाओं के विवरण के लिए द्रष्टव्य श्री भगवद्दत्तः भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ ६६—६८

३. पितुश्चापरितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च।
अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः॥ १०८॥
एवं स त्रीणि शङ्कूनि दृष्ट्वा तस्य महातपाः।
त्रिशंकुरिति होवाच त्रिशङ्कुस्तेन स स्मृतः॥ १०९॥

—वायु० ८८ अध्याय

स्वर्ग में भेजा था आदि अनेक कथायें लोकप्रिय होने से आवृत्ति नहीं चाहती। इसके विषय में दो प्राचीन श्लोक वायु० ८८।११५, ११६ में उद्धृत हैं। हरिश्चन्द्र इसी त्रिशङ्कु का पुत्र था। वायुपुराण इसे 'त्रैशङ्कव' (त्रिशङ्कुपुत्र) बतलाता है (८८।११८)। ऐतरेय ब्रा० (७।१३) तथा शंखायन श्रौतसूत्र (१५।१७) में ये 'वैधस' कहे गये हैं जिससे ऐतिहासिकों का अनुमान है कि ये इक्ष्वाकुवंशीय किसी विभिन्न शाखा से सम्बद्ध थे। किसी प्राचीन टीकाकार ने 'वैधस' का अर्थ वेधा = 'प्रजापति का सम्बन्धी' अर्थ किया है। राजर्षि उशीनर की कन्या सत्यवती ने स्वयम्वर में इन्हें वरण किया था। शिविराज्य नगरी से सम्बद्ध होने के सत्यवती शैव्या कहलाती थी। इन्होंने एक विशिष्ट राजसूय यज्ञ किया था जिसमें इन्होंने ब्राह्मणों को मुँहमाँगे धन से पचगुना दान दिया था[२]। इन्होंने सप्तद्वीपा वसुमती का विजय कर सम्राट् की पदवी पाई थी। इन सब घटनाओं से बढ़कर है इनकी सत्यवादिता का आख्यान जिसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं।

(३) **सगर चक्रवर्ती**—इसी वंश में आगे चलकर सगर नामक राजा हुआ। यह इक्ष्वाकुवंश में एक महनीय चक्रवर्ती राजा हुआ। इसने अपने शत्रुओं को परास्त किया। इसने अयोध्या को ही तालजङ्घ हैहयों के पंजे से नहीं छुड़ाया प्रत्युत, हैहयों के अपने देश में घुसकर उनकी शक्ति को दीर्घकाल के लिये विध्वस्त कर दिया। विदर्भ पर चढाई की, तब वहाँ के राजा ने अपनी पुत्री केशिनी उसे व्याह कर सन्धि स्थापित की। इस राजा ने और्व ऋषि के द्वारा योग की सिद्धि प्राप्त की (भाग० ९।८।८) तथा इसी के अश्वमेध घोड़े को इन्द्र ने चुरा लिया था जिसकी खोज में इसने पुत्रों ने 'सागर' को उत्पन्न किया। इसी के प्रपौत्र भगीरथ को भागीरथी को भूतल पर लाने का गौरव प्राप्त है। ये भगीरथ दिलीप प्रथम के पुत्र थे।

(४) **राजा रघु**— इनके पिता थे दिलीप द्वितीय जो खट्वांग के नाम से प्रख्यात थे। ये भी चक्रवर्ती माने जाते हैं। राजा रघु के वंश का वर्णन कर कालिदास ने इसे अपने रघुवंश काव्य के द्वारा अमर बना दिया (भाग० ९।१० अ०) रघु के पुत्र हुए अज जिन्होंने वैदर्भी इन्दुमती को स्वयम्वर में पाया था। इन्हीं के पुत्र थे दशरथ जिनके पुत्र चतुष्टय में राम ही मूल राज्य के अधिकारी थे। राम के मर्यादा पुरुषोत्तम होने का तथ्य विशेष भाष्य की अपेक्षा नहीं रखता। वाल्मीकीय रामायण के ये ही प्रधान नायक हैं। दक्षिण भारत में भारतीय वैदिक संस्कृति के प्रचार करने का श्रेय रामचन्द्र को ही है। वैदिक साहित्य में इनका नाम भले ही न मिले, परन्तु इनकी ऐतिहासिकता में सन्देह

२. द्रष्टव्य महाभारत—सभापर्व का १२ अ०।

करना (जैसा कतिपय पाश्चात्य विद्वान् करते थे) महान अनर्थ है। महाभारत के षोडश राजकीय में प्राचीन १६ चक्रवर्ती नरेशों में राम का समुल्लेख उनकी प्राचीनता तथा ऐतिहासिकता का पुष्ट प्रमाण है।

चन्द्रवंश का उदय

कहा गया है कि सूर्यवंश के समान चन्द्रवंश भी मनु से ही आरम्भ होता है। अन्तर इतना ही है कि सूर्यवंश ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु से चलता है और चन्द्रवंश पुत्री इला से चलता है। इला का विवाह चन्द्रपुत्र बुध के साथ सम्पन्न हुआ और इसीलिए यह वंश चन्द्रवंश के नाम से प्रख्यात है। इस विवाह से उत्पन्न हुये राजा पुरूरवा जो चन्द्रवंश के संस्थापक के रूप में गृहीत किये गये हैं। **पुरूरवा** तथा अप्सरा उर्वशी की प्रणय-कथा ऋग्वेद (१०।९०) में उल्लिखित है तथा इस कथा को ही कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय का आधिकारिक वृत्त बनाया। पुरूरवा की राजधानी थी **प्रतिष्ठान** (आधुनिक प्रयागसमीपस्थ झूँसी) जहाँ चन्द्रवंश की प्रधान शाखा शासन करती रही। पुरूरवा का ज्येष्ठ पुत्र **आयु** तो प्रतिष्ठान में राज्य करता था और उनका भाई **अमावसु** ने पश्चिम में एक राज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी पीछे चल कर कान्यकुब्ज नगर हुआ। आयु के ही पुत्रपञ्चक में ज्येष्ठ पुत्र था **नहुष** जो अपने हठ के लिए संकट पाने वाले व्यक्तियों के लिए उपमान माना जाता है (हठ बस सब संकट सहे, गालव नहुष नरेश)। आयु के द्वितीय पुत्र **क्षत्रवृद्ध** ने काशी में अपना राज्य स्थापित किया। नहुष के ही प्रधान पुत्र हुए **ययाति** जो अपने युग के एक महान् पराक्रमी चक्रवर्ती राजा माने गये हैं। इनके अग्रज यति ने मुनि होकर अपना राज्याधिकार छोड़ दिया; तब राज्य ययाति को प्राप्त हुआ। ययाति की दो रानियां थीं —

(१) देवयानी भार्गवी (शुक्राचार्य की पुत्री) जिसकी सन्तान हैं यदु तथा तुर्वसु।

(२) शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी (असुरों के राजा वृषपर्वा की पुत्री) जिसके पुत्र हैं—द्रुह्यु, अनु तथा पुरु।

ययाति का आख्यान प्राचीन युग में इतना अधिक विश्रुत था कि इस आख्यान के अध्येता के नामकरण के लिए पाणिनि-सूत्रों में व्यवस्था है। ययाति के अनन्तर कनिष्ठ पुत्र **पुरु** ही पिता का नितान्त आज्ञाकारी तथा स्नेहभाजन होने से प्रतिष्ठान के राजसिंहासन पर बैठा। ययाति में अपने पाँचों पुत्रों में अलग अलग शासन-क्षेत्र का विभाग कर दिया[1]। इन्हीं पाँचों पुत्रों से पांच प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का उदय हुआ :—

१. वायु० ९३।८७—९०।

(१) कनिष्ठ पुत्र पुरु प्रतिष्ठान में ययाति का उत्तराधिकारी हुआ।

(२) ज्येष्ठ पुत्र यदु को चर्मण्वती (चंबल), वेत्रवती (बेतवा) और शुक्तिमती (केन) के तट का राज्य मिला।

(३) तुर्वसु को दक्षिण-पूर्व का प्रदेश मिला। पीछे उसके वंशज उत्तर-पश्चिम को चले गये जहां से उन्होंने भारत-सीमा के बाहर जाकर यवन तथा शक राज्यों की स्थापना की।

(४) द्रुह्यु को यमुना के पश्चिम और चर्मण्वती के उत्तर का देश विभाजन में लिया। पीछे इनके वंशज उत्तर-पश्चिम की ओर चले गये।

(५) अनु को गंगा-यमुना के दोआब का उत्तरी भाग मिला।

इन पांचों वंशों में पुरु तथा यदु का वंश बड़ा प्रभावशाली हुआ। इसमें अनेक प्रतापी तथा प्रभावशील राजा हुए जिन्होंने भारतवर्ष के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थिति तथा प्रतिष्ठा प्राप्त की है। यदु के पुत्रों में दो वंशकर्ता हुए जिनके दो वंश चले:—

(क) क्रोष्टुशाखा, (ख) सहस्रजित् = हैहय शाखा।

(क) क्रोष्टुशाखा (मत्स्य० ४४।१५) में आगे चलकर भीम सात्वत नामक राजा हुआ जिनके दो पुत्रों ने अन्धक तथा वृष्णि वंश को चलाया।

(१) अन्धकशाखा = सात्वत → अन्धक → कुकुर—वृष्णि-धृति—कपोत-रोमा—तैत्तिरि (= विलोमन) - नल (तैत्तिरि के दौहित्र)—अभिजित (= अभि-जात)—पुनर्वसु - आहुक (जिनको भगिनी आहुकी अवन्तिनरेश को व्याही थी)—उग्रसेन (मथुरा का राजा)—कंस (नव भ्राताओं में से अग्रज)[1]

(२) वृष्णि शाखा—सात्वत—वृष्णि (इनकी दो स्त्रियाँ थी गान्धारी तथा माद्री) इनमें से माद्री के पुत्रों में अन्यतम थे देवमीढुष जिनके पुत्र थे शूर—वसुदेव—बलराम तथा कृष्ण। गान्धारी नाम भार्या से वृष्णि को पुत्र हुआ सुमित्र या अनमित्र—निघ्न—प्रसेन तथा सत्राजित। इसी प्रसेन को सूर्य की तीव्र उपासना के फल से स्यमन्तक नामक मणिरत्न प्राप्त हुआ जिसकी विस्तृत कथा मत्स्य (४५, अ०) भागवत (१०।५६) विष्णु पुराण (४ अंश, १३ अ०) में विशदता के साथ ही गई है। सत्राजित की ही कन्या सत्यभामा थी जो श्रीकृष्णचन्द्र के प्रियाओं में श्रेष्ठ मानी जाती थीं।

माद्री के पुत्रों में अन्यतम थे युधाजित् जिन के पुत्र थे पृश्नि—श्वफल्क—अक्रूर। इस प्रकार श्रीकृष्ण का सम्बन्ध वृष्णि-शाखा के साथ था और

---

१. अन्धक-शाखा के पूरे विस्तुत विवरण के लिए देखिये मत्स्यपुराण ४४ अ० ५०—८३ श्लो०।

तदन्तर्भुक्त होने से अक्रूर भी श्रीकृष्ण के निकट दायाद लगते थे। सत्राजित की हत्या कर शतधन्वा के साथ अक्रूर ने भी स्यमन्तक छीन लिया था जिसका विस्तृत वर्णन विष्णु पुराण के गद्यभाग (अंश ४, अ० १३) में बड़ी रोचकता के साथ किया गया है।

(ख) हैहयशाखा

यदु के पुत्र सहस्रजित् ← शतजित् — हैहय — धर्मनेत्र — कुन्ति — संहत — महिष्मान् — रुद्रश्रेण्य — दुर्लभ ← कनक — कृतवीर्य — अर्जुन (सहस्रबाहु; कार्तवीर्य) — जयध्वज — तालजङ्घ — (इनके सौ पुत्र जो 'तालजङ्घ' के नाम से विश्रुत थे) — वीतिहोत्र — आनर्त — दुर्जेय — सुप्रतीक (मत्स्य पुराण ४३ अध्याय तथा वायु ९४ अ०) इस हैहयशाखा में कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन बड़ा ही पराक्रमशाली था और उसने हैहयों की क्षीण शक्ति को पुनः उद्दीप्त किया। वह बहुत ही बड़ा विजेता था। उसने कर्कोटक नागों से माहिष्मती छीन ली तथा नर्मदा से लेकर हिमालय तक उसने सब प्रदेशों पर विजय किया। लङ्का के राजा रावण को जो उत्तर भारत पर चढ़ आया था, पकड़ कर माहिष्मती में कई वर्षों तक कैद में रखा। हैहयों का भार्गव पुरोहितों से बड़ा संघर्ष चलता था। कार्तवीर्य ने भी जमदग्नि की हत्या की जिसका पूरा बदला उनके पराक्रमी पुत्र परशुराम ने लिया। कार्तवीर्य विषयक अनेक गाथायें पुराणों में संगृहीत हैं जिनमें उसके अतुल पराक्रम तथा अलौकिक योगशक्ति का परिचय मिलता है। योगविद्या को महर्षि दत्तात्रेय ने इसे सिखलाई थी। कालिदास ने इस राजा के विपुल प्रभाव का उल्लेख रघुवंश के षष्ठ सर्ग में किया है।

दो-तीन [1]गाथायें यहाँ उद्धृत की जाती हैं :—

> न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति क्षत्रियाः।
> यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च विक्रमेण श्रुतेन च॥
> स हि सप्तसु द्वीपेषु खड्गी चक्री शरासनी।
> रथी द्वीपाननुचरन् योगी पश्यति तस्करान्॥

---

१. कार्तवीर्यविषयक ये गाथायें वायुपुराण के ९४ अध्याय में अक्षरशः समान हैं। ये पूर्वोक्त तीनों गाथायें वायु के इसी अध्याय में श्लो०, २०, २१, तथा २४ में क्रमशः उपलब्ध हैं। अन्यत्र पुराणों में भी ये उद्धृत होंगी ऐसा विश्वास है। तथ्य यह है कि य प्राचीन गाथायें हैं जो कालक्रम से प्राचीन समय से चली आई हैं और जिनका उल्लेख महाभारत तथा पुराणों में बहुशः मिलता है।

स एव पशुपालोऽभूत् क्षेत्रपालः स एव हि।
स एव वृष्ट्या पर्जन्यो योगित्वादर्जुनोऽभवत् ॥

—मत्स्य० ४३ अ०, २४, २५, २७, श्लो०

कार्तवीर्य के नाम से नष्ट वस्तु भी प्राप्त हो जाती थी—

कार्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहु-सहस्रवान्।
तस्य स्मरणमात्रेण गतं नष्टं च लभ्यते ॥

(२) **तुर्वसुवंश** – ययाति के अन्यतम पुत्र थे तुर्वसु जिससे यह वंश थोड़े ही दिनों तक चला, क्योंकि पिता के द्वारा अभिशप्त होने के कारण यह वंश अचिरस्थायी रहा। इनके विषय में मत्स्यपुराण ने एक विचित्र बात का उल्लेख किया है कि पाण्ड्य, चोल, केरल तथा कूल्य लोग अपनी उत्पत्ति तुर्वसु वंश से ही मानते हैं—

पाण्ड्यश्च केरलश्चैव चोलः कर्णः ? (कूल्यः) तथैव च।
तेषां जनपदाः स्फीताः पाण्ड्याश्चोलाः सकेरलाः ॥

—मत्स्य, ४८।५

इस पौराणिक उल्लेख का तात्पर्य बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। तुर्वसु लोग प्रथमतः पश्चिम की ओर बढ़े और सिन्धु की घाटी में अपने को प्रतिष्ठित किया। यहाँ से वे दक्षिण भारत में गये और द्रविड जाति के पूर्वज बने। यदि यह तथ्य अन्य पुराणों से भी सिद्ध हो जाय, तो द्रविडों का आर्यों के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

(३) **द्रुह्युवंश**— ये द्रुह्यु शर्मिष्ठा तथा ययाति के पुत्रों में अन्यतम थे। द्रुह्यु के वंश में चौथी पीढ़ी में गान्धार नामक राजा हुआ। इसी ने अपने नाम पर गान्धार देश को बसाया जहाँ इसके पूर्वज पहिले से पश्चिमोत्तर प्रान्त में शासन कर रहे थे। द्रुह्यु लोग बड़े साहसी थे। इन्होंने भारतवर्ष के बाहर जाकर म्लेच्छ देशों में भी अपने राज्य स्थापित किये। फलतः ययाति के पुत्रों में द्रुह्यु लोगों में विशेष साहस तथा पराक्रम दृष्टिगोचर होता है :—

प्रचेतसः पुत्रशतं राजानः सर्व एव हि।
म्लेच्छराष्ट्राधिपा ह्युदीचीं दिशमाश्रिताः ॥

—मत्स्य ४८।९

इसकी व्याख्या यह है। द्रुह्यु के दो पुत्रों में अन्यतम था सेतु—शरद्वान्—गन्धार—धर्म—घृत—प्रचेता। और इसी प्रचेता के पूर्व-श्लोक-संकेतित एक सौ पुत्रों ने म्लेच्छराष्ट्रों में शासन स्थापित किया। गन्धार विषय तो आजकल का अफगानिस्तान है जिसका एक प्रधान प्रान्त कन्दहार है। मत्स्य पुराण में लिखा है कि आरट्ट देश के घोड़े सबसे बढ़िया नस्ल के होते हैं—

....गन्धारस्तस्य चात्मजः ।
ख्यायते यस्य नाम्नासौ गन्धारविषयो महान् ।
आरट्टदेशजास्तस्य तुरगा वाजिनां वराः ॥

—मत्स्य ४८।७

यह आरट्ट देश पंजाब का ही एक अवान्तर प्रान्त है जिसका उल्लेख कर्णपर्व अ० ४४ और ४५ में विस्तार से किया गया है।

चन्द्रवंश की वंशावली
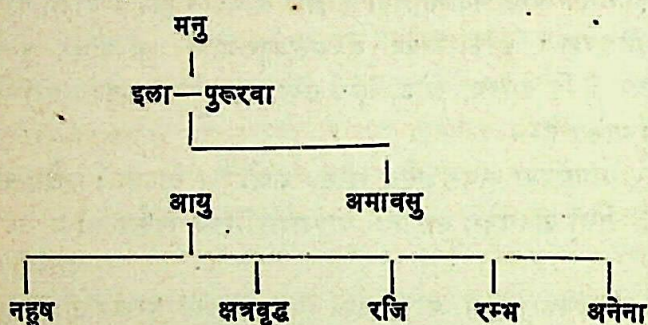
[इन पाँचों पुत्रों में नहुष से तो प्रधान शाखा चली; क्षत्रवृद्ध ने प्रतिष्ठान से हट कर काशी में अपना राज्य स्थापित किया। अन्य तीनों पुत्रों का वंश थोड़े ही पुश्तों तक चला और आगे उच्छिन्न हो गया (भाग० ९।१७।१०—१६) यहाँ मूल चन्द्रवंश-वर्णन संक्षेप में दिया गया है।]
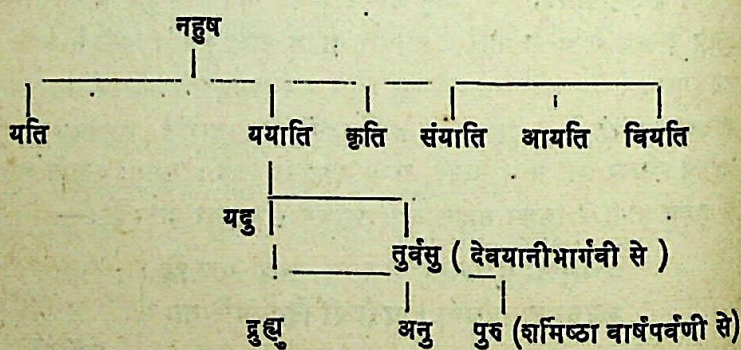
पौरव वंश

पौरव वंश की वंशावली पुराणों में विस्तार से दी गई है। प्रधान पुराणों का अनुशीलन कर तुलनात्मक दृष्टि से पौरव-वंशावली के यहां स्थानाभाव से देने का अवसर नहीं है। इस वंश के कतिपय महत्त्वशाली राजाओं का कार्य-विवरण ही संक्षेप में यहां दिया जाता है।

ययाति—अपने समय का एक चक्रवर्ती सम्राट् था। अपने श्वशुर शुक्राचार्य के द्वारा कारणवश अभिशप्त होने के कारण उसे असमय में ही वार्धक्य प्राप्त हो गया। उसके पांच पुत्रों में से कनिष्ठ पुत्र पुरु ने ही अपने यौवन का विनिमय् उसके वार्धक्य से किया। फलतः ययाति ने अनेक वर्ष पुनः राज्य-शासन किया, परन्तु भोगों से उसे तृप्ति प्राप्त नहीं हुई। तब उसने अपने दीर्घकालीन अनुभव को इस गाथा में अभिव्यक्त किया जो भोगमय जीवन की निःसारता पर एक तीव्र उपहास है :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

—आदिपर्व; भाग० ९।१९।१४

दुष्यन्त—ययाति के अनन्तर पुरु ही मूल चन्द्रवंश के राज्यसिंहासन पर बैठे। उसके आरम्भिक वंशजों में दुष्यन्त की कीर्ति को महाकवि कालिदास ने अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का नायक बना कर अमर बना दिया है। भागवत (७।२०।७) के अनुसार ये पुत्र थे रैम्य के, वायु० के अनुसार 'मलिन' के तथा विष्णु० के अनुसार 'अनिल' के। इनकी प्रधान पत्नी शकुन्तला थी जो कण्व के द्वारा पोषित और वर्धित राजर्षि विश्वामित्र की दुहिता थी। कण्व का आश्रम हिमालय की तलैटी में मालिनी नदी के तट पर था। यह क्षुद्र नदी है जो हिमालय से निकल कर उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में बहती है। वर्तमान नाम है—मालिन, जो वर्षाकाल के बाद गर्मी के दिनों में सूख जाती है।

भरत दौष्यन्ति[1]—दुष्यन्त पुत्र भरत भारतवर्ष का एक विश्रुत चक्रवर्ती था। शकुन्तला का यह पुत्र था। ऐतरेय ब्रा० (८।३३) तथा शतपथ ब्रा० (१३।५।४।१२) में अनेक प्राचीन ऐतिहासिक गाथायें उद्धृत हैं जो पुराणों में भी एतत्प्रसंग में दी गई हैं (भाग० ९।२०।२५-२९) जिनसे इसके विशिष्ट यज्ञों का परिचय मिलता है। भरत ने दीर्घतमा मामतेय ऋषि की अध्यक्षता में यमुना के तट पर ७८ अश्वमेध तथा गंगा के तीर पर ५५ अश्वमेध यज्ञों (कुल मिलकर १३३ अश्वमेधों) का सम्पादन किया। यह विश्रुत घटना भरत के माहात्म्य की अभिव्यक्ति में पर्याप्त मानी जा सकती है। ऐतरेय ब्राह्मणस्थ गाथा भरत को 'दौष्यन्ति' कहती है, परन्तु शतपथ में उद्धृत वही गाथा उसे 'सौद्युम्नि' बतलाती है। तब दुष्यन्त तथा सुद्युम्न एक ही व्यक्ति हैं क्या? इसने अपने दिग्विजय के अन्तर्गत किरात, हूण, यवन, आन्ध्र, कंक, खश, शक आदि जातियों को जीता। इसकी तीन स्त्रियां विदर्भ की राजकुमारियाँ थीं।

---

१. द्रष्टव्य विष्णु ४।१९।२-८; वायु० ९९।१३४-१५८; मत्स्य० ४९।११। ३३; भाग० ९।२०।२१-३२।

इनमें से किसी से सुयोग्य पुत्र के न होने पर भरत ने मरुतस्तोत्र यज्ञ किया जिससे इसे पुत्र की प्राप्ति हुई। द्रोणपर्व के षोडश राजकीय उपाख्यान में भरत का भी स्वतन्त्र आख्यान है (६८ अध्याय)।

रन्तिदेव—भरत के कई पीढ़ियों के अनन्तर इस धर्मिष्ठ नरपति का जन्म हुआ। इसकी दानशीलता की कथा महाभारत (द्रोणपर्व ६७ अ०) तथा भागवत (९ स्कन्द, २१ अ०) में बड़े विस्तार से दी गई है। दीन-हीन आर्त-जनों की सेवा ही उसके जीवन का मुख्य व्रत था। इस विषय की इनकी अनेक उपादेय कथाओं का अनुशीलन रंतिदेव के उदात्त चरित्र का स्पष्ट प्रकाशक है। इनके जीवन का आदर्श इस गौरवमयी गाथा में संचित है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्[1]॥

—(महाभारत)

अपने पिता के नाम पर यह 'सांकृत्य' या 'सांकृति' कहलाता था।

हस्ती—रन्तिदेव की कई पीढियों के अनन्तर यह प्रख्यात पौरव राजा हुआ जिसने अपने नाम पर 'हस्तिनापुर' नामक प्रख्यात नगर बसाया जो आज भी इसी नाम से मेरठ जिले में गंगा के तट पर वर्तमान है। भाग० (९।२१। २०) के अनुसार इसके पिता का नाम था बृहत्-क्षत्र, परन्तु वायु (९९।१६५) तथा विष्णु (४।१९।१०) के अनुसार सुहोत्र।

कुरु—महाराज हस्ती के तीन पुत्र थे—अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ। इनमें से अजमीढ़ मूल पौरव सिंहासन पर बैठा, द्विमीढ का कुल आसपास पाञ्चाल में राज्य करता था। पुरुमीढ का वर्णन नहीं मिलता। सम्भवतः उसका कुल ब्राह्मण हो गया (क्षत्रोपेता द्विजातयः)। ऋ० ४।४३,४।४४ के पुरुमीढ तथा अजमीढ द्रष्टा ऋषि माने गये हैं। अजमीढ के अनन्तर पौरववंश के राजाओं के नामों में बड़ी गड़बड़ी दीखती है। अजमीढ का ही पुत्र ऋक्ष (सम्भवतः ऋक्ष द्वितीय) हुआ जिसका पुत्र था संवरण। आदिपर्व के अनुसार किसी पाञ्चाल राजा[1] ने दश अक्षौहिणी सेना लेकर इस पर आक्रमण किया

---

१ इसी गाथा का समानार्थक श्लोक भागवत (९।२१।१२) में उपलब्ध होता है जो रन्तिदेव की ही विशद उक्ति है :—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

१. इस राजा की पहिचान के लिए द्रष्टव्य भगवद्दत्तः भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ ११४

— मत्स्य ९०।२०

(आदिपर्व, ८९ अध्याय, ३२-३३ श्लो०)। संवरण अपने राज्य से भाग कर सिन्धु नद के निकुंजों में अनेक वर्षों तक रहा; फिर वसिष्ठ की कृपा से अपना राज्य पुनः पाने में समर्थ हुआ। सूर्यकन्या तपती से इसने शादी की जिसका पुत्र हुआ महान् वंशधर कुरु जिसने कुरुक्षेत्र के प्रदेश को कृषियोग्य बनाया। इसने प्रयाग को छोड़कर कुरुक्षेत्र को समृद्ध बनाया[2]। हस्तिनापुर तो राजा हस्ती के समय से ही पौरववंश की राजधानी थी। कुरुक्षेत्र यज्ञ-यागादिकों के सम्पादन से धर्मक्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ। कुरु के ही नाम पर कौरव-वंश का नामकरण हुआ। इन्हीं के वंशज होने से दुर्योधन आदि कौरव नाम से अभिहित होते हैं।

कुरु से जनमेजय तक वंशावली
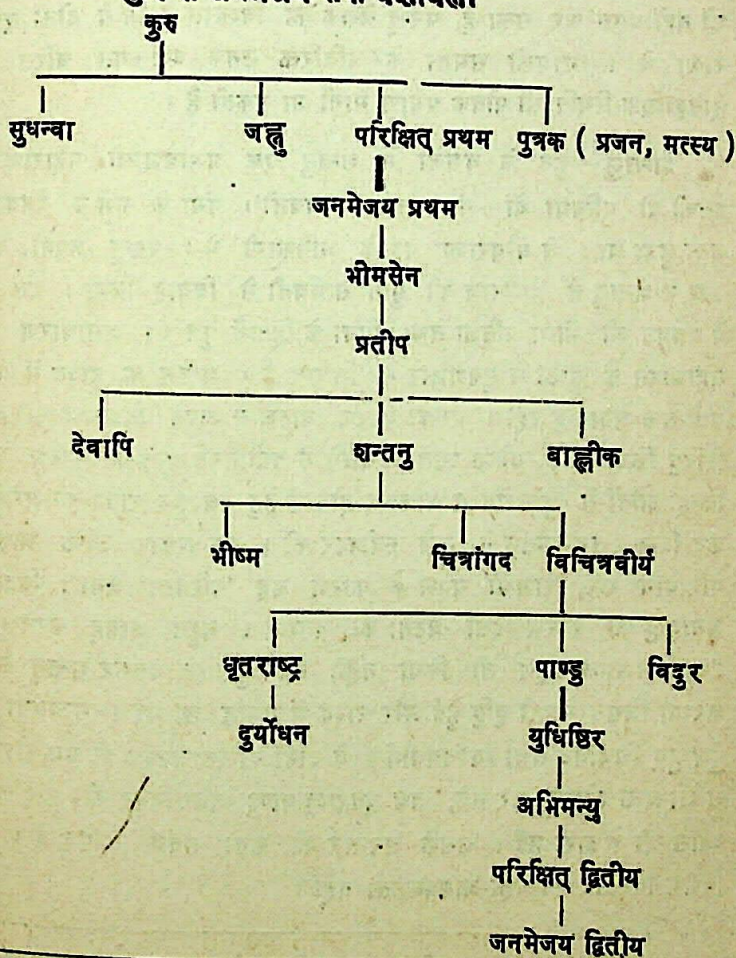
२. यः प्रयागमतिक्रम्य कुरुक्षेत्रमकल्पयत्। —मत्स्य ५०।२०
यः प्रयागं पदाक्रम्य कुरुक्षेत्रं चकार ह ॥ —वायु० ९९।२१५

कुरु से लेकर महाभारत युद्ध तक होने वाले कुरुवंशीय पुरुषों की यह वंशावली घटनाओं को समझने के लिए आवश्यक है। इसीलिए यहाँ ऊपर दी गई है।

कुरुसंवरण—ऋग्वेद के कई मन्त्रों में (१०।३२।९; १०।३३।४) में **कुरुश्रवण** नामक राजा की दानस्तुति वर्णित है। महाभारत तथा पुराणों में संवरण के पुत्र कुरु का वृत्तान्त वर्णित है। डा० पुलासकर ने एक लेख में वैदिक **कुरुश्रवण** तथा पौराणिक **कुरुसंवरण** की एकता के प्रतिपादक अनेक युक्तियां उपस्थित की हैं जो इन दोनों राजाओं के ऐक्य के प्रतिपादन में समर्थ मानी जा सकती हैं।[1] परन्तु अभी भी यह समीकरण सर्वमान्यता को नहीं प्राप्त कर सका है, परन्तु लेखक का विश्वास है कि ये दोनों एक ही राजा थे। नामकी समता के अतिरिक्त उनके व्यक्तिगत चरित तथा ऐतिहासिक स्थिति भी पोषक प्रमाण मानी जा सकती है।

शन्तनु—कुरु के वंशजों में शन्तनु एक प्रभावशाली महाराज थे। इनकी दो पत्नियां थीं—गंगा तथा सत्यवती। गंगा के गर्भ से देवव्रत का जन्म हुआ था। वे यौवराज्य पद के अधिकारी थे। परन्तु अपनी ढलती उम्र में शन्तनु ने दाशराज की पुत्री सत्यवती से विवाह किया। इस प्रसंग में देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा तथा पिता के हितार्थ पुत्र का असाधारण त्याग महाभारत के पृष्ठों में सुवर्णाक्षर से लिखित है। शन्तनु के राज्य में बारह वर्षों तक अनावृष्टि रही। इसका कारण यास्क ने अपने निरुक्त (२।१०) में निर्दिष्ट किया है कि ज्येष्ठ भ्राता देवापि ने तपोनिरत होने के कारण अथवा किन्हीं स्रोतों से कुष्ठरोग से आक्रान्त होने के हेतु जब कुरु राज्य को अस्वीकार कर दिया, तब शन्तनु ने गद्दी स्वीकार की। इस प्रकार ज्येष्ठ भ्राता का परित्याग कर, राजश्री ग्रहण के कारण वह 'परिवेत्ता' बना। विद्वानों ने अनावृष्टि का कारण इसी घटना को बताया। बहुत आग्रह करने पर भी देवापि ने राज्य ग्रहण तो किया नहीं; स्वयं पुरोहित बनकर शन्तनु का यज्ञ कराया जिससे महती वृष्टि हुई और राज्य में समृद्धि छा गई। सत्यवती के दो पुत्र हुए चित्रांगद तथा विचित्रवीर्य। ये दोनों बालक अकाल ही जब राजयक्ष्मा से आक्रान्त होकर मर गये, तब धृतराष्ट्र पाण्डु तथा विदुर की उत्पत्ति वेदव्यास जी के द्वारा हुई। उसके अनन्तर की कथा सर्वथा प्रसिद्ध है। उसके विशेष विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं।

---

१. डा० पुसालकरः स्टडीज इन एपिक्स ऐण्ड पुराणाज आव इंडिया, बम्बई १९५५; पृष्ठ ४२–४८

आर्यों का मूल स्थान

आर्यों के मूल स्थान के विषय में पुराणों के भीतर विपुल सामग्री उपलब्ध होती है। उसका अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि पुराण आर्यों का मूल निवास मध्यदेश में ही मानता है। इतना तो पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं कि वेद या पुराण कहीं पर भी आर्यों का भारतवर्ष में बाहर से आगमन का साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता, प्रत्युत वह तो आर्यों का मूल स्थान मध्यदेश गंगा-यमुना के मध्यवर्ती भूभाग में स्पष्टतः संकेत करता है। पुराणों के साक्ष्य का निष्कर्ष यहाँ प्रस्तुत है :—

(१) आर्यों के दो प्रधान कुल थे—सूर्यवंशी क्षत्रियों की राजधानी थी अयोध्या तथा चन्द्रवंशियों का प्रतिष्ठान (प्रयाग)। इन्हीं दोनों नगरों के बीच में आर्यों का मूल निवास था। मध्य देश के भीतर स्थूल रूप से सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश, बिहार, सरस्वती नदी तक पूरबी पंजाब का भाग सम्मिलित मानना चाहिए। आर्यों के आदि कुलों की पूरबी शाखाओं को इस प्रदेश में बसने में अनार्यों से किसी प्रकार का युद्ध नहीं करना पड़ा था। अर्थात् इन क्षेत्रों में आर्यों का निवास पहिले से ही था।

(२) चन्द्र तथा सूर्यवंश की अवान्तर शाखाओं के फैलने का तथ्य ऊपर दिखलाया गया है। उससे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि ये लोग अपने मूल केन्द्र अयोध्या तथा प्रतिष्ठान से ही पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की ओर फैले। पश्चिमोत्तर से पूर्व की ओर आर्यों के फैलाव का प्रमाण कहीं नहीं मिलता; इसके विपरीत इक्ष्वाकु के निकट वंशजों से लेकर पाञ्चाल-राजा सुदास तक आर्यों का बढ़ाव मध्यदेश से ही पश्चिम-उत्तर की तरफ होता गया; इस तथ्य के प्रमाण ऊपर निर्दिष्ट हैं।

(३) आर्योंने कालक्रम से केवल भारत के भीतर ही अपना विस्तार करके सम्पूर्ण उत्तरापथ पर ही अपना अधिकार नहीं जमाया, प्रत्युत वे भारत के बाहर भी पश्चिमोत्तर के गिरिभागों को पार कर अफगानिस्तान, मध्य एशिया, ईरान तथा भूमध्यसागरीय प्रदेश तक फैल गये। इस बढ़ाव की सूचना वैदिक मन्त्रों से भी मिलती है। पुराणों में भी विस्तार से जहाँ विवरण है, ऋग्वेद में वहां संकेतमात्र मिलता है। ऋग्वेद का १० मण्डल का ७५ वां सूक्त प्रख्यात नदीसूक्त है जिस में नदियों के नाम दिये गये हैं। इस सूक्त में आर्यों के क्रमशः गंगा, कुभा (काबुल नदी), गोमती (गोमल) और क्रुमु (कुर्रम) नदियों को पार कर अपने घोड़ों और रथों के साथ पश्चिम की ओर बढ़ने का स्पष्ट निर्देश है। ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद में नदियाँ पूरब से पश्चिम की ओर गिनाई गई हैं जो आर्यों के विस्तार की दिशा का ही स्पष्ट द्योतक है। यदि

आर्यों का विस्तार इसकी उल्टी दिशा में पश्चिमोत्तर से पूरब की ओर रहता, तो नदियों का उसी प्रकार का संकेत ऋग्वेद में मिलना स्वाभाविक होता।

(४) पुराण की बातों का समर्थन वेद में भी उपलब्ध होता है। दोनों की जाति-विस्तार की सूचना में नितान्त साम्य है। पुराणों में चन्द्रवंशी राजा ययाति के पुत्रों तथा उनके वंशजों पुरु, यदु, द्रुह्यु, अनु, तुर्वसु का इतिहास विस्तार से वर्णित है। वेदों में इन्हीं के वंशजों का उल्लेख मिलता है। पुराण में पाञ्चाल राजा सुदास और पंजाब के राजाओं के बीच युद्ध का वर्णन है। वेदों में भी सुदास और पंजाब की दश जातियों के बीच होने वाले दाशराज्ञ युद्ध का उल्लेख मिलता है। फलतः पुराण तथा वेद में उल्लिखित घटनाओं की एकता तथा समानता स्पष्टतः अनुमानगम्य है। फलतः न पुराण आर्यों को बाहर से भारत में आने वाली जाति मानने के पक्ष में है, न वेद ही है[1]।

महाभारतोत्तर राजवंश

(कलिवंशवर्णन)

पुराणों की वंशावली इतिहास के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती है। महाभारतोत्तर राजवंशों का विवरण महाभारत-पूर्व वंशावली की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। छठी शती ई० पू० के लगभग का इतिहास जानने के लिए पुराणों का आधार लेना ही पड़ता है क्योंकि अन्य स्रोतों की अपेक्षा पुराणों का वृत्तान्त ही अधिक सही जान पड़ता है। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है और हम शैशुनागादि युगों को परवर्ती काल में प्रविष्ट होते हैं, पौराणिक वृत्तान्तों की ऐतिहासिकता निखरती सी गयी है। शुङ्गों, कण्वों, आन्ध्रों आदि के ऐतिहासिक ज्ञान का मुख्य आधार तो पुराण ही है। यदि पुराण न होते तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कि इन महान राजवंशों के अन्य स्रोतों से केवल दो-चार नाम ही हमें (बहुधा संदिग्ध रूप में) ज्ञात हो पाते। इस युग का पुरावृत्त मुद्रा तथा अभिलेख तथा साहित्य से बहुविधि प्रमाणित है। कलिजन्य अराजकता का वृत्तान्त हूणों द्वारा की गयी देश की तबाही का प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार बहुलांश पुराणों का राजवंश-विवरण प्रामाणिक है।

---

१. इस विषय में अन्य प्रमाणों के लिए द्रष्टव्य डा० राजबली पाण्डेय का एतद्विषयक लेख—नागरी प्रचारणी पत्रिका वर्ष ५४, सं० २००६, पृष्ठ ६३-७३। इसके विपरीत मेरुप्रदेश में आर्यों के मूलस्थान के समर्थन के निमित्त द्रष्टव्य डा० हर्षे का लेख माउण्ट मेरु : दी होमलैण्ड आव दी आरियन्स (होशियारपुर, १९६४)

पार्जिटर की धारणा है कि कलिनृपों के वृत्तान्त का संकलन सर्वप्रथम भविष्यपुराण में किया गया और उसके आधार पर फिर मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, गरुड़ और भागवत में किया गया। गरुड और भागवत का कलिनृप-वर्णन संक्षिप्त है। मत्स्य और वायु तथा भविष्य का प्रामाणिक और अपेक्षाकृत पूर्ण है। पुराणों में राजवंशों के वृत्तान्त का संकलन चारण और भाँटों में प्रचलित जनश्रुतियों के आधार पर किया गया है। संकलन में प्रायः उन्हीं राजाओं पर ध्यान दिया गया है जो मगध के केन्द्र से देश को शासित करते थे या मगध की राजनीति से आबद्ध थे। पौरव और इक्ष्वाकु का वृत्तान्त अभी तक पूरी तरह इतिहास-सम्मत न हो पाया है, क्योंकि इनके विवरण में अनैतिहासिक जनश्रुतियाँ अधिक हैं।

बार्हद्रथ, प्रद्योत और शैशुनागवंश

बृहद्रथ ने राज्यगृह में मगध साम्राज्य का स्थापना की थी। यह जरासन्ध के पुत्र सहदेव के वंश का था। पुराणों के अनुसार बार्हद्रथ वंश के ३२ राजाओं ने मगध का शासन लगभग १००० वर्षों तक किया। मत्स्यपुराण का वचन है :—

> द्वात्रिंशति नृपा ह्येते भवितारो बृहद्रथाः।
> पूर्ण-वर्ष-सहस्रन्तु तेषां राज्यं भविष्यति॥
>
> —(मत्स्य० २७०।३०–३१)

इस वंश का अन्तिम राजा रिपुजन्य था। इसकी हत्या पुलिक या पुलक नामक इसी के मंत्री ने की थी और उसने प्रद्योतवंश की स्थापना की। पुराणों का यह वृत्तान्त अशुद्ध है। प्रद्योत अवन्ति का राजवंश था जो भ्रमवश मगध-शासन से सम्बद्ध कर दिया गया है। पुराणों के अनुसार प्रद्योत वंश के पाँच राजा हुये जिन्होंने १३८ वर्ष तक राज्य किया। पुराणों के अनुसार प्रद्योतवंश का अन्त शिशुनाक द्वारा हुआ।

शिशुनाग-वंशीय राजाओं का क्रम और शासनकाल निम्नतालिका से समझा जा सकता है। यह तालिका मत्स्य पुराण (अ० २७१) के आधार पर प्रस्तुत की गयी है :—

(१)	शिशुनाग	४० वर्ष	१२६ वर्ष
(२)	काकवर्ण	२६ "	
(३)	क्षेमधर्मन्	३६ "	
(४)	क्षेमजित्	२४ "	

(५)	विम्बसार	२८ वर्ष
(६)	अजातशत्रु	२७ ,,
(७)	दर्शक	२४ ,,
(८)	उदासीन या उदायी	३३ ,,
(९)	नन्दिवर्धन	४० ,,
(१०)	महानन्दिन्	४३ ,,
	योग	३२१ वर्ष

किन्तु मत्स्यपुराण की यह वंशावली महावंश से नहीं मिलती है। महावंश में नन्दपूर्व मगधराजाओं की सूची इस क्रम से है :—

(१) बिम्बसार (२) अजातशत्रु
(३) उदयभद्र (४) अनुरुद्ध
(५) मुण्ड (६) नागदासक
(७) शिशुनाग (८) कालाशोक या काकवर्ण
(९) कालाशोक के दस पुत्र

इतिहास-सम्मत तथ्य यह है कि रिपुजन्य के बाद बिम्बसार राजा हुआ। इस प्रकार बिम्बसार—अजातशत्रु—उदायी, अनुरुद्ध—मुण्ड—नागदशक के बाद शिशुनाग का राज्यारोहण हुआ। शिशुनाग के उत्तराधिकारी क्रमशः काकवर्ण (कालाशोक ?) क्षेमधर्मन् और क्षेमजित् थे। पुराणसूची के नन्दिवर्धन और महानन्दिन् सम्भवतः काकवर्ण के दस पुत्रों में से थे। शिशुनाग-वंश का अन्तिम राजा पुराणों के अनुसार महापद्मनन्द था। उसका नाम या उपनाम उग्रसेन भी था। उसके विषय में पुराणकारों का यह वचन बड़ा ही प्रसिद्ध है :—

'महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशजः।
उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रान्तको नृपः॥
ततः प्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनयः।
एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति॥

—मत्स्य. १७१।१७–१८

मत्स्यपुराण के अनुसार नन्दवंश का उन्मूलन चाणक्य के सहयोग से हुआ।

उद्धरिष्यति कौटिल्यः समैर्द्वादशभिः सुतान्।
भुक्त्वा महीं वर्षशतं ततो मौर्य्यान् गमिष्यति॥

—मत्स्य. १७१. २१.

मौर्यों का पौराणिक वृत्त

मौर्यवंश—

पुराणों से मौर्यों का वंश-क्रम जानने में बड़ी सहायता मिलती है। मौर्यों का वंशानुक्रम वायु (अ० ९९) मत्स्य (अ० २७२) ब्रह्माण्ड (अ० ३) विष्णु (अ० ४।२४) भविष्य (१२।१) में वर्णित है। विभिन्न पुराणों की वंश-तालिका इस प्रकार है।

वायु और ब्रह्माण्ड पुराण :—

चन्द्रगुप्त
अशोक
कुणाल
बन्धुपालित
इन्द्रपालित
देववर्मा
शतधनुष
बृहद्रथ

पार्जिटर ने वायुपुराण के आधार पर एक अन्य सूचीं भी दी है जिसमें, चन्द्रगुप्त, अशोक, कुलाल या कुणाल, बन्धुपालित, दशोण, दशरथ, सम्प्रति, शालिशुक, देवधर्मन, शतधन्वन् और बृहद्रथ के नाम हैं।[1]

मात्स्य[2] की सूची में छः राजाओं के नाम हैं :—

चन्द्रगुप्त
अशोक

---

१. पार्जिटर पुराण टेक्सट आफ द डाइनेस्टीज आफ द कलि एज पृ० २८—२९.

२. कौटिल्यश्चन्द्रगुप्तं तु ततो राज्ये भविष्यति।
षट्त्रिंशत्तु समा राजा भविताशोक एव च॥
सप्तानां दशवर्षाणि तस्य नप्ता भविष्यति।
राजा दशरथोऽष्टौ तु तस्य पुत्रो भविष्यति।
भविता नववर्षाणि तस्य पुत्रश्च सम्प्रतिः॥
भविता शतधन्वा च तस्य पुत्रस्तु षट्समाः।
बृहद्रथस्तु वर्षाणि तस्य पुत्रश्च सप्ततिः॥
इत्येते दश मौर्य्यास्तु ये भोक्ष्यन्ति वसुन्धराम्।
सप्तत्रिंशच्छतं पूर्णं तेभ्यः शुङ्गान् गमिष्यति॥
—मत्स्य (आनन्दाश्रम) २७२। २३-२६

दशरथ
सम्प्रति
शतधन्वन्
बृहद्रथ

विष्णुपुराण की सूची की नामावली मत्स्य और वायु से कुछ भिन्न है। इसके अनुसार मौर्यों का वंशक्रम इस प्रकार है :—

चन्द्रगुप्त
अशोक
सुयश
दशरथ
संगत
शालिशुक
सोमवर्मन्
सम्प्रति
शतधन्वन्
बृहद्रथ

इस प्रकार विभिन्न पुराणों से मौर्य राजाओं की जो सूची हमें मिलती है वह समान नहीं है। राजाओं के नाम भिन्न-भिन्न मिलते हैं। किन्तु इस तथ्य में सभी पुराणों में मतैक्य है कि मौर्यों का शासनकाल १३७ वर्ष (सप्तत्रिंशाच्छतं पूर्णं) रहा, जिसमें चन्द्रगुप्त से अशोक की शासन अवधि ८५ वर्ष और शेष अशोक के उत्तराधिकारियों का शासनकाल है। यह आश्चर्य की बात है कि किसी भी पुराण में चन्द्रगुप्त के पुत्र और अशोक के पिता बिन्दुसार का नाम नहीं है। अशोकोत्तर मौर्य राजाओं की संगति भी अन्य साध्यों से आंशिक रूप से ही मिलती है। अशोक का उत्तराधिकार कुणाल को मिला अथवा दशरथ को ? इसमें बड़ा विवाद है। मत्स्यपुराण की सूची में कुणाल का नाम नहीं है। अभिलेखीय प्रमाण[1] (नागार्जुनी, जिला गया, बिहार) से अनुमान होता है कि दशरथ का शासनकाल अशोक के बहुत ही सन्निकट था। मत्स्यपुराण के अनुसार अशोक का उत्तराधिकार दशरथ ही था। सम्भव है कि कुणाल ने मौर्य साम्राज्य के पश्चिमोत्तरीय अंश (गंधार, कश्मीर) पर अपना आधिपत्य स्थापित किया हो और उसका गृहराज्य से कोई सम्बन्ध न

उपर्युक्त पाठ के अनुसार दश राजाओं के नाम पूर्ण नहीं होते। मोर संस्करण का यह अंश बड़ा भ्रष्ट है।

१. इसी ग्राफिया इण्डिका खण्ड० २० पृ० ३६४. यह लेख बहूलर के मत से लगभग ई० पू० २३२ ई० पू० का है।

स्थापित हो सका हो। विद्वानों ने विष्णुपुराण की सूची के सुयश को कुणाल का उपनाम माना है।[1] सम्प्रति कुणाल और दशरथ दोनों की शासनावधि पुराणों के अनुसार आठ वर्ष थी। दोनों ही का उत्तराधिकार अनुमानतः सम्प्रति को मिला, जिसका शासन उज्जैनी पर भी था।[2] बन्धुपालित, इन्द्रपालित और दशोण के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनके विषय में पुराणों में कुछ भी तथ्य नहीं है। इनके परस्पर सम्बन्धों पर भी पुराणों में मतैक्य नहीं है। सम्भवतः ये मौर्यों के सम्बन्धी थे और मौर्यों के अधीन कहीं शासन करते रहे होंगे।[3] सम्प्रति का उत्तराधिकारी शालिशुक प्रतीत होता है, जिसकी चर्चा मौर्य राजा के रूप में युगपुराण में भी है।[4] विष्णुपुराण के अनुसार शालिशुक का उत्तराधिकारी सोमवर्मन था। यह सोमवर्मन् और वायुपुराज का देववर्मन एक ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार शतधन्वन और शतधनुष भी एक ही प्रतीत होते हैं।[5] सभी पुराणों में इस बात का मतैक्य है कि मौर्यवंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था।

शुङ्गवंश—

शुङ्गों और कण्वों के ऐतिहासिक वृत्त का मुख्य आधार पुराण है। इनका इतिहास मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड और भविष्य पुराणों में मिलता हैं। इन सभी पुराणों में सामान्य अन्तर के साथ मत्स्यपुराण का ही वृत्तान्त दुहराया गया है, जो इस प्रकार है :—

पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथान्।
कारयिष्यति वै राज्यं षट्त्रिंशति समा नृपः॥
अग्निमित्रः सुतश्चाष्टौ भविष्यति समा नृपः[6]।
भवितापि वसुज्येष्ठः सप्तवर्षाणि वै नृपः॥
वसुमित्रस्तथा भाव्यो दशवर्षाणि वै ततः।
ततोऽन्तकः समिद्धे तु तस्य पुत्रो भविष्यति॥
भविष्यति समस्तस्मात्त्रीण्येवं स पुलिन्दकः।

---

१. पूशाँ, ल इण्डे ओ टेम्स् दे मौर्याज पृ० १६४.
२. रोमिला थापर—अशोक एण्ड दि डिकलाइन आफ दि मौर्याज् पृ० १९५.
३. थापर पृ० १९६.
४. युगपुराण (मनकड़ संस्करण) पृ० ३२
५. थापर पृ० १९६.
६. यह पंक्ति केवल आनन्दाश्रम संस्करण में है।

राजाघोषसुतस्यापि वर्षाणि भविता त्रयः[1] ॥
भविता वज्रमित्रस्तु समाराजा पुनर्भवः ।
द्वात्रिंशत्तु समाभागः समाभागात्ततो नृपः ॥
भविष्यति सुतस्तस्य देवभूमिः समा दश ।
दशैते क्षुद्रराजानो भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम् ॥
शतपूर्णं शताब्दे च ततः शुङ्गान् गमिष्यति ।

—मत्स्य २७२।२६—३१.

इसके तथा अन्य पुराणों के आधार पर शुंग राजाओं का क्रम और उनका शासन-काल इस प्रकार समझा जा सकता है :—

राजा	शासनकाल
पुष्यमित्र	३६ अथवा ६० वर्ष
अग्निमित्र	८ वर्ष
वसुज्येष्ठ (सुजेष्ठ)[2]	७ ,,
वसुमित्र (सुमित्र[3])	१० ,,
ओद्रक (आन्ध्रक अथवा अन्तक[4])	२ अथवा ७ वर्ष
पुलिन्दक	३ वर्ष
घोष[5]	३ ,,
वज्रमित्र	९ अथवा ७ वर्ष
भाग (भागवत[6])	३२ वर्ष
क्षेमभूमि अथवा देवभूमि अथवा देवभूति[7]	१० ,,

मत्स्यपुराण में घोष का नाम नहीं दिया गया है, किन्तु शुङ्ग राजाओं की दश संख्या को यहाँ भी स्वीकार किया गया है। (दशैते क्षुद्रराजानः···)

१. यह पंक्ति वायु पुराण में है, मत्स्यपुराण के कुछ ही संस्करणों में उपलब्ध है। पार्जिटर पृ० ३२

२. सुजेष्ठ नाम वायुपुराण ९९।३३८ में आता है।

३. मत्स्यपुराण के कुछ संस्करणों में केवल सुमित्र पाठ है। पार्जिटर पृ० ३१

४. आन्ध्रक नाम वायुपुराण ९९. ३३९ में आता है। अन्तक नाम मत्स्य पुराण के मोर संस्करण में है जो भ्रष्ट है।

५. घोष पाठ वायुपुराण ९९. ३४० में स्पष्ट है। मत्स्यपुराण के प्रामाणिक संस्करणों में नहीं है।

६. वायुपुराण में भागवत नाम है और मत्स्य पुराण में भाग।

७. देवभूमि मत्स्य का पाठ है, क्षेमभूमि वायु का और देवभूति विष्णु पुराण का पाठ है।

पुष्यमित्र की ऐतिहासिकता बहुविधि प्रमाणित है इसकी तथा इसके दो उत्तराधिकारियों (अग्निमित्र और वसुमित्र) की चर्चा कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक (अंक ५) में भी है। शुङ्ग वंश के अन्य राजाओं का विवरण (भाग या भागवत को छोड़ कर) अन्य किसी साक्ष्य से सुलभ नहीं है। विदिसा के गरुड स्तम्भ में हिलियोदोर का जो लेख है, वह किसी भागभद्र नामक राजा का उल्लेख करता है[1]। यह भागभद्र पुराण-तालिका के भाग या भागवत से तुलनीय है।

पुराणों में शुङ्ग राजाओं का जो शासन-काल दिया है, उसका योग १२० वर्ष आता है। किन्तु इसकी संगति "शतं पूर्णं दश द्वे च ततः शुङ्गान् गमिष्यति[2]" से नहीं मिलती।

कण्ववंश—

शुङ्गों का विनाश इस वंश के अन्तिम राजा देवभूमि या देवभूति को मार कर इसके आमात्य वसुदेव द्वारा हुआ। हर्षचरित में कहा गया है कि अतिस्त्रीव्यसन के परवश देवभूति को अमात्य वसुदेव ने रानी वेशधारिणी उसकी दासी-पुत्री द्वारा मरवा दिया[3]। विष्णुपुराण में इस घटना का वर्णन इन शब्दों में है :—

> देवभूतिं तु शुङ्ग-राजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः
> कण्वो वसुदेवनामा तं निहत्य स्वयमवनीं मोक्ष्यति ॥
>
> —विष्णुपुराण० ४. २४. ३९

मत्स्य पुराण में कण्वों की वंशावली इस प्रकार है :—

> अमात्यो वसुदेवस्तु प्रसह्य ह्यवनीं नृपम्।
> देवभूमिमथोत्साद्य शौङ्गस्तु भविता नृपः ॥
> भविष्यति समा राजा नव काण्वायनो नृपः।
> भूमिमित्रः सुतस्तस्य चतुर्दश भविष्यति ॥

---

१. फोगल आर्कलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट १९०८–९ पृ० १२६

२. इस महत्त्वपूर्ण पंक्ति के कई भ्रष्ट पाठ पुराणों में मिलते हैं। प्रस्तुत संशोधित पाठ मत्स्य (मोर संस्करण) २७२. ३१ और वायु (मोर संस्करण) ९९. ३४३ के आधार पर है।

३. अतिस्त्रीसंगतरतमनङ्गपरवशं शुङ्गममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यंजनया वीतजीवितमकारयत्।

—हर्षचरित (बम्बई संस्करण) अ० ६ पृ० १९९

नारायणः सुतस्तस्य भविता द्वादशैव तु।
सुशर्मा तत्सुतश्चापि भविष्यति दशैव तु॥
इत्येते शुङ्गभृत्यास्तु स्मृताः काण्वायना नृपाः।
चत्वारिंशद् द्विजा ह्येते काण्वा भोक्ष्यन्ति वै महीम्॥
चत्वारिंशत्पञ्च चैव भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम्।
एते प्रणतसामन्ता भविष्या धार्मिकाश्च ये॥
येषां पर्यायकाले तु भूमिरान्ध्रान् गमिष्यति।

—मत्स्य २७१।३१—३६

इस आधार पर कण्व राजाओं की तालिका इस प्रकार होगी :—

वसुदेव	९ वर्ष
भूमिमित्र	१४ „
नारायण	१२ „
सुशर्मन्	१० „
	योग = ४५ वर्ष

आधुनिक इतिहासकार कण्व-वंश की स्थापना लगभग ७२ ई० पू० मानते हैं। इनका शासन-काल ४५ वर्ष था। इस प्रकार इनका आन्ध्रों द्वारा अन्त लग भग २९ ई० पू० में ठहरता है। कण्व राजाओं की उपलब्धियों के विषय में पुराण मौन है।

सातवाहनों को पुराणों में आन्ध्र या आन्ध्रजातीय कहा गया है। इससे लगता है कि इनका मूलस्थान गोदावरी और कृष्णा नदियों की घाटी में था। यह आश्चर्य है कि सातवाहन नृप अपने अभिलेखों में अपने को आन्ध्र नहीं कहते। इनका उदय-काल भी बड़ा ही विवादास्पद है। मत्स्यपुराण के अनुसार इनका शासनकाल ४५० वर्ष और वायुपुराण के अनुसार ३०० वर्ष था। इस वंश का संस्थापक सिमुक था।

मत्स्यपुराण ही में आन्ध्रों का वृत्तान्त अच्छा मिलता है[1]। वायु (९९। ३४८-३५८) ब्रह्माण्ड (३।७४।१६०-१७०) विष्णु (४।२४।१२-१३) और भविष्य (१२।१।२२-२८) में आन्ध्रों का अपूर्ण विवरण है। वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु और भागवत के अनुसार आन्ध्र राजाओं की संख्या ३० थी। किन्तु किसी भी उपर्युक्त पुराणों में इन तीसो राजाओं का नाम उपलब्ध नहीं है। वायु की विभिन्न प्रतियों में आन्ध्र राजाओं की संख्या १७, १८, १९ या ३०, ब्रह्माण्ड में १७ और भागवत में २३ तक ही राजाओं की नामावली दी गयी

१. मत्यपुराण (मोर०) २७२।१–१७

है। मत्स्य के विभिन्न संस्करणों के आधार पर पार्जिटर ने ३० राजाओं की नामावली प्रस्तुत की है।[1] आन्ध्र राजाओं के नाम और उनका क्रम इस प्रकार है :—

१. सिमुक	१६. अरिष्टकर्ण
२. कृष्ण	१७. हाल
३. श्री सातकर्णि	१८. मन्तलक
४. पूणोत्संग	१९. पुरीन्द्रसेन
५ स्कन्दस्तम्भि	२०. सुन्दर शातकर्णि
६. शातकर्णि	२१. चकोर
७. लम्बोदर	२२. शिवस्वाति
८. आपीलक (दिविलक)	२३. गौतमीपुत्र
९. मेघस्वाति	२४. पुलोमा
१०. स्वाति	२५. शातकर्णि[2]
११. स्कन्दस्वाति	२६. शिवश्री
१२. मृगेन्द्र	२७. शिवस्कन्ध
१३. कुन्तल	२८. यज्ञश्री
१४. स्वातिवर्ण	२९. चण्डश्री
१५. पुलोमाविं (पटुमान्).	३०. पुलोमावि

इन राजाओं में बहुतों की ऐतिहासिकता अन्य साक्ष्यों से भी प्रमाणित हो चुकी है। प्रथम तीन सातवाहन राजाओं के नाम नानाघाट अभिलेख में भी आते हैं। मुद्रा तथा अभिलेखों के आधार पर गौतमीपुत्र, पुलोमा या पुलमावि और यज्ञश्री की भी ऐतिहासिकता असन्दिग्ध है। पुराणों में श्री शातकर्णि के दो उत्तराधिकारियों के नाम पूजोत्संग और स्कन्धस्तम्भि कहे गये हैं। नागनिका के नानाघाट अभिलेख में, इनके नाम नहीं हैं किन्तु इनके स्थान पर वेदिश्री और शक्तिश्री आते हैं। आपीलक की एक ताम्र-मुद्रा मिली है। 'गाथा-सप्तशती' का लेखक हाल तो प्रसिद्ध ही है। गौतमीपुत्र और पुलमावि से सम्बद्ध लेख नासिक और कार्ली में मिले हैं। इनके सिक्के भी उपलब्ध हुये हैं। अभिलेखों में पुलमावि अपने को वाशिष्ठीपुत्र भी कहता है। इसके पुत्र शातकर्णी

---

१. पार्जिटर पृ० ३६।

२. पुराणतालिका में सम्भवतः भ्रमवश शातकर्णि दुहरा कर आया है। यदि पुलोमापुत्र शातकर्णि को मान्यता न दें, तो आन्ध्र राजाओं की सूची केवल २९ राजाओं तक ही सीमित रह जायगी।

का सम्बन्ध प्रसिद्ध शकनृप रुद्रदामन् से था। पुराण-तालिका के शिव श्री पुलोम और शिवस्कन्ध (शिवस्कन्द) की भी ऐतिहासिकता उनकी मुद्राओं से प्रमाणित है। शिवस्कन्द के पुत्र यज्ञश्री शातकर्णि के अभिलेख उपलब्ध हुये हैं। यज्ञश्री का उत्तराधिकारी विजय था जिसकी ऐतिहासिकता पुराण और मुद्रा, दोनों ही से सिद्ध है। पुराण-तालिका का अन्तिम राजा पुलमावि मुद्रा तथा अभिलेखीय प्रमाण से भी सुज्ञात है।

इस प्रकार आन्ध्र राजाओं का पौराणिक वृत्त बहुलांश में प्रामाणिक सिद्ध होता है।

सातवाहनों के परवर्त्ती राजवंश—पुराणों में राजवंशावली का संकलन मुख्यतया सातवाहनों के शासनकाल में (यज्ञश्री के शासनकाल में) लगभग पूरा हो चुका था। अतएव परवर्ती राजवंशों का अत्यन्त संक्षिप्त और अल्प विवरण ही पुराणों में उपलब्ध है। क्षेत्रीय राजवंशों में जिनकी चर्चा पुराणों में प्रमुख रूप से है गर्दभिन् या गर्दभिल, शक, तुषार, मरुण्ड, हूण. आभीर, श्री पर्वतीय आदि हैं[1]। इनके अतिरिक्त वाकाटक, मग और नैषध राजवंशों की विशेष चर्चा वायु और ब्रह्माण्ड पुराण में है।[2] गुप्तों के मूलस्थान या प्रारम्भिक शासन-क्षेत्र के विषय में वायुपुराण में निम्नलिखित श्लोक मिलता है :—

अनुगङ्गं प्रयागं च साकेतं मगधान्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

—वायु० ९९।२८३

गुप्त साम्राज्य की यह स्थिति सम्भवतः चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में थी। इसके बाद के गुप्तों का विवरण पुराणों में उपलब्ध नहीं। पूर्वगुप्तों के समकालीन कुछ राजवंश जैसे चम्पावती के नाग, मथुरा के नाग, मणिधान्य के राजा (जिनके आधिपत्य में नैषध, यदुक, शैशीत, कालतोपक थे) देवरक्षित,

---

१. आन्ध्राणां संस्थिता राज्ये तेषां भृत्यान्वये नृपाः।
सप्तैवान्ध्रा भविष्यन्ति दशाभीरास्तथा नृपाः॥
सप्त गर्दभिलाश्चापि शकाश्चाष्टादशैव तु।
यवनाष्टौ भविष्यन्ति तुषाराश्च चतुर्दश॥
त्रयोदश मुरुण्डाश्च हूणो ह्येकोनविंशतिः।
× × ×
आन्ध्राः श्रीपार्वतीयाश्च ते पञ्चशतं समाः॥
—मत्स्य० २७२।१७—२३

२. वायु० अ० ९९, ब्रह्माण्ड ३।७४।

(जो कोशल, आीभर और पौण्ड्र का स्वामी था) ताम्रलिप्त, गुह, कलिंग, महिष, महेन्द्र, सौराष्ट्र, अवन्ती आदि के राजवंशों की भी चर्चा है। इससे समुद्रगुप्त के दिग्विजय पूर्व की राजनीतिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। इन सभी राजाओं के प्रति पुराणकारों की आस्था नहीं थी और इन्हें अधार्मिक कहा गया है।[1] इसके बाद कलि के दोषों का वर्णन करके[2] पुराणों में राजवंशावली का विवरण समाप्त कर दिया गया है।

१. वायु० अ० ९९।३८७–८८।

२. वायु० अ० ९९।३८८–४१२। तथा —मत्स्य० २७२।२५–३४

नवम परिच्छेद

पौराणिक धर्म

पुराण के मूल विषयों का प्रतिपादन इतः=पूर्व एक स्वतन्त्र परिच्छेद में किया गया है। सामान्य जनता को वैदिक तत्त्वों तथा क्रिया-कलापों का लोक-दृष्ट्या प्रतिपादन करना पुराण का अपना तात्पर्य था। इस तात्पर्य के अनुकूल, परिवर्तित अवस्थाओं में, नये नये विषयों का भी सन्निवेश कालान्तर में पुराणों में किये गये। यह लोक-मर्यादा के निर्वाह की व्यापक दृष्टि से किया गया। स्कन्द पुराण के कुमारिका खण्ड में (४०।१९८) में इसी तथ्य का द्योतक यह सारवान् कथन उपलब्ध होता है—

इतिहास-पुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात्।

लोक-गौरव से इतिहास तथा पुराण भिन्न होते जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नूतन विषयों का सन्निवेश पुराणों में किया जाने लगा। इन विषयों की सूचना वायुपुराण १०४।११–१७ में बड़ी सुन्दरता से मिलती है।[1] नवीन विषय ये हैं—भुवनकोश (भूगोल तथा खगोल), वर्णाश्रम का धर्म, षोडश संस्कार (मुख्यतः श्राद्ध), व्रतोपासना, दान, पूजादीक्षा, राजधर्म, तीर्थमाहात्म्य, वैदिक साहित्य का विवरण, शैव-वैष्णव-शाक्त धारा के दार्शनिक तथा उपासना तत्त्व, आयुर्वेद तथा रत्न परीक्षा। इनका समावेश प्रतिपुराण में नहीं है, परन्तु आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार पुराण के कर्ताओं ने तत्तत् पुराण में

---

१. पुराणेष्वेषु बहवो धर्मास्ते विनिरूपिताः ॥
रागिणां च विरागाणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।
गृहस्थानां वनस्थानां स्त्रीशूद्राणां विशेषतः ॥ १२ ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां ये च संकरजातयः।
गङ्गाद्या या महानद्यो यज्ञव्रततपांसि च ॥
अनेकविधदानानि यमाश्च नियमैः सह।
योगधर्मा बहुविधाः सांख्या भागवतास्तथा ॥
भक्तिमार्गा ज्ञानमार्गा वैराग्यानिलनीरजाः।
उपासनविधिश्चोक्तः कर्मसंशुद्धिचेतसाम् ॥
ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथाऽर्हतम्।
षड्दर्शनानि चोक्तानि स्वभावनियतानि च ॥ १६ ॥
—वायुपुराण अध्याय १०४

इनका सन्निवेश कर उन्हें लोकोपयोगी तथा सामयिक बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। पुराण की उपादेयता का रहस्य इस नवीन आवृत्ति अथवा विषय-परिबृंहण के भीतर छिपा है। समयानुसार तथा स्थित्यनुकूल इस परिवर्तन की घटना को मानना पुराण की प्रकृति से सर्वथा साम्य रखता है।

पुराणों का अनेककर्तृत्व

पुराणों की रचना वेदव्यास ने की–यह प्रायोवाद है। पुराणों की रचना अनेक ऋषियों–मुनियों ने मिल कर की–यही तथ्य कथन है। इस विषय में पुराणस्थ कुछ प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं :—

(क) मनु ने इतिहास तथा पुराणों को श्राद्ध के समय सुनाने की व्यवस्था बतलाई है—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासाँश्च पुराणानि खिलानि च ॥

—मनु ३।२३२

इस श्लोक की व्याख्या में मेधातिथि की टिप्पणी है—**पुराणानि व्यासादि-प्रणीतानि (न तु व्यासप्रणीतानि)**

(ख) मार्कण्डेय पुराण का कथन—

पुराणमेतद् वेदाश्च मुखेभ्योऽनु विनिःसृताः ॥
पुराणसंहिताश्चक्रुर्बहुलाः परमर्षयः।
वेदानां प्रविभागश्च कृतस्तैस्तु सहस्रशः ॥

—मार्कण्डेय ४५।२०-२१

यहाँ 'बहुलाः परमर्षयः' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इस सारवान् कथन का ऐतिहासिक तात्पर्य सातिशय गम्भीर है। ब्रह्मा के मुखों से पुराण (एकवचन में प्रयुक्त) निकला तथा बहुत से परमर्षियों ने पुराण संहिताओं का प्रणयन किया। यह पुराणों के विकास क्रम का अभिव्यञ्जक श्लोक बतलाता है कि ब्रह्म के मुख से पुराण का निःसरण विद्या के रूप में हुआ था और महर्षियों के प्रयत्न से ग्रन्थ-रूप में पुराणों का प्रणयन अवान्तरकाल की घटना है। संकलन के कारण ही पुराण ग्रन्थ प्रथमतः 'पुराण संहिता' नाम से अभिहित किये गये हैं। 'पुराण का अवतरण' नामक परिच्छेद में प्रतिपादित तत्त्व की यह पौराणिक संपुष्टि नितान्त महनीय तथा ग्राह्य है।

(ग) कूर्म पुराण का वचन

अष्टादश पुराणानि व्यासाद्यैः कथितानि तु।
नियोगाद् ब्रह्मणो राजन् तेषु धर्मः प्रतिष्ठितः ॥

—कूर्म, पूर्वार्ध, अ० १२, श्लो० २६८।

यहाँ 'व्यासाद्यैः' पद अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। तब 'वेदव्यास' के पुराणकर्ता होने का कारण क्या ? पूर्व में प्रतिपादित किया गया है कि व्यास किसी व्यक्ति का नाम न होकर पदाधिकारी की संज्ञा है। मूलतः वेदव्यास ने प्रथम पुराण-संहिता का प्रणयन किया था। उन्होंने दोनों संहिताओं की रचना प्रायः एक ही काल में की थी-इतिहास विषय में—जयसंहिता (महाभारत संहिता का मूलरूप) तथा पुराण विषय में पुराण संहिता। तदनन्तर उनके शिष्य लोमहर्षण ने तथा उनके शिष्यत्रय (अकृतव्रण, सावर्णि तथा शांसपायन) ने मिलकर चार पुराण-संहिताओं का संकलन किया था और इन्हीं पुराणसंहिताओं का विस्तार तथा विकास अष्टादश पुराणों के रूप में किया गया। इस कार्य में मूल प्रेरणा वेदव्यास की ही है। उन्हीं की 'पुराण सहिता' के ही ये अष्टादश पुराण विस्तृत संस्करण हैं—इस सिद्धान्त के मानने में कोई भी ऐतिहासिक विप्रतिपत्ति नहीं है। तात्पर्य के ऐक्य तथा प्रेरणा के ऐक्य के कारण वेदव्यास को ही सब पुराणों के प्रणेता (अथवा संस्कर्ता) मानने में किसी प्रकार का दोष उपस्थित नहीं होता। ऋषियों के स्वरूप-विषय में ब्रह्माण्ड पुराण का यह कथन इस प्रसंग में मननीय है।[1]

पुराणों के कारण ही धार्मिक सहिष्णुता का साम्राज्य भारतवर्ष के धार्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुआ। वैष्णवपुराण शिव की निन्दा नहीं करता, प्रत्युत शिव को भी वह हरि के रूप में ही ग्रहण करता है। ब्रह्मा से इन दोनों देवों का एकत्व पुराणों में अभीष्ट है। विष्णुभक्ति के मुख्यतया प्रतिपादक होने पर भी नारदीय पुराण ने स्पष्टतः शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा का एकत्व प्रतिपादन किया है :—

हरिशंकरयोर्मध्ये ब्रह्मणश्चापि यो नरः।
भेदं करोति सोऽभ्येति नरकं भृशदारुणम्॥

---

१. धर्मशास्त्रप्रणेतारो महिम्ना सर्वगाश्च वै॥ ३१॥
तपः प्रकर्षः सुमहान्येषां ते ऋषयः स्मृताः।
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च व्यासः सारस्वतस्तथा॥ ३२॥
व्यासाः शास्त्रप्रणयनाद् वेदव्यास इति स्मृताः।
यस्मादवरजाः संतः पूर्वेभ्यो मेधयाधिकाः॥ ३३॥
ऐश्वर्येण च संपन्नास्ततस्ते ऋषयः स्मृताः।
यस्मिन्काले न च वयः प्रमाणमृषिभावने॥ ३४॥
दृश्यते हि पुमान्कश्चित्कश्चिज्ज्येष्ठतमो धिया।
यस्माद् बुद्ध्या च वर्षीयान्बलोऽपि श्रुतवानृषिः॥
—ब्रह्माण्ड, अ० ३२

हरं हरिं विधातारं यः पश्यत्येकरूपिणम् ।
स याति परमानन्दं शास्त्राणामेष निश्चयः ॥

—नारदीय ६।४८, ४९ ।

महापुराण के वर्णनों की यही दिशा है। उपपुराण की रचना किसी विशिष्ट धार्मिक उद्‌देश्य की सिद्धि के लिए की गई है। इसलिए उपपुराण किसी विशिष्ट देवता के पूजानुष्ठान को लक्ष्य कर निर्मित हुए हैं। ऐसी दशा में अन्य देवों के साथ संघर्ष की सम्भावना हो सकती है, परन्तु मूलतः पुराणों में धार्मिक असहिष्णुता की चर्चा बहुत कम है। धार्मिक औदार्य पुराणों का लक्ष्य है। श्रीमद्‌भागवत मुख्यतया विष्णु तथा उनके विभिन्न अवतारों की लीला का वर्णन करने वाला पुराण है। यहाँ शिव अपने पूर्ण उदात्तरूप में चित्रित किये गये हैं। दक्षप्रजापति ने शिवजी को जो शाप दिया है वह शैवमत के निम्नस्तरीय तथ्यों की ओर संकेत करता है। शिव-विष्णु के विरोधी तथा विद्रोही के रूप में चित्रित नहीं किये गये हैं।

पुराणों में धर्मशास्त्रीय विषयों का समावेश कब किया गया? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों में मतभेद है। भारतीय परम्परा के अनुसार धर्मशास्त्रीय विषय पुराणसंहिता के मौलिक वर्ण्य विषयों में से अन्यतम था। पूर्व परिच्छेद में सप्रमाण दिखलाया गया है कि जयमंगला (कौटिल्य अर्थशास्त्र (१-५) की व्याख्या) में पुराण के पञ्चलक्षण में सृष्टि, प्रवृत्ति, संहार तथा मोक्ष के संग में धर्म को भी अन्यतम लक्षण मानती है जिसका प्रतिपादन पुराणकर्ताओं को सर्वथा अभीष्ट था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के वचन भी इसी तथ्य के पोषक हैं। आधुनिक विद्वानों की दृष्टि इससे भिन्न हैं। वे धर्मशास्त्रीय विषय—जैसे दान, तीर्थयात्रा, आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त आदि—को पुराण का अविभाज्य अंग नहीं मानते। जनता के भीतर वैदिक सिद्धान्त के प्रचार के निमित्त ही अवान्तर शताब्दियों में इन विषयों को पुराण में सम्मिलित कर लिया। इस विषय में मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा नारदस्मृति का नाम मूलस्रोत के रूप में गृहीत किया जा सकता है। मनुस्मृति का रचनाकाल २०० ई० पू० —१०० ई० तक, याज्ञवल्क्य का रचनाकाल १०० ई०—३०० ई० तक तथा नारद स्मृति का रचनाकाल १०० ई०—४०० ई० तक काणे महोदय ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में स्वीकार किया है। फलतः षष्ठ-सप्तमशती से पहिले यह विषय पुराणों में सम्मिलित नहीं किया गया। अष्टम-नवम शती से इन विषयों का पुराण में समावेश करने का काल मानना सर्वथा न्याय्य तथा उचित प्रतीत होता है।

पौराणिक धर्म का वैशिष्ट्य

पौराणिक धर्म कोई नवीन उत्पन्न होनेवाला धर्म नहीं है जो वेद-प्रतिपादित मौलिक धर्म से विभेद रखता है। मूलतत्त्व समस्त वैदिक ही हैं। केवल परिवर्तित स्थिति की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए कतिपय प्राचीन विषयों का परिहार किया गया है और कतिपय नवीन विषयों का ग्रहण। वैदिक युग में कर्मकाण्ड पर विशेष आग्रह था; पौराणिक युग में भक्ति के ऊपर विशेष महत्त्व दिया गया। इस प्रकार के सामान्य अन्तर को देखकर क्या यह धर्म एक नवीन धारा का प्रतिपादक माना जा सकता है? अवश्य ही वैदिक देवों में अधिकांश को पुराणों ने अपने क्षेत्र से हटा दिया। केवल पाँच देवों को ही उसने महत्त्व देकर ग्रहण कर दिया। ये देव हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश तथा सूर्य। भगवान् के हृदय से आविर्भूत होकर वेद पहिले ऋषि, मुनि, ज्ञानी, कर्मी तथा भक्त लोगों के मानस में विचरण करने लगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के अतिरिक्त अन्यान्य साधारण मनुष्यों को उनमें दीक्षित होकर जीवन की सार्थकता सम्पादन करने का अधिकार नहीं था। वेद की भाषा समझने की तथा वैदिक मन्त्रों के तात्पर्य को हृदयङ्गम करने की योग्यता मानव-समाज में थोड़े ही लोगों में थी। दीक्षा तथा उपनयन से विरहित होने के कारण समाज के निम्न स्तर के लोग अपने जीवन को वेदमय बनाने से वंचित रह गये। इस कमी की पूर्ति महर्षि वेदव्यास तथा उनके शिष्य और प्रशिष्यों ने वेदरूपिणी सरस्वती को जनता के कल्याण के लिये मानव-समाज के ऊर्ध्वलोक से निम्नस्तर में लाने के लिये अपने को नियुक्त किया। इसीका सुभग परिणाम हुआ पुराणों की रचना। वेद और पुराण वस्तुतः अभिन्न हैं। किन्तु वेद द्विज-समुदाय में प्रतिष्ठित हैं और पुराण सभी श्रेणियों के नर-नारियों में विचित्र वेश-भूषा और विचित्र गतिभंगी से विचरने वाले हैं। पुराण का उद्देश्य वेद के तत्त्वों को जनसाधारण तक पहुँचाना है। इसकी सिद्धि के लिए उसने सरल संस्कृत वाणी को अपना माध्यम बनाया है। केवल भारत के प्रान्तों में ही नहीं, प्रत्युत भारत के बाहर अनेक द्वीप-द्वीपान्तर और देश-देशान्तरों में भी पुराणों ने भारतीय सनातन वैदिक विचारधारा, कर्मधारा और भावधारा को प्रवाहित किया है। पुराणों की कृपा से सनातन वेदों ने सभी श्रेणियों के नर-नारियों के जीवन को नियन्त्रित करके परम कल्याण, विमल प्रेम तथा विशुद्ध आनन्द के मार्ग में प्रवृत्त करने का अधिकार प्राप्त किया है।

पुराणों का प्रधान गौरव यह है कि वेद ने जिस परम तत्त्व को ऋषियों के भी इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अप्राप्य देश में रख दिया था, पुराणों ने उसको सर्वसाधारण के इन्द्रिय, मन और बुद्धि के समीप लाकर रख दिया है।

वेदों के सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म ने पुराणों में सौन्दर्यमूर्ति तथा पतित-पावन भगवान् के रूप में अपने को प्रकाशित किया है। वेदों ने घोषणा की है कि ब्रह्म सब प्रकार के नाम, रूप तथा भावों से परे हैं। पुराण कहते हैं कि ब्रह्म सर्वनामी, सर्वरूपी और सर्वभावमय है। वेद कहते हैं :—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। पुराण कहते हैं :—एकं सद् प्रेम्णा बहुधा भवति। भगवान् की अनन्त विभूतियों के मधुर रूपों का दर्शन हमें पुराणों में मिलता है। पुराणों ने यह उद्घाटित किया है कि एक ही परम तत्त्व भगवान् विभिन्न रूप और नामों में विचित्र शक्ति, सामर्थ्य तथा सौन्दर्य को प्रकट कर सम्पूण संसार में लीला-विलास कर रहे हैं तथा प्रत्येक उपासक सम्प्रदाय किसी-न-किसी रूप में उसी भगवान् की ही उपासना करके कृतार्थता प्राप्त करता है। इसी कारण भारत के समग्र धार्मिक-सम्प्रदाय एकत्व के सूत्र में बँधे हुए हैं। इस प्रकार पुराणों ने सर्वातीत ब्रह्म को सबके बीच में लाकर, मनुष्य के भीतर देवत्व के बोध को तथा भगवत्ता की अनुभूति को जागरित कर दिया है। पुराणों में मानव-जाति का इतिहास और विशेषतः भारत के प्राचीन इतिहास का वर्णन है, पर साथ ही साथ पुराणों का प्रधान लक्ष्य यह दिखलाना है कि यह सब संसार भगवान् की लीला का विलास है। इस प्रकार पुराणों में वैदिक तत्त्वों को रोचक रूप से जन-साधारण के सामने रखने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इन्हीं पुराणों को प्राप्त है।

वेद और पुराण की इस मौलिक एकता से अपरिचित होने वाले विद्वान् ही वैदिक और पौराणिक इन दो विभिन्न धर्मों की चर्चा करते हैं। जो व्यक्ति वेद में श्रद्धा रखते हुए पुराणों में आस्था नहीं रखता, वह हिन्दू-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों से नितान्त अनभिज्ञ है। वेद और पुराण एक ही अभिन्न सनातन-धर्म के भिन्न काल में आविर्भूत होनेवाले विशिष्ट ग्रन्थ हैं। वैदिक संहिताओं में कर्मकाण्ड का विशेष प्राबल्य हमें मिलता है। परन्तु उन्हें ज्ञान तथा भक्ति से शून्य बतलाना भी नितान्त उपहास्यास्पद है। तथ्य बात यह है कि संहिताओं में बीज रूप से निहित सिद्धान्तों का ही पल्लवीकरण हमें पिछले साहित्य में उपलब्ध होता है। भक्ति की चर्चा केवल पुराणों ही में है, उपनिषदों में नहीं, यह कथन दुःसाहसपूर्ण है। कठोपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि बिना ईश्वर की कृपा के ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्या और बुद्धि उसकी प्राप्ति में नितान्त व्यर्थ हैं। भगवत्कृपा का यह तत्त्व कितने सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया गया है :—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः,
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

—(कठ० उप० १।२।२३)

केनोपनिषद् में कहा है कि ईश्वर भजनीय हैं, इस दृष्टि से उनकी उपासना करनी चाहिये :—

"तद्वनमिति उपासितव्यम्" (केन० उप०)

वरुण-सूक्तों में भक्तों की भावना जिस मधुर रूप में व्यक्त की गई है वह विद्वानों से अपरिचित नहीं है। इन प्रमाणों के रहते हुए भक्ति को पुराण काल की नई उपज मानना भ्रान्ति की चरम सीमा नहीं तो क्या है ?

पौराणिक हिन्दूधर्म का स्वरूप

१. हिन्दूधर्म स्वतन्त्रता-पोषक धर्म है

प्रत्येक सत्यान्वेषीको यह स्पष्टतया विदित है कि हिंदू-धर्म का स्वरूप ईश्वर, आत्मा, सृष्टि एवं मानव-जीवन के ध्येय के सम्बन्ध में किसी वादविशेष को स्वीकार करना, किन्हीं विशिष्ट क्रियाओं का अनुष्ठान तथा बाह्य आचारों का पालन एवं उपासना की विशिष्ट पद्धतियों का अनुसरण अथवा किसी खास पैगंबर अथवा ईश्वरीय दूत को बिना ननु-नच किये प्रमाण मानना नहीं है। इन सब प्रश्नों के विषय में हिन्दूधर्म मानवीय बुद्धि एवं हृदय दोनों को पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। ईश्वर को जगत् का कर्ता एवं नियन्ता न मानना, आत्मा को नित्य एवं चेतन तत्त्व स्वीकार न करना तथा मुक्ति को आत्मा की शाश्वत आनन्दमयी स्थिति अङ्गीकार न करना भी हिन्दूधर्म की दृष्टि में कोई अक्षम्य अपराध नहीं माना गया है। हिन्दूधर्म ने ऐसे लोगों को भी अवतार अथवा ऋषि मानने में आगा-पीछा नहीं किया, जिन्होंने ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया; किन्तु जो वैसे महान् आध्यात्मिक पुरुष थे। हिन्दूधर्म का कभी यह आग्रह नहीं रहा कि मानवीय विचार, भावना तथा इच्छा–शक्ति पर अनुचित रोक-टोक लगायी जाय।

इसके विपरीत हिन्दूधर्म ने सदा इस बात को डंके की चोट कहा है कि मनुष्य स्वरूपतः सभी बन्धनों से मुक्त है और अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ के बल से पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त करना ही उसके जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। हिन्दूधर्म की यह मान्यता है कि यद्यपि स्वतन्त्रता पर मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, फिर भी इस जगत् में बाह्य एवं आन्तरिक—शारीरिक एवं मानसिक—परिस्थितियाँ दुर्भाग्यवश उसकी इस स्वतन्त्रता को कम कर देती हैं, अतः प्रत्येक मनुष्य का ध्येय यह होना चाहिये कि जितनी स्वतन्त्रता उसे प्राप्त है, उसका वह पूर्ण स्वतन्त्रता—सब प्रकार के बन्धनों एवं उपाधियों से मुक्ति—पाने के लिये उपयोग करे। इसीलिये हिन्दूधर्म मानवीय आत्मा के निर्बाध विकास पर किसी प्रकार का निग्रहपूर्ण नियन्त्रण नहीं लगा सकता; बल्कि वह प्रत्येक पुरुष, स्त्री एवं बच्चे की बुद्धि को अन्धकार से मुक्त करने की चेष्टा करता है, जिससे वह आदर्श स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये अपनी अधिकृत स्वतन्त्रता का समुचित उपयोग कर सके। इसलिये हिन्दूधर्म किसी को किन्हीं विशिष्ट मतवादों, उपासना

के प्रकारों अथवा बाह्य आचारों को ग्रहण करने के लिये बाध्य नहीं करता। इसके फलस्वरूप हिन्दूधर्म की सीमा के अन्दर हमें असंख्य सम्प्रदाय देखने को मिलते हैं, जिनके परात्पर-तत्त्व एवं परमोपास्य के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं तथा जिनमें साधना के भिन्न-भिन्न प्रकार तथा भिन्न-भिन्न क्रियाकलाप, आचार एवं रीति-रिवाज पाये जाते हैं। परन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि हिन्दूधर्म इतने सम्प्रदायों का एक निर्जीव समुदायमात्र है, उसमें एकता अथवा स्वतन्त्र जीवन है ही नहीं? नहीं, ऐसी बात कदापि नहीं है। हिन्दूधर्म का एक शरीर और एक ही आत्मा है। वह एक अमर प्राणी है, जिसके शरीर में ये सब भेद संघटित एवं समन्वित रहते हैं और जिसकी आत्मा उन सबको अनुप्राणित एवं आलोकित करती रहती है। अवयव अवयवी से सम्वद्ध रह कर विकसित एवं नवीन होते रहते हैं। अवयवी उन्हें सम्बद्ध रखता है और वे उसका महत्त्व बढ़ाते रहते हैं।

२. हिन्दूधर्म का शरीर

हिन्दूधर्म के शरीर की ओर दृष्टि डालने पर हमें कुछ ऐसे विशेष लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, जो हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों में समान रूप से पाये जाते हैं और जो उन्हें एक सूत्र में बाँधे रखते हैं। हिन्दूधर्म की आत्मा ने इन बाहरी सामान्य लक्षणों में तथा उनके भीतर से अपने को प्रकट कर रखा है।

(क) भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति आदर भाव

पहली मुख्य विशेषता है—हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों का भारत की सदा-विकासोन्मुख राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति आदर का भाव। सभी हिन्दुओं का वेदों में, जिन पर उनका समान अधिकार है, अमर विश्वास है। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने बुद्धि, नीति, कला एवं अध्यात्म के क्षेत्र में जो सबसे बड़ी करामातें कर दिखायी हैं, वेद उनके वाङ्मय प्रतीक हैं। उनका जीवन सादा, हृदय पवित्र तथा शरीर और मन निष्पाप थे तथा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' एवं पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये उन्होंने सच्ची खोज की थी। इन्हीं सब कारणों से वे मनुष्य की बौद्धिक चेतना के समक्ष विश्वात्मा भगवान् को प्रकट करने के लिये उपयुक्त माध्यम बने हुए थे। वेदों में एक ही दिव्य मानव, एक मसीहे, एक अवतार या एक पैगम्बर के ही उपदेश नहीं हैं। उनका दर्शन प्राचीन भारत की अनेक प्रबुद्ध आत्माओं को हुआ था। भारत के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों ने उनकी परस्पर तुलना करके उनकी एकवाक्यता तथा उनके अनुभव की परीक्षा की और उन्हें हिन्दू-समाज, हिन्दूधर्म एवं हिन्दू-संस्कृति की सुदृढ़ भित्ति बनाया। उन्हें प्रमाण मानने का अर्थ है—भारतीय आत्मा के विकास की आदिम एवं पवित्रतम

भूमिकाओं में भारत-माता के अन्दर जो कुछ उत्तम से उत्तम बातें थीं, उन्हें निःसङ्कोच स्वीकार करना।

परन्तु भारतीय प्रतिभा के इन प्राचीनतम कार्यों के प्रति स्वाभाविक आदरभाव ही हिन्दुओं की एकता का एकमात्र कारण नहीं है। रामायण, महाभारत, स्मृतिग्रन्थ, तन्त्र, पुराण एवं दर्शनों के प्रति, जो देश के परवर्ती प्रबुद्धतम मस्तिष्कों की कृतियाँ हैं, हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों का महान् आदर है। भारतीय जीवन और संस्कृति के सभी विभागों में विचारों एवं आदर्शों को लेकर जो भी उन्नति हुई है—धार्मिक कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, धर्मशास्त्र एवं कर्मकाण्ड तथा पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में भारतीय आत्मा का जो क्रमिक विकास हुआ है, ये सब ग्रन्थ उसी के प्रतीक हैं। हिन्दूजाति अतीत के गौरव को तथा अपने प्रति उसकी देन को कभी अस्वीकार नहीं करती। दूसरी ओर उसने प्राचीन शास्त्रों के वाचिक अर्थ के प्रति अथवा प्राचीन आचारों के बाह्यरूप के प्रति अनुचित पक्षपात कभी नहीं दिखलाया, किन्तु अपने को परिवर्तित स्थिति के अनुकूल बनाकर सदा ही सनातनधर्म का सचाई के साथ अनुगमन करने की चेष्टा की है। हिन्दू लोग अतीत के गौरव को सिर झुकाते हुए भी वर्तमान काल में विचार एवं क्रिया के स्वातन्त्र्य की कदापि उपेक्षा नहीं करते तथा अपनी धारणा के अनुसार समुज्ज्वल भविष्य की ओर आगे बढ़ने से भी नहीं चूकते। हिन्दुओं की शास्त्रों में श्रद्धा का स्वरूप क्या है? अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर भारतीय इतिहास के अत्यन्त अर्वाचीन सृजनोन्मुख काल तक भारत ने ऊँचे से ऊँचे तथा उत्तम से उत्तम जो कुछ भी काम कर दिखाया है, उसके प्रति ठोस आदर का भाव एवं उसे बिना ननु-नच किये प्रमाण मानना।

(ख) राष्ट्र के संत-महात्माओं एवं वीरों के प्रति श्रद्धा

महान् हिन्दू-समाज के सभी वर्गों में एकता के उपर्युक्त बलवान् सूत्र के अतिरिक्त उनमें भारत के राष्ट्रीय सन्त-महात्माओं एवं वीरों के प्रति—उन यशस्वी ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रति, जिन्होंने भारतीय प्रगति की किसी भी भूमिका में उसके धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा बौद्धिक जीवन पर किसी भी प्रकार का स्थायी प्रभाव डाला है—ठोस व्यक्तिगत आदर भाव भी है। वसिष्ठ और विश्वामित्र, मनु और याज्ञवल्क्य, नारद और कपिल, पराशर और व्यास आदि प्राचीन भारतीय महर्षियों ने; बुद्ध और शङ्कर, पारसनाथ और गोरखनाथ, चैतन्य और नानक, रामानुज और रामानन्द, कबीर और तुलसीदास प्रभृति महान् संतों एवं युगप्रवर्तकों ने; भगवान् कृष्ण, जनक और हरिश्चन्द्र, भीष्म और अर्जुन, ध्रुव और प्रह्लाद आदि विख्यात राष्ट्रीय वीरों

एवं राजर्षियों ने तथा भगवती सीता और सावित्री, जगज्जननी सती और उमा, मैत्रेयी और गार्गी प्रभृति भारत की आदर्श महिलाओं ने अपने को हिन्दू कहलाने वाले सभी पुरुषों एवं स्त्रियों के हृदय पर अटल नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। सिद्धान्तों एवं जीवनचर्या में बहुविध अन्तर होने पर भी सामान्यतः हिंदूमात्र प्रेरणा के इन शाश्वत सर्वसुलभ स्रोतों से प्रेरणाएं ग्रहण करते हैं और अपने को इन्हीं के कुटुम्बी रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के सभी आदर्श पुरुषों एवं देवियों की स्मृति—जो दिन प्रतिदिन, मास प्रतिमास और वर्ष प्रतिवर्ष विभिन्न प्रकार के उत्सवों एवं धार्मिक अनुष्ठानों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले पौराणिक आख्यानों एवं ऐतिहासिक घटनाओं की कथाओं, यात्राओं, अभिनयों एवं अन्य उल्लासपूर्ण खेल तमाशों के द्वारा जाग्रत ही नहीं अपितु अधिक जाज्वल्यमान एवं ताजी रखी जाती है,—सभी युगों में तथा देश के सभी भागों में हिंदू-समाज एवं धर्म के सभी अवयवों में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता बनाये रखती है तथा उसे और भी सुदृढ़ बनाती है। इतना ही नहीं, वह उनमें इस भाव को भी जाग्रत् करती है कि सृष्टि के आरम्भ से ही उसमें अमर जीवन की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित हो रही है। हिन्दू जाति उन यशस्वी व्यक्तियों को, जिन्होंने सनातन तथ्यों को अपने जीवन में उतारा है, उन तथ्यों के सम्बन्ध में कोरे वादों एवं कल्पनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है।

(ग) राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों का आदर

हिंदुओं के सभी सम्प्रदायों में एकता बनाये रखनेवाला तीसरा सूत्र भारत के राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों के प्रति पवित्रता की बुद्धि है। ये स्थान, जो इस महान् देश के सभी भागों में—नगरों एवं बनों में, नदियों तथा सरोवरों में, पर्वतों एवं उपत्यकाओं में, बिखरे पड़े हैं, तीर्थ माने जाते हैं। प्रत्येक हिंदू, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय अथवा जातिका क्यों न हो, अपने एवं अन्तःकरण की शुद्धि के लिये अपनी स्थिति के अनुसार इनमें से अधिक-से-अधिक तीर्थों की यात्रा करने में हिंदू लोग शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध अथवा जैन तीर्थों में कोई भेदबुद्धि नहीं करते। वे सभी भारतमाता के प्रत्येक बच्चे की दृष्टि में पवित्र हैं।

ये तीर्थ[1] क्या हैं? अयोध्या, मथुरा, काशी, द्वारकापुरी, उज्जयिनी आदि किसी-न-किसी समय भारत के कुछ महान् प्रतापशाली राज्यों की प्रसिद्ध राज-

१. तीर्थों का विषय पुराणों में बड़े विस्तार से दिया गया है। तीर्थ की संस्था अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत में प्रचलित थी। महाभारत के वनपर्व (अ० ८५) में इसका सर्वप्राचीन रूप दृष्टिगोचर होता। तीर्थों के

धानियाँ थीं और राजनीतिक महत्त्व को खो देने के बाद भी इतनी शताब्दियों से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के महान् केन्द्रों के रूप में अपने गौरव को बनाये हुए हैं और भारतीय जीवन की विभिन्न दिशाओं पर स्थायी ढंग का जोरदार प्रभाव डाले हुए हैं। दूसरे प्रकार के तीर्थ भारत की मुख्य तीन नदियां हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बंटी हुई हैं एवं उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं तथा जो सभी वर्गों के लोगों के लिए सुख-समृद्धि, पवित्रता एवं बल का कारण बनी हुई हैं। गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी—इन सात पवित्र नदियों का प्रत्येक हिंदू को प्रतिदिन अपने स्नान अथवा पीने के जल में आवाहन करना सिखाया जाता है। देश के किसी भी नगण्य कोने में स्थित किसी भी छोटे से गांव में वह क्यों न रहता हो, उसे यह बात याद रखनी होती है कि मैं महान् और पवित्र भारत देश का निवासी हूं और जिस जल में स्नान करता हूं या जिसे मैं पीता हूं अथवा भगवान् को चढ़ाता हूं या जिससे मैं अपने पितरों का तर्पण करता हूं, वह मातृभूमि की सम्पूर्ण नदियों का सम्मिलित जल है। इसी प्रकार हिमालय, विन्ध्याचल, नीलगिरि इत्यादि महान् पर्वत, जो उसे अपनी महान् जन्मभूमि के सौन्दर्य, भव्यता एवं गौरव का स्मरण दिलाते हैं; वृन्दावन, दण्डकारण्य, नैमिषारण्य आदि महान् बन, जिनमें प्राचीन तपोवन एवं वनस्थित विश्वविद्यालयों तथा राष्ट्रीय वीरों के साहसपूर्ण कार्यों एवं राष्ट्रीय देव-देवियों की आनन्ददायिनी क्रीड़ाओं की स्मृतियां निहित हैं; द्वैपायन, पुष्कर, मानस, चम्पा, नारायण आदि महान् सरोवर, जो अनेकों राष्ट्रीय संतों एवं धर्माचार्यों की स्मृति से पूत हैं—प्रत्येक हिंदू इन सबका तीर्थों के रूप में स्मरण करता है, जहां का सारा वातावरण आध्यात्मिकता से सराबोर रहता है।

जो-जो स्थान विशेष भारत के पूज्य संत-महात्माओं की तपस्या अथवा आध्यात्मिक साधना से पवित्र हो चुके हैं अथवा महान् राष्ट्रीय वीरों अथवा ऋषिकल्प विद्वानों की उदार कृतियों से गौरव को प्राप्त कर चुके हैं अथवा जो राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक अथवा धार्मिक दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाली महती घटनाओं के कारण चिरस्मरणीय हो गये हैं अथवा

अनेक प्रकारों का निर्देश पुराणों में है, यथा पितृतीर्थ गणना (मत्स्य, अ० २२), देवीपीठ गणना (मत्स्य १३ अ०), ब्रह्मतीर्थ गणना (प्रभासक्षेत्र १०५ अ०)। सामान्य तीर्थों के सूचनार्थ द्रष्टव्य ब्रह्म २५ अ०, अग्नि० १०९ अ०। काशी के उद्यानों का साहित्यिक वर्णन मत्स्य १७९ अ० २१–४४ श्लो०, वाराणसी तथा प्रयाग का वर्णन कूर्म १।३१–३५ तथा ३६–३९। इन तीर्थों के विषय में विशेष रूप से द्रष्टव्य काणे कृत हिष्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग ४ पृ० ५५२–८२७।

जिन्होंने अपने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक सौन्दर्य एवं भव्यता से लोगों का ध्यान आकर्षित किया है, वे सामान्यतः सभी हिंदुओं के लिये तीर्थ रूप हैं, चाहे उनके धार्मिक सिद्धान्त अथवा सामाजिक रीति-रिवाज अथवा आचरण सम्बन्धी नियम कैसे भी क्यों न हों। इस प्रकार अपने सारे प्राकृतिक एवं अर्जित गौरव तथा अपने अतीत, वर्तमान एवं भविष्य को लिए हुए समग्र भारतवर्ष का प्रत्येक हिंदू की दृष्टि में एक आध्यात्मिक अर्थ है। प्रत्येक हिंदू बच्चा करीब-करीब अनजान में ही भारतवर्ष को आदर-पूर्वक एक सुन्दर एवं महान् सजीव व्यक्ति—अपनी सन्तानों के प्रति वात्सल्य एवं करुणा से पूर्ण तथा उनकी सब प्रकार के अनिष्टों से रक्षा करने की शक्ति एवं साधनों से सम्पन्न भगवती जगदम्बा के रूप में स्मरण करना सीख जाता है। भारत के समस्त सम्प्रदायों एवं जातियों को हिंदूधर्म की सर्वसंग्राहक भुजाओं के भीतर एक सूत्र में पिरोने तथा उनके जीवन एवं संस्कृति को एक विशेष रूप देने में यह भाव कितना प्रबल सहायक है—इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

३. हिंदूधर्म और भारतवर्ष

इस प्रकार भारतमाता के प्रति इस सजीव बुद्धि को हिंदूधर्म का शाश्वत एवं नित्य नूतन शरीर कहा जा सकता है। हिंदूधर्म का व्यापक रूप जो सभी सम्प्रदायों के हिंदुओं की बुद्धि में उतरा हुआ है और जिसका उनके धार्मिक सिद्धान्तों, सामाजिक प्रथाओं एवं दार्शनिक मतवादों से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसका स्वरूप है—भारत की नैतिक, बौद्धिक, ललित कला सम्बन्धी, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक सम्पत्ति में जो कुछ भी अच्छा और महान् है, उदात्त और सुन्दर है तथा महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है, उसे पवित्र मानना एवं आध्यात्मिक रूप देना। जो कोई भी भारतमाता को अपने जीवन की अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्वीकार करता है, वह हिंदू कहलाने का न्यायतः अधिकारी है। हिंदूधर्म अपने कलेवर के अन्दर इस देश की तथा बाहर की सभी सभ्य एवं जंगली जातियों तथा सभी धार्मिक सम्प्रदायों एवं सामाजिक संघटनों को उनके धार्मिक सिद्धान्तों, भावनाओं एवं आचारों की तथा उनके सामाजिक विचारों, रीतियों और रिवाजों की विशेषताओं को मिटाये बिना ही हजम कर जाने की शक्ति रखता है और उसने अतीत काल में ऐसा किया भी है। शर्त यही है कि वे भारत के गौरव पर गर्व करना सीख जायँ, उनकी दृष्टि वस्तुतः भारतीय हो जाय और वे भारत की आत्मा से अनुप्राणित हों, जो नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक साधना के विभिन्न रूपों द्वारा अति प्राचीन काल से अपने को चरितार्थ कर रही है।

हिंदुओं का अस्तित्व ही भारत की एकता के भाव—भारत एक सजीव आध्यात्मिक सत्ता है, इस भाव के साथ—सम्बद्ध है। हिन्दू एक दूसरे के साथ एक ही माता के बच्चों के रूप में सम्बद्ध हैं, जो उनके लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को उदात्त एवं पूर्ण बनाने के लिए उन्हें भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक—सभी प्रकार का भोजन देती है। भारतमाता की पूजा एवं सम्मान तो अपने-अपने ढंग से हिंदूधर्म के अन्तर्गत सारे धार्मिक सम्प्रदाय करते हैं और अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए वे उसी से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। प्रत्येक हिन्दू का आध्यात्मिक ध्येय है—अपनी व्यष्टि आत्मा का भारत की आत्मा के साथ ऐक्यबोध करना; क्योंकि उसकी दृष्टि में भारत की आत्मा विश्वात्मा की अत्यन्त तेजस्वी अभिव्यक्ति है। हिन्दुओं की दृष्टि में भारत निरा भौतिक देश—भौतिक जगत् का एक क्षुद्रांश—ही नहीं है, अपि तु विश्वात्मा का एक विशिष्ट शरीर है और इस रूप में वह आध्यात्मिकता का सनातन स्रोत है। इसी देश में भगवान् प्रत्येक युग-पर्यंत में भ्रान्त एवं मूढ़ जगत् को दिव्य आलोक देने तथा उसे शान्ति, सामञ्जस्य, एकता एवं आनन्द का सच्चा मार्ग दिखलाने के लिए विशेषरूप से प्रकट होते हैं।

४. हिंदूधर्म की आत्मा

अब हिंदूधर्म की आत्मा के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहूँगा। यह स्पष्ट है कि हिंदूधर्म की आत्मा का मनुष्य की अपूर्ण भाषा में पूर्णतया निर्देश नहीं किया जा सकता। बौद्धिक ज्ञान, सामाजिक प्रथा, धार्मिक सिद्धान्त आदि में महान् अन्तर रहते हुए भी हम एक ही आत्मा को सभी सम्प्रदायों के हिंदुओं की दृष्टि तथा व्यापार को अनुप्राणित एवं आलोकित करते हुए अनुभव कर सकते हैं, परन्तु इन सभी भेदों में तथा उनके भीतर से अपने को अभिव्यक्त करनेवाली इस अमर आत्मा की तर्कशास्त्रानुमोदित परिभाषा नहीं की जा सकती। अन्य साम्प्रदायिक मजहबों की भाँति हिंदूधर्म भी यदि विशिष्ट पैगम्बरों के नपे-तुले उपदेशों से आविर्भूत होता, यदि विशिष्ट आचार्य-परम्परा के द्वारा उपदिष्ट निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर ही इसकी स्थापना हुई होती तो इसको आत्मा का उन उपदेशों अथवा सिद्धान्तों की भाषा में निर्देश किया जा सकता था। परन्तु हिंदूधर्म में ऐसी कोई मान्यताएँ नहीं हैं, जिन्हें उसका प्राण कहा जा सके। उसकी आत्मा किन्हीं ईश्वर के भेजे हुए दिव्य मानव के द्वारा सदा के लिये निर्धारित किन्हीं सिद्धान्तों, किन्हीं नियमों एवं कानूनों, किन्हीं विचारों, भावनाओं तथा क्रिया-कलापों के अंदर बद्ध नहीं है। हिन्दूधर्म की आत्मा स्वयं विकसित हो रही है। युग-युग में मनुष्यों की बाहरी परिस्थिति में तथा उनकी शारीरिक एवं

मानसिक योग्यता में जो कुछ परिवर्तन होता है, उसके अनुकूल हिन्दूधर्म की आत्मा अपनी एकता तथा विशेषता को बिना खोये हुए विचारों, भावनाओं एवं क्रियाकलापों की समयोचित धाराओं के रूप में अपने को अभिव्यक्त करती आ रही है। यदि हम उसका किन्हीं ऐसे दार्शनिक अथवा धार्मिक सम्प्रदायों, नैतिक नियमों अथवा सामाजिक प्रथाओं की भाषा में निर्देश करना चाहें, जो उससे निकले हैं और जो उसके द्वारा अनुप्राणित एवं आलोकित हैं, तो हमारी वह परिभाषा निश्चय ही एकदेशीय, अपूर्ण एवं बाह्य होगी। आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति हो सकती है, परन्तु उसका किसी माध्यम के द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता। हाँ, उसकी अभिव्यक्ति के सार्वभौम प्रकारों का विमर्श करने से हम सबकी मानसिक कल्पना अवश्य कर सकते हैं।

(क) जीवन एवं जगत् के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि

हिंदूधर्म के आत्मा की जो सबसे प्रधान एवं विशिष्ट अभिव्यक्ति मालूम होती है, वह है जीवन एवं जगत् के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि। हिंदुओं का जीवन मुख्यतया आध्यात्मिक जीवन है। हिंदुओं की दृष्टि में मनुष्य विवेक-बुद्धि, नैतिक भावना अथवा आध्यात्मिक भावना से युक्त प्राणी नहीं है; वह तो सूक्ष्मविशिष्ट स्थूलदेहधारी चेतन आत्मा है। आध्यात्मिक स्वरूप ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप माना जाता है; आधिभौतिक स्वरूप, मनोमय स्वरूप, बौद्धिक स्वरूप तथा नैतिक स्वरूप भी उसके अधीन माने जाते हैं। वे उसकी अभिव्यक्ति के क्षेत्र, इस वैचित्र्यमय जगत् में उसकी स्वानुभूति एवं चरितार्थता के उपकरण हैं, उसके अन्तर्निहित परम आदर्श के अनुवर्ती हैं। बन्धन और अपूर्णता, राग और द्वेष, शोक और चिन्ता, जन्म और मृत्यु सूक्ष्मविशिष्ट स्थूलशरीर के पीछे लगे हुए हैं। परन्तु आत्मा, जो इस शरीर का स्वामी है और जो इसके अंदर तथा इसके द्वारा स्वरूप-लाभ करता है, शाश्वत एवं अमर है; वह स्वरूपतः शुद्ध, सुन्दर एवं आनन्दमय तथा सब प्रकार के बन्धनों एवं सीमाओं से परे है। आत्मा इस शरीर को अपना स्वरूप मान बैठा है, इसी से वह दुःख पाता है। इस सूक्ष्मविशिष्ट स्थूलशरीर की माँगों को यदि हम जीवन में प्रधानता देने लग जायँ, तो दुःख अवश्यम्भावी है। आत्मा का ध्येय होना चाहिये—इन माँगों को संयत करना तथा उदात्त बनाना, जीवन की सब माँगों को आध्यात्मिक आदर्श के अनुकूल बनाना तथा क्रमशः इस सम्पूर्ण शरीर को चिन्मय बनाना। शरीर, मन एवं इन्द्रियों का उनके सम्पूर्ण कार्यक्षेत्रों में आत्मा के द्वारा शासन होना चाहिये, जिससे आध्यात्मिक जीवन में अन्तर्हित आदर्श की सिद्धि इसी जगत् में हो सके।

इसीलिए हिंदू-संस्कृति के समस्त विभागों का धर्म द्वारा शासन एवं समन्वय होता है। धर्म का वास्तविक अर्थ है—इस शरीर में आत्मा के नित्य शुद्ध, सुन्दर, आनन्दमय एवं चेतनस्वरूप का क्रमशः अनुभव करना। कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र, पारिवारिक एवं सामाजिक संघटन, कानून और रिवाज, सम्पत्ति तथा शारीरिक सुविधाओं के उत्पादन एवं विभाजन की विधियां—हिंदू इन सबको सामान्यतः मानवजाति की आध्यात्मिक साधना की विभिन्न शाखायें मानता है और हिन्दुओं के जीवन में इन सबका सार्वभौम आध्यात्मिक आदर्श के द्वारा नियन्त्रण होता है। एक सच्चे हिन्दू-परिवार में पति-पत्नी का, माता-पिता और सन्तान का तथा भाइयों और बहिनों का परस्पर सम्बन्ध एक आध्यात्मिक सम्बन्ध होता है और उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से ही एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना सिखाया जाता है। सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में भी समाज एवं राज्य के अङ्गों का परस्पर सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है और पूर्णता की प्राप्ति के लिए ही प्रत्येक अङ्ग को अपने सामाजिक एवं राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करना होता है। अभिमानशून्य हृदय से समाज एवं राष्ट्र के हित-साधन में योग देने से, समाजरूपी महान् शरीर की सेवा में लौकिक स्वार्थों की बलि देने से ही मनुष्य आध्यात्मिक पूर्णता की योग्यता प्राप्त करता है—ऐसा माना जाता है।

जड़ प्रकृति की अपेक्षा चेतन आत्मा की, भौतिक उन्नति की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति की प्रधानता में हिंदुओं का जो यह सार्वभौम विश्वास है, वही हिंदू-समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था की आधार-शिला है। हिंदुओं की सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणों एवं संन्यासियों के शीर्षस्थानीय होने का यही अर्थ है कि सभी वर्गों के हिंदू भौतिक उत्कर्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक श्रेष्ठता को स्वेच्छा से ऊंचा मानते हैं। देश की राजनीतिक, नैतिक, सैनिक एवं आर्थिक सत्तायें स्वेच्छा से स्वीकार की हुई अकिञ्चनता तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष की गौरवमयी महिमा के आगे नतमस्तक होकर उसकी सेवा में लग जाती हैं।

हिंदुओं की बुद्धि विभिन्न श्रेणियों के चराचर प्राणियों से युक्त इस सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मिक दृष्टि से देखती है। यह जगत् चिन्मय है, यह भगवान् का विराट् देह है। जगत् की सारी वस्तुएँ और घटनायें भगवान् की ही अभिव्यक्तियाँ मानी जाती हैं। भगवान् के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों एवं संतों में मतभेद हो सकता है। परन्तु जनसाधारण का हार्दिक विश्वास तो यह है कि जगत् का स्वरूप केवल वही नहीं है जो इन्द्रियों के अनुभव में आता है, किन्तु उसके पीछे एक चिन्मय आधार

है, प्रतीयमान जगत् के प्रत्येक पदार्थ का एक आध्यात्मिक अर्थ है और जगत् में काम करनेवाली सम्पूर्ण शक्तियाँ एक आध्यात्मिक उद्देश्य के द्वारा नियन्त्रित हैं और एक चिन्मय इच्छा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। सभी हिन्दू जगत् को अजर-अमर माता के रूप में नमन करते हैं, जो सम्पूर्ण जीवों को उत्पन्न करके उनका प्रेम एवं आनन्द के साथ पोषण करती है। यह प्रतीयमान विश्व, जो देखने में असंख्य प्रकार की वस्तुओं एवं घटनाओं से बना हुआ है, हिन्दुओं की दृष्टि में एक सजीव व्यक्ति है, जो असंख्य रूपों में अभिव्यक्त एक ही आत्मा, एक ही उद्देश्य, एक ही नियम से अनुप्राणित एवं ओतप्रोत है। हिन्दू अपने हृदय में विश्व की महत्ता एवं सौन्दर्य का अनुभव करते हैं तथा उसे माता के रूप में पूजते हैं। विश्व के चिन्मय स्वरूप की पूर्ण अनुभूति ही उनके चिन्मय स्वरूप की पूर्णता है। जीवन एवं जगत् के प्रति यह आध्यात्मिक दृष्टि हिन्दूधर्म के आत्मा की अभिव्यक्ति है।

(ख) जगत् के नैतिक शासन में विश्वास

हिन्दूधर्म के आत्मा की दूसरी महान् अभिव्यक्ति हिन्दुओं का यह विश्वास है कि जगत् के आभ्यन्तर शासन में नैतिक विधान की प्रधानता है। हिंदूमात्र इस नैसर्गिक विश्वास से अनुप्राणित है कि एक न्याय-पूर्ण विधान जगत् के जीवों में सुख-दुःख, सम्पत्ति और दरिद्रता, बल और निर्बलता, विवेक और मूढ़ता, उच्चाकांक्षाओं और नीच प्रवृत्तियों, उदात्त भावनाओं एवं नीच मनोविकारों तथा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का विभाजन करता है। जीव-जगत् में भौतिक कार्य-कारणभाव नैतिक कार्य-कारणभाव के सर्वथा अधीन एवं उसी के द्वारा नियन्त्रित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मों का अनिवार्य फल भोगता है। अतः अपने कर्त्तव्य का मार्ग निश्चित करने में हिंदू इसी बात का विचार करते हैं कि वह शुभ है अथवा अशुभ, उसका नैतिक परिणाम शुभ होगा या अशुभ, वह शास्त्रोक्त नैतिक नियमों के अनुकूल है या नहीं; वे केवल अथवा मुख्यतया इस बात का विचार नहीं करते कि भौतिक दृष्टि से तथा भौतिक कार्य-कारणभाव के विचार से उस कर्म से तात्कालिक लाभ होगा या हानि। उनके कर्मों का नियन्त्रण अधिकतर नैतिक विचार से होता है, लौकिक लाभ की दृष्टि से नहीं। नैतिक कार्य-कारण-भाव या कर्म के विधान में विश्वास हिंदू धर्म का एक मुख्य सिद्धान्त है। इस विश्वास का अर्थ यह है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, अकेला वही अपने सुख-दुःख के लिये, अपनी मनोवृत्तियों के लिये तथा अपने जीवन में आनेवाले अनुकूल अवसरों तथा विघ्न-बाधाओं के लिये जिम्मेवार है। यह विश्वास उसे यह सिखलाता है कि किसी दूसरे के

प्रति जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो तथा जो अधिक आराम भोगता हो, अथवा जिसे अधिक पद-प्रतिष्ठा प्राप्त हो, ईर्ष्या, द्वेष या वैर का भाव मत रखो; क्योंकि यह उसके पिछले कर्मों का फल है। वह उसे अपनी स्थिति को सुधारने के लिये दूसरों के साथ कटुतापूर्ण प्रतिस्पर्द्धा करने से रोकता है; क्योंकि वह जानता है कि जो कुछ अनुकूलताएँ उसे प्राप्त हैं, यदि वह उनका समुचित उपयोग करे और अपने चरित्र को उन्नत बनाये तो उसे नैतिक विधान के अनुसार ठीक समय पर अपने शुभ कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। जगत् के नैतिक शासन में विश्वास के साथ-साथ तथा उसी से पूरा-पूरा मेल खाता हुआ हिंदुओं का दूसरा विश्वास पूर्वजन्म के सिद्धान्त में है। मनुष्य का जीवन उसके वर्तमान भौतिक शरीर के जन्म से नहीं प्रारम्भ होता और न उस शरीर की मृत्यु के साथ उसका अन्त होता है। कर्म का विधान ही प्रत्येक जीवन का नियन्त्रण करता है। वर्तमान जीवन में उसे जो योनि, जैसी योग्यता और जो अनुकूलताएँ प्राप्त हैं, वे सब उसके प्राक्तन कर्मों के नैतिक फल हैं। उसके जो कर्म वर्तमान जीवन में फलीभूत नहीं होते, वे भावी जन्मों में फलीभूत होंगे। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास एवं आत्मा की पूर्णता के लिये बार-बार अवसर दिये जाते हैं। यह विश्वास प्रत्येक हिंदू को पूर्णता एवं आनन्द की आशा से भर देता है और उसे वर्तमान जीवन की विपत्तियों को सहन करने की शक्ति प्रदान करता है।

(ग) मुक्ति का सिद्धान्त

हिंदूधर्म की आत्मा एक दूसरे उच्च सिद्धान्त के रूप में अपने को अभिव्यक्त करती है। वह यह है कि मानवीय आत्मा की चरम आकांक्षा इतनी ऊँची है कि वह इस परिवर्तनशील जगत् के सीमित भोगों से पूर्ण नहीं हो सकती तथा उसकी स्थायी पूर्ति कर्मबन्धन से, प्रतीयमान जगत् के सुख-दुखों से तथा सब प्रकार की सीमाओं एवं उपाधियों से सर्वथा छूटने में ही है। हिंदुओं के विश्वास के अनुसार सब प्रकार की सीमाओं को लाँघ जाना, जगत् के नैतिक शासन से और उसके फलस्वरूप जन्म-मृत्यु एवं आपेक्षिक सुख-दुःखों के चक्र से भी छूटकर ईश्वरीय पूर्णता—निरतिशय आनन्द की नित्यस्थिति—प्राप्त करना मानवीय आत्मा का नैसर्गिक अधिकार है। अपनी संसारयात्रा का अन्त करने के लिये तथा अपने सांसारिक जीवन के परम उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये यह आवश्यक है कि मानवीय आत्मा अपने को अज्ञान और अहङ्कार से, इच्छाओं एवं वासनाओं से, सांसारिक प्रतिष्ठा एवं समृद्धि की आसक्ति से, भौतिक दृष्टि एवं दूसरों के साथ प्रतिस्पर्द्धा भाव से मुक्त करे तथा निरतिशय ज्ञान, निःस्वार्थ प्रेम, अविचल शांति, कल्मषहीन

पवित्रता तथा समस्त भूतों के साथ अभेदबुद्धि सम्पादन करे और इस प्रकार भगवान् के साथ अभेद स्थापित करे। प्रत्येक हिन्दू की सर्वोच्च आकांक्षा यही होती है।

(घ) भगवान् का सर्वग्राही स्वरूप

अन्ततोगत्वा मैं हिन्दू धर्म का एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप बतला देना चाहता हूँ, जिसके कारण धर्मोन्माद या धर्मान्धता हिन्दुओं की बुद्धि में गहरी जड़ नहीं जमा सकती। ईश्वर एवं मुक्ति के सम्बन्ध में हिन्दुओं की ऐसी मान्यता है कि जिसमें सभी मतों का समावेश हो जाता है। हिन्दूधर्म अधिकारपूर्वक यह कभी नहीं कहता कि ईश्वर का स्वरूप बस; यही है—इससे भिन्न नहीं; वह इस बात की घोषणा नहीं करता कि अमुक संत अथवा पैगंबर की अन्तर्दृष्टि अथवा प्रज्ञा ने परात्पर वस्तु के स्वरूप का पूर्णरूप से आकलन किया है। वह यह भी नहीं कहता कि परमोपास्यरूप से साकार भगवान् की सत्ता में विश्वास करना मानवीय आत्मा की आध्यात्मिक पूर्णता के लिये अनिवार्य है।

अवश्य ही ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन मुख्य सिद्धान्त हैं जो हिंदू संस्कृति के प्रभाव में जन्मे एवं पले हुए प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री के हृदय में—चाहे वह विद्वान् हो या अनपढ़—काम करते हैं। पहली मान्यता है निर्विशेष ब्रह्मपरक। इस रूप में वे ही सब कुछ—एकमात्र तत्त्व माने जाते हैं। एक परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा परमात्मा नहीं है। केवल इतनी ही बात नहीं, अपितु एक परमात्मा के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नहीं है। सारी सोपाधिक सत्ताएँ उस एक निरुपाधिक स्वतःसिद्ध सत्ता के आभासमात्र हैं। भीतर-बाहर—सर्वत्र जो कुछ प्रतीत होता है, उसमें एकमात्र उन्हींको देखना—यही सच्चा ज्ञान है। वे निर्गुण हैं, क्योंकि गुणों के साथ सम्बन्धों का होना अनिवार्य है और जहाँ सम्बन्ध हैं, वहां उनसे सम्बद्ध अन्य वस्तुएँ भी होनी ही चाहिये। जो एक एवं अद्वितीय है, वह निर्गुण, नित्य, अपरिच्छिन्न एवं निर्विशेष तो होगा ही। सभी प्रातिभासिक सत्ताएँ स्वरूपतः उनमे अभिन्न हैं।

दूसरी मान्यता है परमेश्वर के विषय में। इस रूप में वे समस्त जीवों एवं इन्द्रियगोचर पदार्थों के तथा अनन्त भेदों से युक्त अखिल विश्व के अधीश्वर हैं। इस सापेक्ष रूप में वे जगत् की सम्पूर्ण परिच्छिन्न एवं अनित्य वस्तुओं के उत्पादक, नियन्ता एवं संहारक हैं। वे अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं सौम्यता तथा अनन्त प्रकार के उत्तम गुणों से सदा संपन्न हैं, जिनके कारण सभी सत्पुरुष गाढ़ भक्ति एवं श्रद्धा से उनकी बन्दना करते हैं। परन्तु उनका कोई निश्चित नाम अथवा रूप नहीं है। वे समस्त नाम-रूपात्मक हैं। चूंकि

नाम और रूप की सहायता के बिना मनुष्य के लिये चिन्तन सम्भव नहीं है, अतः उनका चिन्तन एवं उपासना करने के लिये मनुष्य किसी भी नाम अथवा रूप का उपयोग कर सकता है। किसी भी नाम या रूप को, जो मनुष्य के चित्त में जगदीश्वर भगवान् के सर्वैश्वर्यपूर्ण स्वरूप की स्फूर्ति कर सकता हो, हिन्दू भगवन्नाम अथवा भगवद्-रूप मान लेता है। प्रत्येक हिन्दू का विश्वास है कि ऐसे सभी रूप अतीन्द्रिय भगवान् के इन्द्रियगोचर रूप हैं। भगवान् के विषय में कौन सी मान्यता कहां तक पूर्ण है, यह स्वाभाविक ही इस बात पर निर्भर करता है कि उपासक का बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास कहाँ तक हुआ है।

तीसरे, सभी हिंदुओं का यह नैसर्गिक विश्वास है कि एक ही परमेश्वर इस जगत् में अनेक देवताओं के रूप में अपने को अभिव्यक्त किये रहते हैं। इनमें से प्रत्येक देवता के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि साक्षात् परमेश्वर ही एक विशिष्ट शरीर धारण करके उस रूप में प्रकट हैं और उसी शरीर में उनके ऐश्वर्य, ज्ञान, सौम्यता, श्री, सौन्दर्य एवं तेज की विशिष्ट कलाएँ प्रकट रहती हैं। इन देवताओं के विभिन्न नाम और विभिन्न रूप हो सकते हैं और इनके द्वारा विभिन्न शक्तियों एवं गुणों का प्रकाश हो सकता है। परन्तु स्वरूपतः वे एक दूसरे से अभिन्न हैं; क्योंकि उन सब में एक ही परमात्मा का निवास है तथा एक ही परमात्मा उनमें तथा उनके द्वारा भिन्न-भिन्न लीलायें करते हैं। हिंदुओं की दृष्टि में भगवान् के ये सभी रूप विज्ञानमय एवं चिन्मय जगत् में परिच्छिन्न जीव एवं इन्द्रियगोचर पदार्थ सत्य हैं। अतः कोई व्यक्ति अथवा समुदाय अथवा जाति चाहे किन्हीं भी देवताओं की उपासना करे, अथवा जगदीश्वर की किसी भी नाम-रूप से आराधना की जाय, हिन्दू इस प्रकार की उपासना अथवा इस प्रकार के किसी भी उपासक के प्रति द्वेष का भाव नहीं रख सकते। इसलिये धर्मोन्माद, जो बहुधा नीचातिनीच पाशविक विकारों की अपेक्षा अधिक गिरानेवाला एवं भयावह होता है, हिंदुओं के चित्त में कभी जड़ नहीं पकड़ सकता।

इस प्रकार हिन्दू धर्म की आत्मा अपने-आपको सार्वभौम धार्मिक दृष्टि के रूप में तथा ईश्वर-सम्बन्धी सभी विवेकपूर्ण मान्यताओं तथा सब प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं के समादर के रूप में अभिव्यक्त करती है। अतः हिंदू धर्म ही विश्व धर्म का सच्चा नमूना है। वर्तमान हिन्दू धर्म का यही स्वरूप है। यह स्वरूप पुराणों के ऊपर ही आश्रित है। अतः इसे **पौराणिक धर्म** का रूप मानना सर्वथा उचित है।

महाभारत में धर्म का स्वरूप

महाभारत की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों में अनुपम है। यह एक उपजीव्य महाप्रबंधात्मक काव्य होने पर भी मूलतः इतिहास[१] संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसके रचयिता महर्षि व्यासदेव ने स्वयम् इसे इतिहासोत्तम बतलाया है जिसका आश्रय लेकर कवि की प्रतिभा नए-नए काव्यों की-गीतिकाव्यों तथा महाकाव्यों की—और नए नए रूपकों की संघटना में कृतकार्य हुई है। इतना ही नहीं, यह एक साथ एककालावच्छेदेन अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, तथा मोक्षशास्त्र है जिसकी तुलना इस वैचित्र्य के कारण किसी भी अन्य ग्रन्थ से हो ही नहीं सकती। फलतः यह अपनी विशिष्टता की दृष्टि से एकदम बेजोड़ है, अंततः अनुपमेय है—

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥

—आदिपर्व, २।३८३

फलतः महाभारत का धर्मशास्त्रीय स्वरूप आख्यानादिकों के साथ आजकल जो उपलब्ध हो रहा है, वह भी नूतन निर्माण नहीं है। यह तो निश्चित है कि यह स्वरूप महाभारत के आदिम रूप में—'जय' नामक पाण्डवों की विजयगाथा के मूलतः वर्णनात्मक ग्रन्थ में—वर्तमान नहीं था, क्योंकि शतसाहस्री संहिता में ही आख्यानों का अस्तित्व विद्यमान है, इसका प्रमाण महाभारत में अनेकत्र मिलता है।[२] महाभारत में आख्यानों की प्राचीनता का प्रमाण हमें कात्यायन के वार्तिक तथा पतंजलि के महाभाष्य से भलीभाँति मिलता है। 'आख्या-

---

१. इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥

— महाभारत, आदिपर्व, २।३८४

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥

—वही, श्लोक ३८९

२. इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ॥

—वही, १।१०१

नाख्यायिकेतिहास पुराणेभ्यश्च' (पाणिनि सूत्र ४।२।६० पर कात्यायन वार्तिक) के ऊपर अपने महाभाष्य में पतंजलि ने 'यवक्रीत', 'प्रियंगु' तथा 'ययाति' के आख्यानों का उल्लेख किया है। इनमें से 'यवक्रीत', तथा 'ययाति' का आख्यान महाभारत में क्रमशः वनपर्व में (१३५–१३८) तथा आदिपर्व (अ० ७६–८५) में आज उपलब्ध होता है। फलतः इन आख्यानों से संवलित महाभारत का प्रणयन पतञ्जलि से (द्वितीय शती ई० पू०) पूर्वकाल में निष्पन्न हो चुका था। इतना ही नहीं, आश्वलायन गृह्यसूत्र (ईस्वीपूर्व पंचम षष्ठ शती लगभग) में तर्पण के अवसर पर भारत तथा महाभारत दोनों ग्रन्थों के धर्माचार्यों का पृथक् पृथक् तर्पण-विधान का निर्देश किया गया है (सुमन्तु जैमिनि वैशम्पायन-पैल-सूत्र भाष्य भारत-महाभारत धर्माचार्या······तृप्यन्तु)। फलतः महाभारत का धर्मशास्त्रीय रूप काफी पुराना है। ई० पू० पंचम या षष्ठ शती में इसका अथवा इसके मुख्य अंश का प्रणयन माना जाय, तो कथमपि असमंजस न होगा।

महाभारत में 'धर्म' की बड़ी ही व्यापक तथा विशद कल्पना अङ्गीकृत की गई है। इस विशाल विश्व के नाना विभिन्न अवयवों को एक सूत्र में, एक शृङ्खला में बाँधनेवाला जो सार्वभौम तत्त्व है वही धर्म है। धर्म के बिना प्रजाओं को एक सूत्र में धारण करनेवाला तत्त्व दूसरा नहीं है। यदि धर्म का अस्तित्व इस जगत् में न होता, तो यह जगत् कब का विशृङ्खल होकर छिन्न-भिन्न हो गया रहता। युधिष्ठिर के धर्मविषयक प्रश्न के उत्तर में भीष्म-पितामह का यह सर्वप्रथम कथन धर्म की महनीयता तथा व्यापकता का स्पष्ट संकेत प्रदान करता है—

सर्वत्र विहितो धर्मः सत्यप्रेत्य तपःफलम्।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया॥

—शांतिपर्व, १७४।२।

यह श्लोक बड़े महत्त्व का है। इसका आशय है कि सब आश्रमों में वेद के द्वारा धर्म का विधान किया गया है जो वस्तुतः अदृष्ट फल देनेवाला होता है। सद्वस्तु के आलोचन (तपः) का फल मरण से पूर्व ही प्राणी को प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञान दृष्ट-फल होता है। धर्म के द्वार बहुत से हैं जिनके द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति करता है। धर्म की कोई भी क्रिया विफल नहीं होती—धर्म का कोई भी अनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता। अतः धर्म का आचरण सर्वदा तथा सर्वथा श्लाघनीय है।

परंतु संसार की स्थिति श्रद्धालु जनों के हृदय में भी श्रद्धा का उन्मूलन करती है। वनवास में युधिष्ठिर को अपनी दुरवस्था पर, अपनी हीन-दीन दशा पर, बड़ा ही क्षोभ उत्पन्न हुआ था। अपनी स्थिति का परिचय देकर

वे लोमश ऋषि से धर्म की जिज्ञासा करते हुए दीख पड़ते हैं। वे पूछते हैं—भगवन्, मेरा जीवन अधार्मिक नहीं कहा जा सकता, तथापि मैं निरंतर दुःखों से प्रताड़ित होता रहा हूँ। धर्म करने पर भी इतना दुःख का उदय! उधर अधर्म का सेवन करनेवाले सुख-समृद्धि के भाजन हैं। इसका क्या कारण है? इसके उत्तर में धर्म की महत्ता प्रतिपादित करनेवाले लोमश ऋषि के ये वचन ध्यान देने योग्य हैं—

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

—वनपर्व, ९४।४

अधर्म के आचरण से मनुष्य की वृद्धि जो दीख पड़ती है वह स्थायी न होकर क्षणिक ही होती है। मनुष्य अधर्म से बढ़ता है, उसके बाद कल्याण को देखता तथा पाता है। इतना ही नहीं, वह शत्रुओं को भी जीतता है, परंतु अंत में वह समूल नष्ट हो जाता है। अधर्म का आचरण-कर्ता अकेले ही नाश नहीं प्राप्त करता, प्रत्युत अपने पुत्र-पौत्रादिकों के साथ ही वह सदा सर्वदा के लिए नष्ट हो जाता है।

मानव जीवन का स्वारस्य धर्म के आचरण में है—जो सकाम भाव से संपादित होने पर ऐहिक फलों को देता है और निष्काम भाव से आदृत होने पर आमुष्मिक फल—मोक्ष की उपलब्धि कराता है। फलतः महान् फल को भी देनेवाले, परंतु धर्म से विहीन, कर्म का संपादन मेधावी पुरुष कभी न करे। क्योंकि ऐसा आचरण कथमपि हितकारक (तद्धित) नहीं माना जा सकता—

धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते॥

—शांतिपर्व, अ० २९३।८।

इस धर्म का साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत, व्यापक तथा सार्वभौम होता है। इसके द्वार अनेकत्र परिदृष्ट होते हैं। यदि किसी सभा में न्याय के लिए व्यक्ति उपस्थित हो और उस सभा के सभासद्गण उसके वचनों की उपेक्षा कर न्याय करने के लिये उद्यत नहीं होते, तो उस समय व्यासजी की दृष्टि में धर्म को महान् पीड़ा पहुँचती है, ऐसे दो प्रसंग महाभारत में बड़े ही महत्त्व के तथा आकर्षक हैं—सभापर्व (अ० ६८) में द्रौपदी के चीरहरण के अवसर पर विदुर का वचन तथा उद्योगपर्व (अ० ९५) में कौरवसभा में दौत्य के अवसर पर श्रीकृष्णका वचन। विदुर जी का यह वचन कितना मार्मिक है—

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति त्वनाथवत्।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते॥

—सभापर्व, ६८।५९।

किसी राजसभा में आर्त व्यक्ति, जो दुःखों से प्रताड़ित होकर न्याय माँगने के लिये जाता है, जलते हुये आग के समान होता है। उस समय सभासदों का यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे सत्य धर्म के द्वारा उस प्रज्वलित अग्नि को शांत करें। यदि अधर्म से विद्ध होकर धर्म सभा में उपस्थित हो, तो सभासदों का यह धर्म होता है कि वे उस काँटे को काटकर निकाल बाहर करें। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो उस सभा के वे सदस्य स्वयम् ही अधर्म से विद्ध हो जाते हैं। ऐसे समय के पाप का विभाजन भी महाभारत की सूक्ष्म धार्मिक भावना का पर्याप्त अभिव्यंजक है। महाभारत का कथन है कि जिस सभा में निंदित व्यक्ति निन्दित नहीं किया जाता, वहां उस सभा का श्रेष्ठ पुरुष आधे पाप को स्वयम् लेता है; करनेवाले को चौथाई पाप मिलता है और चौथाई पाप सभासदों को प्राप्त होते हैं। न्यायान्याय की इतनी सूक्ष्म विवेचना अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। इस प्रसंग में महाभारत के मूल श्लोक ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि वे सूत्ररूप में ही पूरे मन्तव्य का प्रकाशन करते हैं, नपे-तुले शब्दों में, साफ-सुथरे संक्षिप्त वचनों में —

> सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
> तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥ ६० ॥
>
> × × ×
>
> विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।
> न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ७७ ॥
> अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
> पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥ ७८ ॥

—सभापर्व, अ० ६८।

यही विवेचन उद्योगपर्व में भी दृष्टिगोचर होता है जब श्री कृष्णचन्द्र धृतराष्ट्र की सभा में संधि कराने के उद्देश्य से स्वयम् दौत्य कर्म स्वीकारते हैं। 'विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण' वाला श्लोक वहां भी उद्धृत किया गया है (अ० ९५, श्लोक ५०)।

इस श्लोक के पीछे तथा आगे भी दो श्लोक नितान्त मार्मिक तथा तथ्य प्रतिपादक हैं जिनमें से प्रथम श्लोक का तात्पर्य यह है कि जहां सभासदों के देखते हुए भी धर्म अधर्म के द्वारा और सत्य अनृत द्वारा मारा जाता है (हन्यते), वहाँ सभासदों की हत्या जाननी चाहिए—

> यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
> हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥

—उद्योगपर्व, ९५।४९।

तथा द्वितीय श्लोक का आशय इसीसे मिलता-जुलता है कि जो सभासद अधर्म को देखते हूए भी चुपचाप बैठे रहते हैं और उस अन्याय या अधर्म का प्रतिकार नहीं करते, उन्हें वह धर्म उसी भाँति तोड़ डालता है जिस प्रकार नदी किनारे पर उगनेवाले पेड़ों को अपने वेग से तोड़ कर गिरा डालती है—

धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान्।
येऽधर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ॥

—वही, ९५।५१।

विराट पर्व में भी ऐसा ही प्रसंग तब उपस्थित होता है जब द्रौपदी के साथ किए कीचक के दुष्कृत्यों पर राजा विराट ध्यान नहीं देता तथा उसे अन्याय के रास्ते से रोकने का प्रयत्न नहीं करता। सैरंध्री नाम से महारानी की परिचर्या करनेवाली अपमानिता द्रौपदी भरी सभा में राजा विराट को ललकार कर चुनौती देती है और कहती है—

न राजा राजवत् किञ्चित् समाचरति कीचके।
दस्यूनामिव धर्मस्ते नहि संसदि शोभते ॥

—विराटपर्व, १६।३१

राजा का धर्म अन्यायी को दंड देना है, परंन्तु तुम राजा होकर भी कीचक के प्रति राजवत्—राजा के समान—कुछ भी नहीं करते हो। यह तो डाकुओं का धर्म है। सभा में यह तुम्हें कथमपि नहीं शोभता। कितनी उग्र है यह भर्त्सना !!! कीचक परस्त्री के साथ जघन्य अन्याय करने पर तैयार है। ऐसी दशा में राजा द्रुपद को (जिसकी सेना का वह आधिपत्य करता है) उसे उचित दंड देना सर्वथा न्याय्य है। इस न्याय से पराङ्मुख होने वाले राजा का धर्म डाकुओं का धर्म है—निरंतर अन्याय तथा अत्याचार करना।

यह तो हुई सभाधर्म की चर्चा। महाभारत का समय बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मण धर्म के उत्कट तथा घनघोर संघर्ष का युग था। बौद्ध धर्म अपने नास्तिक विचारों के कारण जन-साधारण का प्रिय पात्र बना हुआ था। उस युग में ऐसे व्यक्ति जिन्हें अभी तक मूँछ भी नहीं जमी थी[1] घर द्वार से नाता

---

१. केचित् गृहान् परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः ॥
धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥

-- शांतिपर्व, ११।२-३

तोड़, माता-पिता तथा गुरु-बंधुजनों से अपना संबंध विच्छेद कर संन्यासी का बाना पहन कर जंगल में तपस्या करने लगे थे। महाभारत के प्रणेता के सामने यह समाज-ध्वंस की अनिष्टकारिणी प्रथा अपना कराल मुख खोलकर खड़ी थी। विकट समस्या थी समाज को इन नाशकारी प्रवृत्तियों से बचाने की। शांतिपर्व के आरम्भ में इस संघर्ष की भीषणता का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त होता है। युधिष्ठिर यहाँ वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना कर निवृत्ति-मार्ग के पथिक के रूप में चित्रित किए गए हैं। वे अरण्य-निवास के प्राकृतिक सौख्य, सुषमा तथा स्वच्छंदता का वर्णन बड़ी मार्मिकता तथा युक्ति के सहारे करते हैं। इस प्रसंग में उनके वचन मंजुल तथा हृदयावर्जक हैं (शांतिपर्व अध्याय ९)। मेरी दृष्टि में महाभारत युद्ध में भूयसी नरहत्या से विषण्णचित्त युधिष्ठिर मानव के शाश्वत मूल्यों की अवहेलना कर संन्यास-जीवन के प्रति अत्यासक्ति के कारण बौद्ध भि.. का प्रतिनिधित्व करते हैं और यदि उन्हें अपने चारों अनुजों के, श्रीकृष्ण तथा व्यासदेव के स्वस्थ उपदेश-वर्णाश्रम धर्म के समुचित पालन के विषय में—उचित समय पर नहीं मिलते, तो वे भी वही कार्य कर बैठते जो उनके शताब्दियों पीछे कलिंग-विजय में सम्पन्न नरहत्या से ऊबकर सम्राट् अशोकवर्धन ने किया था। मनुस्मृति में भी इस संघर्ष तथा विरोध की फीकी झलक हमें हठात् इन शब्दों में मिलती है—

> अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य सुतानपि।
> अनिष्ट्वा शक्तितो यज्ञैर्मोक्षमिच्छन् पतत्यधः॥
>
> —मनुस्मृति।

ऋणत्रय की कल्पना वैदिक आचार का पीठस्थानीय है। अपने ऋषियों, पितरों तथा देवों के ऋणों का वेदाध्यापन, पुत्रोत्पादन यथा यज्ञविधान के द्वारा बिना निष्क्रय-संपादन किए संन्यास का ग्रहण विडंबना है, धर्म से नितांत प्रतिकूल है। इसीलिए महाभारत का आदर्श मानव जीवन के लिए है वर्णाश्रम धर्म का विधिवत् पालन। अन्य तीन आश्रमों का निर्वाह करने के कारण गृहस्थाश्रम ही हमारा परम ध्येय है। इसका उपदेश महाभारत में नाना प्रकारों से, नाना प्रसङ्गों में किया है जिनमें से एक दो प्रसङ्ग ही यहाँ संक्षेप में संकेतित किए जाते हैं। इन विशिष्ट धर्मों के अतिरिक्त महाभारत में सामान्य धर्म का सर्वस्व इस प्रख्यात पद्य में निर्दिष्ट है—

> श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वाचाप्यवधार्यताम्।
> आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अपने लिए जो वस्तु प्रतिकूल हो वह दूसरों के लिए कभी न करनी चाहिए—धर्म का यह मौलिक तत्त्व महाभारत की दृष्टि में धर्म का

'सर्वस्व' (समस्त धन) है और इसे ऐसा होना भी चाहिए। कारण यह कि इस जगत् के बीच सबसे प्रिय वस्तु तो आत्मा ही ठहरा। उसी आत्मा की कामना से ही जगत् की वस्तुएँ प्यारी लगती हैं—स्वतः उन वस्तुओं का अपना कुछ भी मूल्य नहीं है, 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। इस आत्मतत्त्व की कसौटी पर कसने से इस उपदेश से बढ़कर धर्म का अन्य उपदेश क्या कोई हो सकता है? इस लक्षण का निर्देश निषेधमुखेन किया जाना भी अपना महत्त्व रखता है। अपने प्रतिकूल वस्तुओं का आचरण तो दूसरों के साथ कथमपि तथा कदापि होना ही नहीं चाहिए। बाइबिल में क्राइस्ट का उपदेश भी इन्हीं शब्दों में है। इसी तथ्य का प्रतिपादन महाभारत में अन्य शब्दों में भी उपलब्ध होता है—

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथा युक्तः सोऽवहासं नियच्छति॥

—पराशर गीता, शांति अ० २९०।

दूसरे व्यक्तियों के जिस कार्य की हम निंदा किया करते हैं उसे हमें कभी स्वयम् न करना चाहिए। इस कथन के भीतर जन-जीवन को उदात्त पन्थ पर ले चलने का बड़ा ही गम्भीर तत्त्व अन्तर्निहित है। समाज के प्राणी धर्म के इन सामान्य नियमों का जितना ही आदर अपने जीवन में करते हैं, उतना ही महत्त्वशाली होता है वह समाज—इस विषय में दो मतों की गुंजाइश नहीं है।

शांतिपर्व के ११ वें अध्याय में अर्जुन से प्राचीन इतिहास के रूप में तापस शक्र के जिस संवाद का उल्लेख किया है वह इस प्रसङ्ग में नूनं अवधार्य है। अजातश्मश्रु बाल संन्यासियों की टोली के सामने शक्र ने 'विघसाशी' की भूरि प्रशंसा की है। 'विघसाशी' का फलितार्थ है गृहस्थ। जो सायम् प्रातः अपने कुटुम्बियों को अन्न का विभाजन करता है, अतिथि, देव, पितृ तथा स्वजन को देने के बाद अवशिष्ट अन्न को स्वयम् खाता है वही 'विघसाशी' के महत्त्वपूर्ण अभिधान से वाच्य होता है (विघस = पञ्चमहायज्ञों का अवशिष्ट अन्न, आशी = भोक्ता)—

सायं प्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि।
दत्वाऽतिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः॥

—शांतिपर्व, ११।२३-२४।

फलतः पञ्चमहायज्ञों का विधिवत् अनुष्ठाता गृहस्थ ही सब आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है। असामयिक वैराग्य से उद्विग्नचित्त युधिष्ठिर को नकुल

ने गृहस्थाश्रम को छोड़ असमय में निवृत्ति मार्ग के पथिक होने के कारण गहरी भर्त्सना की है। उनके ये वाक्य बड़े ही महत्त्व के हैं—हे प्रभुवर युधिष्ठिर, महायज्ञों का विना संपादन किए, पितरों का श्राद्ध यथार्थतः विना किए तथा तीर्थों में विना स्नान किए यदि प्रव्रज्या लेना चाहते हैं, तो आप उस मेघखण्ड के समान नाश प्राप्त कर लेंगे जो वायु के झोंके से प्रेरित किया जाता है। वह व्यक्ति तो 'इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः' के अनुसार दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर अन्तराल में ही झूला करता है, फलतः पूर्वोक्त कर्मों का अनुष्ठान किए बिना संन्यास का सेवन महानिन्दनीय कर्म है—

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम्।
तीर्थेष्वनभिसंप्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत् प्रभो॥
छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम्।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः॥

—वही, १२।३३-३४।

गृहस्थाश्रम की भूयसी प्रतिष्ठा का हेतु यह तथ्य है कि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम के ऊपर ही आश्रित तथा अवलम्बित हैं। अर्जुन ने इस आश्रम की स्तुति में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है (अध्याय १८)। उनका कथन है कि यदि याचमान भिक्षुक को गृहस्थ राजा दान नहीं देता, तो वह अग्नि के समान स्वतः ही उपशान्त हो जावेगा अर्थात् इंधन न डालने से अग्नि जिस प्रकार निर्वाण को प्राप्त कर लेती है, वही दशा दान से वंचित भिक्षुक की होती है—उपशान्ति अर्थात् मृत्यु। अन्न के दान से ही भिक्षुओं का जीवन निर्वाह होता है और इसलिए राजा का (तथा सामान्यतः गृहस्थ का) अन्न दान देना एक नित्यविहित आचरण है। अन्न से ही गृहस्थ होता है और गृहस्थ से ही भिक्षुओं का अस्तित्व है। अन्न से ही प्राण बनता है और इसलिए अन्नदाता प्राणदाता कहा जाता है। व्यावहारिक सत्य तो यह है कि भिक्षु गृहस्थ से निर्मुक्त होने पर भी गृहस्थों पर ही आश्रित रहता है। फलतः दान्त लोग गृहस्थों से ही अपना प्रभव (उदय) तथा प्रतिष्ठा (स्थिति) प्राप्त कर निश्चिंतता से अपना जीवन यापन करते हैं। फलतः गृहस्थ आश्रम ही भारतीय समाज का मेरुदंड है। वही हमारे समाज की रीढ़ है जो समाज के शरीर को उन्नत तथा स्वस्थ बनाए रहती है। मनु के भी एतद्विषयक सिद्धांत महाभारत के इन मौलिक तथ्यों से नातिभिन्न हैं—

न चेद् राजा भवेद् दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः।
अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च।
अन्नात् प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत्॥

गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते॥

—वही, १८।२७-२९।

महाभारत के अनुसार गृहस्थ जीवन के लिये हिंसा का ऐकांतिक परित्याग न तो किया जा सकता है, और न यह कथमपि गर्हणीय ही है। मानव जीवन हिंसा के ऊपर आधारित है। बड़े पशु छोटे पशुओं की हिंसा करके ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं और अपना प्राण धारण करते हैं (शांतिपर्व, १५।२०-२५)। महाभारत हिंसा के उज्ज्वल पक्ष को हमारे सामने रखता है जब वह कहता है कि दूसरों के मर्म को बिना छेदे हुए, दुष्कर कार्य को बिना किए और अपने शत्रु को बिना मारे क्या मनुष्य कभी महती लक्ष्मी को पा सकता है?

नाछित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

—वही, १५।१४।

इतना ही नहीं, अपने शत्रु को जिसने नहीं मारा क्या उसे कभी कीर्ति मिलती है तथा धन और प्रजा को क्या कभी वह पाता है? नहीं, कभी नहीं। इन्द्र ने वृत्रवध के कारण ही महेंद्रत्व प्राप्त किया। लोक उन्हीं देवों की अर्चा-पूजा करता है जिन्होंने शत्रु को मारकर अपना पद प्रतिष्ठित बनाया। रुद्र, स्कंद शक्र, अग्नि, वरुण आदि वे ही देव हमारी उपासना के प्रिय विषय हैं जिन्होंने अपने शत्रुओं को मार डाला तथा अपनी प्रतिष्ठा निरवछिन्न बना रखी। निष्कर्ष यह है कि इस लोक में कोई भी जीवित प्राणी अहिंसा से कभी जीवित नहीं रहता—उसे अपने जीवन-निर्वाह के निमित्त हिंसा का आश्रय लेना ही पड़ता है—यह लोकजीवन का ध्रुव सत्य है :—

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कश्चिदहिंसया।

—वही, श्लोक २०।

यहाँ बौद्ध तथा जैन धर्म के अहिंसावाद की खरी आलोचना की गई है। हिंसा का आश्रय कर दंड का विधिवत् आश्रयण राजा का मुख्य अनिवार्य कर्तव्य होता है। इस १५ वें अध्याय में अर्जुन ने दंड की भूयिष्ठ स्तुति प्रस्तुत की है जो समाज के मंगल-साधन का एक प्रधान अंग है। आज भारतवर्ष को इस तत्त्व को समझने तथा मनन करने की नितांत आवश्यकता है। महात्मा गांधी के 'अहिंसा' सिद्धांत का अन्यथा तात्पर्य लगाकर जो अधिकारी वर्ग आज भी अपने विरोधी राष्ट्रों के आक्रमणों का प्रतिकार करने से हिचकते हैं उन्हें महाभारत का यह अध्याय (शांतिपर्व, अध्याय १५) गंभीरता से मनन तथा

अनुशीलन करना चाहिए। उन्हें याद रखना चाहिए कि अपने शत्रुओं से विरोध करना प्रत्येक जीव का कर्तव्य है, विशेषतः किसी भी देश तथा राष्ट्र के शासक का। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उशना नामक दंडनीति के प्राचीन आचार्य के अनुसार यह पृथ्वी उसे उसी प्रकार निगल जावेगी जिस प्रकार सांप बिलशायी चूहों को निगल जाता है—

> द्वावेव ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
> राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥[1]

हिंसा को गृहस्थ-जीवन के लिए महाभारत एक नितांत आवश्यक तथा अनिवार्य साधन मानता है। यह युक्ति से तथा व्यवहार से दोनों दृष्टियों से एक निर्भ्रांत सत्य है।

महाभारतयुगीन धार्मिक संघर्ष का एक सामान्य वर्णचित्र ऊपर प्रस्तुत किया गया है। वही संघर्ष मनुस्मृति के काल में भी पूर्णतया लक्षित होता है और यह होना स्वाभाविक ही है। मनुस्मृति ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के निमित्त आवश्यक धार्मिक अनुष्ठानों की विवृति देनेवाली एक महनीय स्मृति है। इसका रचनाकाल विक्रम पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है ब्राह्मणवंशी शुङ्गों के राज्यकाल में, जब सम्राट् अशोक के वैदिक-मार्ग-द्वेषी धर्म तथा राजनीति के विपुल प्रभाव के विध्वंसन के निमित्त मौर्य के ब्राह्मण सेनानी पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य नरेश को मार कर ब्राह्मणवंश की स्थापना की थी। इसीलिए मनुस्मृति में गृहस्थ धर्म की विपुल प्रतिष्ठा का आदर्श बहुशः आख्यात हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास के समय में भी इसी प्रकार का एक तुमुल संघर्ष लक्षित होता है—वर्णाश्रमाश्रयी हिन्दू समाज में तथा निवृत्ति को ही एकमात्र आदर्श मानने वाले निर्गुणी संतों तथा योगियों में। गोरखनाथ तथा उनके अनुयायियों ने समाज के आदर्श को केवल निवृत्ति में प्रतिष्ठित कर उसे वैदिक रूप से अधश्च्युत कर रखा था। इन निर्गुनिया सन्तों के विशेष प्रभाव के कारण भारतीय समाज आदर्शहीन होकर भ्रांत तथा विक्षिप्त बन गया था। उस आदर्श से भारतीय समाज को हटाकर वर्णाश्रम धर्म में प्रतिष्ठित करना गोस्वामीजी के महनीय प्रवन्ध-काव्य 'मानस' के प्रणयन का मुख्य हेतु मानना कथमपि इतिहास-विरुद्ध नहीं है।

---

१. यह श्लोक महाभारत में अनेक स्थानों पर उद्धृत किया गया है। शांतिपर्व के ५७ वें अध्याय में राजनीति के तथ्यों का संक्षिप्त विवरण प्राचीन श्लोकों के उद्धरण के साथ-साथ बड़ी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह श्लोक 'उशना' के द्वारा प्रतिपादित बताया गया है।

—द्रष्टव्य शान्ति० अ० ५७, श्लोक २–३।

गोसाईंजी ने इसीलिए गृहस्थाश्रम को इतनी प्रतिष्ठा प्रदान की और अपने इष्टदेव मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र को शील, सौन्दर्य तथा शक्ति के सामञ्जस्य रूप में पूर्णतः प्रतिष्ठित किया। मेरी दृष्टि में तुलसीदास के सामने महाभारत में व्याख्यात धर्म की पूर्ण कल्पना सर्वदा जागरूक रही और परिवर्तित परिस्थिति को लक्ष्य कर उन्होंने उसी आदर्श को इस नये युग के लिए भी उपादेय माना तथा उसकी विस्पष्ट व्याख्या कर प्राचीन आदर्श का ही अपने नवीन ग्रन्थ 'रामचरितमानस' के द्वारा उपबृंहण किया।

निष्कर्ष यह है कि महाभारत की दृष्टि में धर्म ही मानव-कल्याण का परम साधक तत्त्व है। त्रिवर्ग का सार धर्म ही है। इसीलिए व्यासजी ने भारत-सावित्री में इस शतसाहस्री संहिता का सार इस छोटे से श्लोक में कितनी विशदता से प्रतिपादित किया है कि 'मैं अपनी भुजा उठाकर उच्च स्वर से पुकार रहा हूँ। परन्तु कोई भी मेरी बात नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ उत्पन्न होता है और धर्म से ही काम उत्पन्न होता है। अर्थ तथा काम का मूल निश्चित रूप से धर्म ही है। तब उस धर्म की उपासना क्यों नहीं करते ?'

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

महाभारत का युद्ध भी धर्म तथा अधर्म के बीच उग्र संघर्ष का काल्पनिक प्रतीक न होकर वास्तविकता का स्पष्ट निर्देश ही है। इसे समझने के लिए महाभारत में प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है। दुर्योधन तथा उसके सहायक मन्युमय वृक्ष हैं तथा युधिष्ठिर और उनके सहयोगी धर्ममय वृक्ष हैं। कौरवों के युद्ध में पांडवों की विजय अधर्म के ऊपर धर्म के विजय का भव्य निदर्शन है ? इस कल्पना को ध्यान से पढ़िए—

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रो मनीषी॥
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥

—आदिपर्व, १।११०-१११।

महाभारतीय कथानक का अभिधेयार्थ इसी धर्म-विजय की अभिव्यंजना में है। कहने का तात्पर्य है कि महाभारत धर्म का केवल शाब्दिक प्रतिपादन नहीं करता, प्रत्युत वह अपने कार्यों से, नाना घटनाओं से, पांडवों के विषम स्थिति में निष्पादित कार्य-समूहों से, धर्म का व्यावहारिक प्रतिपादन भी निरन्तर करता है; इसके विषय में मत-द्वैविध्य हो नहीं सकता। इसीलिए यह ग्रन्थरत्न

अपनी सुभग शिक्षा धर्म के चयन के निमित्त देता है, क्योंकि धर्म ही परलोक जाने वाले प्राणी का एकमात्र बंधु है। अर्थ तथा भार्या बंधु के रूप में सामान्यतः प्रतिष्ठित माने जाते हैं, परन्तु निपुण व्यक्तियों के द्वारा सेवित होने पर भी ये दोनों न तो आप्तभाव–मित्र भाव को ही प्राप्त करते हैं, और न स्थिरता ही धारण करते हैं। विपरीत इनके, धर्म निश्चयेन हमारा आप्त पुरुष है तथा सर्वदा स्थायी नित्य तत्त्व है। फलतः धर्म की उपासना ही कल्याणकारी मानव का एकमात्र कर्तव्य होना चाहिए, महाभारत का यही निर्भ्रान्त और अनिवार्य उपदेश है :—

> धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
> स ह्येक एव परलोक-गतस्य बन्धुः।
> अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
> नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥

—आदिपर्व, २।३९१।

(३)

पौराणिक भक्ति का वैदिक उद्गम

भारतवर्ष भक्तिरस से स्निग्ध है। भक्ति की मधुर धारा से उसका प्रत्येक प्रान्त आप्यायित है। इस भारतवर्ष में भक्ति का उद्गम कब और कहाँ हुआ? इसका अब विचार किया जायगा। इस प्रश्न की चर्चा रहस्य से शून्य नहीं है। जब से पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय साहित्य तथा धर्म से परिचय पाया, तब से उनमें से बहुतों का आग्रह रहा है कि भारत में भक्ति की कल्पना ईसाई धर्म की देन है। पाश्चात्य जगत् में कर्मप्रधान यहूदी धर्म की तुलना में ईसाई धर्म में में प्रेम की प्रचुरता अवश्यमेव एक ध्यानगम्य वस्तु है। ईसाई मत का मूल सिद्धान्त है—भगवान् का अटूट प्रेम या भगवान् की भक्ति। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि संसार के इतिहास में ईसाई मत में ही सर्वप्रथम भक्ति का उदय हुआ और वहीं से यह भारतवर्ष में भी प्रविष्ट होकर सर्वत्र प्रचारित हुई। भारत भक्ति की कल्पना के लिए ईसाई मत का ऋणी बतलाया जाता है। परन्तु इस प्रश्न की समीक्षा करने पर यह पाश्चात्य मत नितान्त निर्मूल, निराधार तथा अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य के गाढ़ अनुशीलन से यही स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि वेद जैसे कर्म तथा ज्ञान का उदय स्थल है वैसे ही वह भक्ति का भी उद्गम स्थान है। इस अवसर पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। धर्म के सिद्धान्तों के इतिहास की पर्यालोचना करने पर प्रायः देखा जाता है कि किसी युग में किसी सिद्धान्त-विशेष की उपोद्‌बोधक सामग्री विद्यमान रहती है, यद्यपि उस सिद्धान्त का प्रतिपादक शब्द उपलब्ध नहीं होता। ऐसी दशा में अभिधान के अभाव में हम तत् तत् सामग्री की भी उपेक्षा कर बैठते हैं। यह सत्य है कि संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अनुरागसूचक 'भक्ति' शब्द का सर्वथा अभाव है, परन्तु यह मानना सत्य नहीं है कि इस अभाव के कारण उस युग में भक्ति की कल्पना अभी तक प्रसूत ही नहीं हुई थी। संहिताओं में कर्मकाण्ड का प्राबल्य था, परन्तु इसका अर्थ नहीं है कि उस समय ज्ञान तथा भक्ति की कल्पना का आविर्भाव ही नहीं हुआ था। मन्त्रों में विशिष्ट देवताओं की स्तुति की गई है, परन्तु यह स्तुति इतनी मार्मिकता से की गई है कि इसमें स्तोता के हृदय में अनुराग का अभाव मानना नितान्त उपहासास्पद है। हमारा तो कथन है कि बिना भक्ति-स्निग्ध हृदय के इस प्रकार की कोमल तथा भावुक स्तुतियों का उदय ही नहीं हो सकता। शुष्क हृदय में न तो इतनी कोमलता आ सकती है

और न इतनी भावुकता। देवताओं की स्तुति करते समय साधक उनके साथ पिता, माता, स्निग्ध बन्धु आदि नितान्त मनोरम हृदयंगम सम्बन्ध स्थापित करता है। और यह स्पष्ट प्रमाण है कि स्तोता के हृदय में देवताओं के प्रति सर्वतोभावेन प्रेम तथा अनुराग विद्यमान है।

कतिपय देवताओं की स्तुतियों का अध्ययन कर हम अपना सिद्धान्त दृढ़ करना चाहते हैं। सर्वप्रथम अग्नि की ही परीक्षा कीजिए। अग्नि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रतिनिधि देवता ठहरे, उन्हीं के सद्भाव से यज्ञयागों का सम्पादन सिद्ध होता है। अतः शुष्क कर्मकाण्ड के प्रमुख देवता की स्तुति में अनुरागात्मिका भावना का अभाव सहज में ही अनुमेय है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। वे विपत्तियों के पार ले जाने वाले त्राता के तटस्थ रूप में ही चित्रित नहीं किये गये हैं, प्रत्युत पिता तथा माता जैसे रागात्मक सम्बन्धों के आधार भी स्वीकृत किये गये हैं। ऋग्वेद का यह मन्त्र अग्नि को मनुष्यों का पिता तथा माता बतला रहा है :—

त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्॥
—(ऋग् ६।१।५)

यह आश्चर्य की ही घटना होगी यदि अग्नि को पिता तथा माता बतलाने वाले उपासक के हृदय में अनुराग की रेखा का उदय न हो, भक्ति की भावना का अवतार न हो।

वैदिक देवताओं में इन्द्र शौर्य के प्रतीक माने जाते हैं तथा दस्युओं पर आर्यों के विजय प्रदान करने के कारण वे उनके प्रधान उपास्य देव समझे जाते हैं। बात है भी बिल्कुल ठीक। इन्द्र की अनुकम्पा से आर्यगण अपने शत्रुओं की किलाबन्दी ध्वस्त करने में सर्वथा समर्थ होते हैं। ऐसे शौर्य-प्रधान देवता की स्तुति में कोमल रागात्मक संबंध की स्थापना का अभाव संभाव्य प्रतीत होता है, परन्तु उपासकों ने इन्द्र के साथ बहुत ही स्निग्ध अन्तरंग संबंध स्थापित किया है। इन्द्र केवल पिता ही नहीं, प्रत्युत माता भी माने गये हैं—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे।
(ऋग्वेद ८।९८।११)

इन्द्र उपासकों के सखा या पिता ही नहीं हैं, प्रत्युत पितरों में सर्वश्रेष्ठ भी हैं—

सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः।
—(वही, ४।१७।१७)

वामदेव गौतम ऋषि की अनुभूति है कि इन्द्र में मित्रता, सहृदयता तथा भ्रातृभाव का इतना मनोरम आवास है कि कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो इन्द्र के इन गुणों की स्पृहा न रखेगा ? ऋग्वेद के सुन्दर शब्द हैं—

को नानाम वचसा सोम्याय
मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं
को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥
—(वही, ४।२५।२)

इन मन्त्रों में भक्ति के समान रागात्मक-सम्बन्ध स्थापना की सूचना क्या नहीं है ?

किन्हीं किन्हीं सूक्तों में इतना अधिक अनुराग प्रदर्शित किया गया है कि वह शृङ्गार कोटि को भी स्पर्श कर रहा है। इन सूक्तों में शृङ्गारिक रहस्यवाद की कमनीय चारुता आलोचकों का चित्त हठात् चमत्कृत कर रही है। एक मंत्र में कृष्ण आङ्गिरस ऋषि कह रहे हैं कि जिस प्रकार जाया पति को आलिङ्गन करती है उसी प्रकार हमारी मति इन्द्र को आलिङ्गन करती है—

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥
—ऋ० सं० १०।४३।१

दूसरे मंत्र में काक्षीवती घोषा अश्विनी कुमारों से पूछ रही है—हे अश्विनौ ! आप लोग रात को कहां निवास करते हैं ? किसने आप को अपने प्रेम में बाँध अपनी ओर खींच रखा है जिस प्रकार विधवा अपने देवर को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है—

कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना
कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं
मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥
—ऋ० सं० १०।४०।२

इन मंत्रों के अध्ययन से क्या किसी को संदेह रह सकता है कि स्तोता का हृदय भक्तिभाव से स्निग्ध तथा सिक्त था ?

भक्ति की भावना हमें सब से अधिक मिलती है वरुण के सूक्तों में। वैदिक देवताओं में वरुण का स्थान सर्वतोभावेन मूर्धन्य है। वह विश्वतश्चक्षुः हैं;

अर्थात सब ओर दृष्टि रखने वाला है। वह धृतव्रत (नियमों को धारण करने वाला), सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादक) तथा सम्राट् है। वह सर्वज्ञ है—वह अंतरिक्ष में उड़नेवाली पक्षियों का मार्ग उसी प्रकार जानता है जिस प्रकार वह समुद्र पर चलनेवाली नावों का[1]। स्तोता वरुण को दया तथा करुणा गुणों का निकेतन मानता है। वरुण सर्वज्ञ होने से मनुष्यों के अन्तःकरण में होने वाले पापों को भली भांति जानता है और इस लिए वह अपराधियों को दंड देता है तथा अपना अपराध स्वीकार कर प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्तियों को वह क्षमा प्रदान करता है। वह ऋत—मांगलिक व्यवस्था—का निर्माता तथा नियन्ता है। स्तोता का हृदय अपराध की भावना से द्रवीभूत हो जाता है और उनसे प्रार्थना करता है—

> य आपिर्नित्यं वरुण प्रियः सन्
> त्वामागांसि कृणवत् सखा ते।
> मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम
> यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्॥
>
> —ऋ० सं० ७।८८।६

[इस मन्त्र का आशय है कि तुम्हारा नित्य आप्त प्रियजन हूँ। मैंने आपके प्रति अनेक पाप किये हैं। इन पापों को क्षमा कर मुझे अपनी मित्रता दीजिए। हे यक्षिन् ! हे अद्भुत कर्मों के कर्ता, हमारे पापों को दूर कर दो जिससे अपराधी बन कर हम अपना भोजन न करें। तुम बुद्धिमान् हो, इस स्तुतिकर्ता को अनिष्ट निवारक वरणीय वस्तु प्रदान करो] इस स्तुति के भीतर स्तोता की रागात्मिका वृत्ति स्वतः प्रवाहित हो रही है। इस मंत्र को भक्त हृदय का मधुर उद्गार मानना क्या कथमपि अनुचित कहा जा सकता है? यह सख्य भक्ति का सुन्दर दृष्टांत माना जा सकता है।

यह हुई मंत्रों में तटस्थरूप से भक्ति का सत्ता। परंतु प्राचीन अचार्यों की सम्मति में वेद के मन्त्रों में साक्षात् रूप से भक्ति तत्व का समर्थन उपलब्ध होता है। शाण्डिल्य ने अपने भक्तिसूत्र में कहा है—भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः (१।२।९) = भक्ति श्रुति से साक्षात् रूप से जानी जा सकती है। इसकी व्याख्या में नारायणतीर्थ ने भक्ति तथा उसके नवधा प्रकारों के प्रदर्शक मन्त्रों का सव्याख्यान उद्धरण दिया है[2]। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

---

१. वेदा वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः। —ऋ० सं० १।२५।७

२. द्रष्टव्य भक्तिचंद्रिका पृ० ७७–८२ (सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, संख्या ९, काशी १९२४)

तन्नु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विविक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥
—ऋ० सं० १।१५६।३

[इस मन्त्र का आशय है—इस संसार के कारण-रूप (पूर्व्य) उस विष्णु की अपनी मति के अनुरूप स्तुति करो। वह वेदांत वाक्यों (ऋत) का प्रतिपाद्य है। उसकी स्तुति करने से जन्म की प्राप्ति नहीं होती। स्तुति असंभव होने पर उस विष्णु के नाम का ही कथन करो (अर्थात् नाम स्मरण करो)। हम लोग विष्णु के तेज तथा सर्वसाक्षी गुणातीत रूप की प्रेमलक्षण सेवा करते हैं] इस मन्त्र में भगवान् की स्तुति तथा नामस्मरण का स्पष्ट निर्देश है।

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे
सुमज्जानये विष्णवे ददाशति।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्
सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत्॥
—ऋ० १।१५६।२

[अर्थात् जो पुरुष सबसे प्राचीन तथा नित्यनूतन, जगत् के स्रष्टा (वेधसे), स्वयं उत्पन्न होनेवाले अथवा समस्त संसार में मद उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मी के पति (सुमज्जानये[1]) विष्णु के लिए अपने द्रव्य को तथा स्वयं अपने आपको समर्पण करता है, जो महनीय (महतः) विष्णु के पूजनीय (महि) जन्म तथा उपलक्षणात् कर्म को कहता है—कीर्तन करता है, वह दाता तथा स्तोता कीर्ति अथवा अन्न (श्रवोभिः) से संपन्न होकर सब के गन्तव्य परमपद को अनुकूलता से प्राप्त कर लेता है]

यह श्रुति भगवान् के श्रवण, कीर्तन तथा भगवदर्पण का स्पष्ट प्रतिपादन करती है।

ब्राह्मणयुग में भक्ति की भावना उपासना क्षेत्र में नितांत दृढ़ रूप से उपलब्ध होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म-काण्ड की प्रधानता होते हुए भी भक्ति की भावना न्यून होती नहीं दीख पड़ती, प्रत्युत श्रद्धा की भावना से संपुटित होने पर हृदय की अनुरागात्मक प्रवृत्ति बढ़ती पर दृष्टिगोचर होती है। आरण्यकों

---

१. सुमज्जानये स्वयमेवोत्पन्नाय। सुमत् स्वयमिति यास्कः (निरुक्तः ६।२२) यद्वा सुतरां मादयतीति सुमत्। तादृशी जाया यस्य स तथोक्तः। तस्मै सर्व-जगन्मादनशील-श्रीपतये इत्यर्थः।
—सायणभाष्य

में बहिर्याग की अपेक्षा अंतर्याग को विशेष महत्त्व दिया गया है। चित्तवृत्ति-निरोधात्मक योग के विपुल प्रचार का यह युग है। इन दोनों से पुष्ट होकर भक्ति की प्रबलता की ओर साधकों का ध्यान स्वतः आकृष्ट हुआ। उपनिषद् ज्ञान-कांड के सब से श्रेष्ठ माननीय ग्रन्थ हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं, परंतु उनमें भी भक्ति की गरिमा स्थान-स्थान पर अंगीकृत की गई है।

कठोपनिषद् का अनुशीलन भक्ति के सिद्धांतों का स्पष्ट निदर्शक है। आत्म-प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते समय यह उपनिषद् बतला रही है—

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
> न मेधया न बहुना श्रुतेन॥
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
> स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥

—कठ १।२।२३

[यह आत्मा वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणा-शक्ति से और न अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। यह साधक जिस आत्मा का वरण करता है, उस आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है] इस मंत्र का तात्पर्य है कि केवल आत्मलाभ के लिए ही प्रार्थना करनेवाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मा की उपलब्धि होती है। इस मंत्र में आत्मा के अनुग्रह की ओर गूढ़ संकेत है, परंतु दूसरे मंत्र में 'प्रसाद' अर्थात् अनुग्रह का सिद्धांत स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है—

> तमक्रतुः पश्यति वीतशोको।
> धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः[1]॥

—कठ १।२।२०

अर्थात् निष्काम पुरुष जगत्कर्ता के प्रसाद से अपने आत्मा की महिमा देखता है और शोकरहित हो जाता है।

वैष्णव धर्म में 'प्रसाद' (दया, अनुग्रह) का यह सिद्धांत नितांत महत्त्व-पूर्ण है। भगवान् के अनुग्रह से ही भक्त की कामना-वल्लरी पुष्पित तथा फलित होती है[2]। श्रीमद्भागवत में इसे 'पोषण' (पोषणं तदनुग्रहः—भागवत २।१०।

---

१. यह मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद् (३।२०) तथा महानारायण उपनिषद् में भी आया है। यहां शांकर भाष्य के अनुसार 'धातु-प्रसादात्' पाठ है, परंतु इन उपनिषदों में 'धातुः प्रसादात्' ही स्पष्ट पाठ है।

२. सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः॥

४) सिद्धांत कहते हैं और श्री वल्लभाचार्य का वैष्णव मत इसीलिए 'पुष्टिमार्ग' के नाम से अभिहित किया जाता है। श्वेताश्वतर के अन्य मन्त्र में तपस्या के प्रभाव के अतिरिक्त देवता के प्रसाद से श्वेताश्वतर ऋषि को सिद्धि मिलने का उल्लेख किया गया है (६।२१) इस उपनिषद् में भक्ति शब्द का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

—श्वेता० ६।२३

"जिस पुरुष को देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरु में भी जिसकी भक्ति होती है, उसी महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं"। उपनिषत्-साहित्य में 'भक्ति' शब्द का यह प्रथम प्रयोग माना जाता है। अवांतर वैष्णव-दर्शन में गुरु की जो महिमा विशेष रूप से अंगीकृत की गई है उसी की सूचना इस मंत्र में दी गई है। वैष्णव मत में भक्ति की अपेक्षा **प्रपत्ति** का गौरव अधिक माना जाता है। प्रपत्ति में भगवान् ही उपेय हैं तथा उपाय भी वे ही हैं। भक्त को केवल उनके शरण में जाने की आवश्यकता मात्र रहती है। शरणापन्न होते ही भगवान् अपनी निर्मल दया के प्रभाव से उसका उद्धार संपन्न कर देते हैं। भक्त के लिए तदतिरिक्त कोई कार्य नहीं रहता। इस प्रपत्ति का सिद्धांत भी श्वेताश्वतर में स्पष्ट शब्दों में अंकित किया गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

—श्वेता० ६।१८

इस मंत्र में ब्रह्मा के भी निर्माण करने वाले तथा उनके निमित्त वेदों का आविर्भाव करनेवाले अपनी बुद्धि में प्रकाशित होनेवाले दीप्यमान भगवान् के शरण में जाने का निःसन्देह वर्णन है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता वैष्णव धर्म का नितांत माननीय ग्रंथ है जिसमें भक्ति के तत्त्व का विशदीकरण किया गया है। भगवद्गीता इस विषय में कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों के प्रति नितांत

स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥

—भागवत ५।१९।२७

ऋणी है अथवा कहना चाहिए कि इन उपनिषदों के तथ्यों का संकलन गीता में किया गया है। इस समीक्षा से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भक्ति का सिद्धांत वैदिक है—वैदिक संहिता तथा उपनिषद् में उसके रहस्य का प्रतिपादन है। ब्रह्म सर्वकाम, सत्यसंकल्प है। उसके 'प्रसाद' से ही साधक इस लोक के क्लेशों से अपना उद्धार पा सकता है। वैष्णव धर्म की यह मूल पीठिका वेद पर अवलंबित है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

इस विषय की ओर प्राचीन आचार्यों का भी ध्यान अवश्यमेव आकृष्ट हुआ था। महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने 'मन्त्र रामायण' तथा 'मंत्र भागवत' लिखकर वेद में रामाण तथा भागवत के आख्यानों की सत्ता वैदिक मंत्रों के द्वारा प्रमाणित की है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ८७ अध्याय में वेद-स्तुति या श्रुति गीता का भी यही तात्पर्य है। वेदस्तुति का यही तात्पर्य है कि कर्म तथा ज्ञान के समान भक्ति का प्रतिपादन भी श्रुतियों को अभीष्ट है। इस पांडित्यपूर्ण स्तुति में अनेक मंत्रों का अभिप्राय भक्ति के विशद विवरण में दर्शाया गया है। अतः पुराणों के कर्ता वेदव्यास को भी यह अर्थ अभिलषित प्रतीत होता है। होना उचित ही है। वेद मंत्रद्रष्टा ऋषियों के द्वारा आर्ष दृष्टि से प्रत्यक्षीकृत सत्यों का अलौकिक भंडार है। वह भारतवर्ष के अवांतर काल में विकसित होनेवाले दार्शनिक मतों तथा धार्मिक संप्रदायों का बीज प्रस्तुत करता है। अतः श्रुति को कर्म तथा ज्ञान की उद्गम-भूमि होने के अतिरिक्त भक्ति की उद्गमस्थली होना सर्वथा उचित ही है। मन को वश में करने से भगवद्भक्ति का उदय होता है और मन का वशीकार गुरु की कृपा से ही होता है। इस विषय में उपनिषद् की नाना श्रुतियों[1] का तात्पर्य वेदस्तुति के इस कमनीय श्लोक में है—

> विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
> य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
> व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
> वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ॥
>
> —भाग० १०।८७।३३

---

१. गुरुतत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियाँ—

(क) आचार्यवान् पुरुषो वेद। —छान्दोग्य ६।१४।२

(ख) नैषा तर्केण मतिरापनेया।
प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ॥ —कठ १।२९

(ग) तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ —मुण्डक १।२।१२

[हे अज, जिन्होंने गुरु के चरण को छोड़कर अपने इंद्रिय और प्राणों को वश में कर लिया है, वे भी वश में न होनेवाले अति चंचल मनरूपी घोड़े को वश में करने का यत्न करते हैं। वे उन उपायों से दुःख पाते हैं और इस संसार-समुद्र में ही पड़े हुए सैकड़ों दुःखों से वैसे ही व्याकुल रहते हैं जैसे जहाज से व्यापार करनेवाले लोग नदी-समुद्र आदि में मल्लाह के बिना दुःख पाते हैं] इस प्रकार वैदिक साहित्य की समीक्षा हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि भक्ति का सिद्धांत वैदिक है तथा भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम काल से इस भारतभूमि पर प्रचलित तथा प्रसृत है।

भक्ति के नव प्रकार

श्रीमद्भागवत में भक्तितत्त्व की मीमांसा बड़े वैशद्य से की गई है। **नवलक्षणा भक्ति** के रूप ये[1] हैं—(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (३) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य तथा (९) आत्मनिवेदन। इन सब प्रकारों का वर्णन तथा परस्पर सूक्ष्म विभेद का विवरण भागवत में सुन्दरता से किया गया है। इस क्रम में एक मनोवैज्ञानिक आरोहण है भक्ति आरम्भ होती है भगवान के श्रवण से; भगवान् के नाम तथा गुणों के श्रोत्र से ग्रहण भक्ति की आरम्भिक सीढ़ी है जो कीर्तन, स्मरण आदि सोपानों से चढ़कर साधक को 'आत्मनिवेदन' के द्वारा भगवत्-प्रासाद में पहुँचा देती है। आत्मसमर्पण इस शृंखला की अन्तिम कड़ी है। इनमें से केवल भगवन्नाम के विषय में स्वल्प विवरण पुराणों के, विशेषतः श्रीमद्भागवत के, आधार पर भक्तितत्त्व के सर्वसुलभ साधन की अभिव्यक्ति के निमित्त यहाँ दिया गया है।

१. भागवत ७।५।२३,२४ (प्रह्लाद की उक्ति)

भगवन्नाम—निरुक्ति और प्रभाव

भगवन्नाम की महिमा का वर्णन करना असम्भव है। क्योंकि जिस प्रकार भगवान् अनन्त हैं, उनके नाम भी अनन्त हैं तथा उन नामों की महिमा भी अनन्त है। जिस प्रकार भगवान् के स्वरूप तथा गुण का वर्णन करना असम्भव है, उसी प्रकार उनके नामों का भी वर्णन असम्भव ही है। आवश्यकता है दृढ़ विश्वास की, अपनी अभिरुचि के अनुसार अनन्त के अनन्त नामों में से किसी एक नाम को चुन लेना चाहिए। और उसी नाम का स्मरण तथा मनन यथाशक्ति निरन्तर करते रहने की आवश्यकता है। इसी भगवन्नाम के विषय में कतिपय तथ्य यहाँ उपस्थित किये जाते हैं।

भगवान् के नामों के प्रकार का वर्णन या विवेचन भी एक प्रकार से असम्भव ही है, परन्तु सामान्यरूप से हम उन्हें दो भागों में विभाजित कर सकते हैं (१) गुणनाम तथा (२) कर्मनाम। कुछ नाम तो भगवान् के गुणों के आधार पर निश्चित किये गये हैं—जैसे भक्तवत्सल नाम। भगवान् के भक्तों के प्रेमी होने के कारण यह नाम उन्हें दिया गया है। कर्मनाम भगवान् के किसी विशिष्ट कर्म को लक्षित कर निर्दिष्ट हैं—जैसे 'हरि' तथा 'कंसनिषूदन' आदि नाम। पापों के हरणकर्ता होने के कारण भगवान् का नाम 'हरि' है, तो पापाचारी कंस को मारने के कारण उन्हें 'कंसनिषूदन' नाम प्राप्त हुआ है। प्रधानरूप से इन्हीं गुण तथा कर्म के आधार के ऊपर भगवान् के नाम वेद-शास्त्रों में निर्धारित किये गये हैं। प्रमाण में भगवान् का यह वचन है (शान्ति, नारायणीयपर्व, अ० २४१)

गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानिचित्
ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्व सामसु
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः ॥

महाभारत के इन वचनों के आधार पर श्रीमद्भागवत के इस प्रसिद्ध श्लोक में **'गुणकर्मनाम्नाम्'** का यही तात्पर्य है कि भगवान् के नाम दो प्रकार के होते हैं—गुणनाम और कर्मनाम। इस लिए इस शब्द का उचित विग्रह होगा—**गुणाश्च कर्माणि चेति गुणकर्माणि तेषां नामानि तेषाम्।** समग्र पद को द्वन्द्व समास मानना ठीक नहीं। फलतः **'गुणाश्च कर्माणि च**

नामानि च तेषाम्' विग्रह स्वारस्य नहीं रखता। श्लोक यहाँ दिया जाता है—

> एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
> संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
> विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
> नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥
>
> —भाग० ६।३।२४

भगवान् के कतिपय नामों का निर्वचन

(१) **वासुदेव**—इस शब्द का प्रथम अंश 'वासु' शब्द वस् आच्छादने (ढकना) तथा वस् निवासे (रहना) इन दो धातुओं से निष्पन्न होता है, **(क) वासयति आच्छादयति विश्वमिति वासुः। (ख) वसत्यस्मिन् विश्वमिति वासुः। वासुश्चैव देवश्चेति वासुदेवः।** जिस प्रकार सूर्य अपने किरणों से समस्त जगत् को आच्छादित करता है, उसी प्रकार इस विश्व को आच्छादित करने के कारण भगवान् 'वासुदेव' नाम से अभिहित किये जाते हैं। सब जगत् उन्हीं में निवास करता है—रहता है, इस कारण भी वे इस नाम से अभिहित होते हैं। इस प्रकार 'वासुदेव' शब्द के भीतर **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** तथा **'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः'** दोनों श्रुति-वाक्यों का तात्पर्य समाविष्ट है। इस निर्वचन का प्रमाण महाभारत तथा विष्णुपुराण के ये वचन हैं:—

> छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः।
> सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्॥ ४१॥
>
> —शान्तिपर्व, अ० ३४१।

> सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः
> ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते॥
>
> —विष्णु १।२।१२

(२) **केशव**—इस नाम की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकारों से दी गई है। (क) महाभारत के अनुसार—सूर्य, अग्नि तथा चन्द्रमा के किरण जो प्रकाशित होते हैं, वे ही भगवान् के केश-पद-वाच्य हैं और उनके धारण करने के कारण ही भगवान् केशव पुकारे जाते हैं:—

> सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत
> अंशवो यत् प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः
> सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः॥
>
> —शान्ति २४१।४८

इस पद्य की नीलकण्ठी व्याख्या—केशैः केशवत् सूक्ष्मैः सूर्यादिरश्मिभिस्तद्रूपेण वा वाति गच्छति इति केशवः। इसी अर्थ को लक्ष्य कर गीता का वचन है—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

केशव' नाम के जपने का सद्यः फल है नेत्र की प्राप्ति। इस प्रसंग में अन्धे 'दीर्घतमा' ऋषि के चक्षुष्मान् बनने की वैदिक कथा का निर्देश शान्तिपर्व अ० २४१।४९-५७ में विस्तार से किया गया है।

(ख) 'विष्णुसहस्रनाम' के भाष्य में शंकराचार्य ने इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारों से की है—

(i) 'अभिरूपाः केशा यस्य'—अत्यन्त सुन्दर केशों से सम्पन्न होने से 'केशव'।

(ii) केशी के वध करने के कारण केशव—

यस्मात् त्वयैव दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन।
तस्मात् केशव नाम्ना त्वं लोके ख्यातो भविष्यति ॥

—विष्णु० ५।१६।२३

यहाँ 'केशीवधक' शब्द से पृषोदरादित्वात् सिद्धि मानी गई है।

(iii) क (= ब्रह्मा) + अ (विष्णु) + ईश (शिव) = केश अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-शिव रूप त्रिमूर्ति। ये तीनों जिसके वश में रह कर अपने निर्दिष्ट कार्यों का सम्पादन करते हैं वह 'परमात्मा' है—केशव।

(३) **पृश्निगर्भ**—पृश्नि जिसका गर्भ या गर्भस्थानीय हो उसे पृश्निगर्भ कहते हैं। पृश्नि के अर्थ हैं—अन्न, वेद, जल तथा अमृत। ये भगवान् में सर्वथा गर्भरूप से रहते हैं अर्थात् निवास करते हैं, इसलिए वे पृश्निगर्भ नाम से संकेतित किये जाते हैं।

पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं तथा
ममैतानि सदा गर्भः पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥

—शान्ति २४१।४५

इस नाम के जपने का फल भी निर्दिष्ट है। 'त्रित' नामक ऋषि को उनके एकत और द्वित नामक भ्राताओं ने ईर्ष्यावश कूप में गिरा दिया था। वहाँ से वे प्रार्थना करते थे भगवान् का यही विशिष्ट नाम लेकर—'पृश्नि गर्भ! त्रितं पाहि'। इस नाम के कीर्तन का सद्यः फल उन्हें प्राप्त हुआ और वे उस

अन्ध कूप से बाहर निकल आने में समर्थ हुए। यह वैदिक कथा ऋग्वेद में अनेक मन्त्रों में निर्दिष्ट है।

(४) हरि—भगवान् का यह सुप्रसिद्ध नाम है। इसकी व्युत्पत्ति नारायणीयपर्व (अ० ३४२।६८) में इस प्रकार है :—

इडोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम्।
वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्तस्माद् हरिरहं स्मृतः॥

'हरि' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी गई है—(क) इडोपहूता सह दिवा' मन्त्र के द्वारा आहूत भगवान् यज्ञों में स्वनिर्दिष्ट हविर्भाग को ग्रहण करते हैं तथा (ख) उनका वर्ण (रङ्ग) हरित् है—हरिन्मणि (नीलमणि) के समान उनका रूप नितान्त सुन्दर तथा रमणीय है। विष्णुसहस्रनाम में ३५९ वाँ नाम हविर्हरिः है जिसकी व्याख्या में शंकराचार्य ने पूर्वोक्त श्लोक को उद्धृत कर भगवान् को यज्ञीय हविष् का ग्रहण कर्ता माना है। यह व्याख्या 'यज्ञो वै विष्णुः' के वैदिक आधार के ऊपर आधृत है।

(५) कृष्ण—'कृष्ण' शब्द की महाभारतीय व्याख्या विलक्षण है। भगवान् ने इस शब्द की निरुक्ति के प्रसङ्ग में स्वयं कहा है—

कृष्णाभि मेदिनीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान्।
कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुन॥

—तत्रैव, श्लोक ७९।

मैं काले लोहे की बड़ी कील बनकर पृथ्वी का कर्षण करता हूँ और मेरा वर्ण भी कृष्ण है—काला है। इसीलिए मैं 'कृष्ण' नाम से पुकारा जाता हूँ। अन्य ग्रन्थों में इस शब्द की निरुक्ति भिन्न प्रकार से की जाती है

भगवन्नामों में से कतिपय नामों की निरुक्ति दिखलाने का यही तात्पर्य है कि गुणकर्म के अनुसार विभिन्न निरुक्तियाँ महाभारत तथा पुराणों में प्रदर्शित की गई हैं। भगवान् के गुणों की न इयत्ता है, न कर्मों की। फलतः इन निरुक्तियों में वैभिन्न होने पर भी कोई आश्चर्य नहीं होता। वक्ता की अभिरुचि के अनुसार ही इनमें भेद की कल्पना की जानी उचित है।

एक और भी तथ्य ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार विभिन्न मन्त्रों की उपासना का फल शास्त्रों में भिन्न-भिन्न बतलाया गया है, भगवान् के नामों के जप का फल भी उसी प्रकार समझना चाहिए। सप्तशती के मन्त्रों का चुनाव उद्देश्य की सिद्धि के लिए भिन्न प्रकार का मन्त्रशास्त्र में बतलाया गया है। भगवान् के नामों के विषय में भी यही बात है। पूर्वोक्त निरुक्तियों को दिखलाते समय नारायणीयपर्व ने नाम-जप के विभिन्न उद्देश्यों की ओर भी

संकेत किया है, यथा 'केशव' के जपने का फल है—अन्धे मनुष्य को चक्षु का लाभ तथा 'पृश्निगर्भ' नाम के जपने का फल है—जल में पड़े हुए या डूबते हुए मनुष्य का उस आपत्ति से उद्धार। नाम-जप के सार्वभौम प्रभाव का यह संकोचीकरण नहीं है, प्रत्युत नाम-निरुक्ति की उपयोगिता दिखलाने के लिए शास्त्र की एक विशिष्ट सूझ है। इन नामों की एक दीर्घकालीन परम्परा है अर्थात् वेद में भी ये नाम परमतत्त्व के द्योतनार्थ प्रयुक्त किये जाते थे और उसी वैदिक परम्परा के अन्तर्गत पुराणों की परम्परा समन्वित होती है। जो आलोचक वेद और पुराण के तात्पर्यों में भेददृष्टि अपनाने के पक्षपाती हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए महाभारत का यह सुपुष्ट मत—

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

इतिहास तथा पुराण के द्वारा वेद का समुपबृंहण करना चाहिए। शैली का भेद भले ही हो, परन्तु पुराण वेद के द्वारा प्रतिपादित सत्य तथा तदर्थ का विस्तार करते हैं।

भगवन्नाम का प्रभाव

भगवान् के नामों के जपने का फल पुराणों में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। नाम-जप के माहात्म्य का वर्णन करना असम्भव ही है। नाम के ग्रहण करते ही नामी का रूप साधक के मानस नेत्र के सामने स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हो उठता है। नामी के समान नाम भी चिन्मयवपु होता है। नाम के दिव्यरूप होने से उसमें एक अद्भुत शक्ति होती है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' सूत्र के द्वारा महर्षि पतञ्जलि का साधकों को यह उपदेश है कि नाम का जप करते समय उसके द्वारा द्योतित अर्थ की भावना अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि नाम और नामी का, शब्द और अर्थ का एक अविभाज्य नित्य सम्बन्ध सर्वदा स्थापित रहता है। नाम की प्रभविष्णुता के ऊपर अनुभवसम्पन्न सन्तों और साधकों का आग्रह होना नितान्त नैसर्गिक है। गोस्वामी जी ने तो नाम को राम से भी बढ़कर सिद्ध कर दिया है तथा बालकाण्ड के आरम्भ में ही उनका 'नाम-रामायण' अपनी अलौकिक नूतनता के हेतु साधकों में पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। 'नाम' को गोस्वामीजी ने 'चतुर दुभाषी' कहकर साधनाजगत् के एक महनीय तथ्य की अभिव्यक्ति की है। दुभाषी का कार्य होता है विभिन्न भाषा बोलने वाले व्यक्तियों के बीच सुबोध माध्यम का कार्य निष्पन्न करना। नाम का भी यही स्वरूप है। भक्त भगवान् के स्वरूप को जानने में यदि समर्थ नहीं है, तो 'नाम' उसे बतलाने में सर्वथा कृतकार्य होता है। 'नाम' के द्वारा भक्त भगवान्

के सामने पहुँचने में तथा उनका रसास्वादन करने में सर्वथा समर्थ होता है। इसलिए 'नाम' की महिमा से पुराण तथा भक्ति-साहित्य भरा पड़ा है।

पाप दूर करने का महौषध है—नाम-स्मरण। प्रायश्चित्त पाप दूर करने का सुगम उपाय माना जाता है अवश्य, परन्तु उसमें उतना प्रभाव तथा व्यापकत्व नहीं होता। इस विषय में विष्णुपुराण का यह वचन कितना प्रमाणभूत है—

यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने
विघ्नो, यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः।
मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः
किं चित्रं यदधं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तिते॥

—विष्णु ६।८।५७

आशय है कि जिसमें चित्त लगाने वाला नरकगामी नहीं होता, जिसके चिन्तन में स्वर्गलोक भी विघ्नरूप है, जिसमें चित्त लग जाने पर ब्रह्मलोक भी तुच्छ प्रतीत होता है, और जो अविनाशी प्रभु शुद्ध बुद्धिवाले पुरुषों के हृदय में स्थित होकर उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं, उस अच्युत का चिन्तन करने से यदि पाप विलीन हो जाते हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

नाम के द्वारा पाप राशि उसी प्रकार जल जाती है, जिस प्रकार आग से रूई का ढेर—

सकृत् स्मृतोऽपिगोविन्दो नृणां जन्मशतैः कृतम्।
पापराशिं दहत्याशु तूलराशिमिवानलः॥

नामस्मरण करते ही भगवान् ज्यों ही साधक के हृदय में विराजते हैं, त्यों ही उसके समस्त दोषों को नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार ऊँची-ऊँची लपट वाला अग्नि वायु के साथ मिलकर सूखी घास के ढेर को जला डालता है:—

यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः।
तथा चित्त-स्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम्॥

—विष्णु० ६।७।७४

अजामिल का उपाख्यान नामस्मरण के विषय में नितान्त विश्रुत है। मरते समय धोखे से भी यदि भगवान् का नाम उच्चारित हो जाय, तो शुभ फल होने में तनिक भी विलम्ब नहीं होता। पुत्र को बुलाने की अभिलाषा से उच्चारित 'नारायण' नाम न हो कर 'नामाभास' ही तो है, परन्तु इसके सार्वभौम प्रभाव से प्रत्येक भक्त परिचित है। नाम के शोधन के विषय में श्रीमद्भागवत का प्रख्यात पद्य है—

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि
स्तथा विशुध्यत्यघवान् व्रतादिभिः।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोक गुणोपलम्भकम् ॥

—भाग० ६।२।११

नाम के उच्चारणमात्र से ही पवित्रकीर्ति भगवान् के गुणों का सद्यः ज्ञान हो जाता है जिससे साधक का चित्त उसमें रमने लगता है। नामस्मरण का यही परम उद्‌देश्य है भगवान् के निश्छिद्र गुणों में अपने आपको लगा देना और तदुत्पन्न आनन्द-रस का आस्वादन देना। अन्य फल गौण है, यही तो मुख्य फल है। भगवान् में, उनके गुण, लीला और स्वरूप में रम जाने का एकमात्र सुलभ साधन है—नामसंस्मरण

नाम-व्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्‌विषया मतिः।

भगवान् के नाम का स्मरण प्रतिक्षण होना चाहिए। एक क्षण के लिए भी उसकी विस्मृति होना महान् अपराध है। नाम ही ऐसी वस्तु है जो भगवान् की रसमयी-मूर्ति हमारे नेत्रों के सामने सर्वदा उपस्थित कर देती है। अन्य साधनों से यह कार्य सुचारुरूप से नहीं हो सकता। इसीलिए शास्त्र का वचन है—

एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्ते ध्यानवर्जिते
दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम्।

—विष्णुसहस्रनामभाष्य में उद्धृत।

लुटेरों ने किसी सम्पत्तिशाली धनाढ्य को लूट लिया हो, तो चिल्लाना ही स्वाभाविक होता है। उसी प्रकार यदि मानव का एक भी क्षण भगवान् के ध्यान के बिना बीत जाय, तो उसे अत्यन्त विलाप करना चाहिये। और यह ध्यान भगवान् के नाम द्वारा ही अनायास सिद्ध हो सकता है।

कलियुग की महिमा

नाम स्मरण की उपादेयता इस कलिकाल में विशेषरूप से मानी गई है। विष्णुपुराण (अंश ६, अ० २) में इसका विवरण बड़े ही नाटकीय ढंग से किया गया मिलता है। अल्प आयास से महत् फल की प्राप्ति पाने की जिज्ञासा मुनियों को वेदव्यासजी के पास ले गई। वे गंगाजी में उस समय स्नान कर रहे थे। पानी से ऊपर आते ही वे जोरों से चिल्लाने लगे—

शूद्रः साधुः कलिः साधुः.................. ।
योषितः साधुधन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः ? ॥

मुनि लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ इस नवीन तथ्य के द्योतक वाक्यपुंज पर। स्नान से निवृत्त होने पर मुनियों ने जब अपने सन्देह का निराकरण चाहा, तब वेदव्यास ने इन तीनों की धन्यता के विषय में अपना निश्चित मत प्रकट किया। फल की सिद्धि का चतुर्युगीय अनुपात इस प्रकार व्यासजी ने बतलाया—१० वर्ष (सत्ययुग) : १ वर्ष (त्रेता) : १ मास (द्वापर) : १ दिनरात (कलि)। तात्पर्य यह है कि सत्ययुग में तप, ब्रह्मचर्य तथा जपादि की सिद्धि के लिए ३६०० दिन (तीन हजार छः सौ दिन) लगते हैं, वहाँ कलियुग में एक अहोरात्र ही पर्याप्त है। इतना ही नहीं, साधन की लघुता की दृष्टि से भी कलियुग धन्य है—

ध्यायन् कृते, यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति, तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

—विष्णु ६।२।१७

कृतयुग में (चंचल चित्त से दुःसाध्य) ध्यान से, त्रेता में (दीर्घव्यय-साध्य) यज्ञ से, द्वापर में (महनीय साधनों की सहायता से) अर्चना से जो फल प्राप्त होता है, वही कलि में केशव के (अल्प आयास से साध्य) संकीर्तन से होता है। इसी तथ्य को इसी अध्याय में पराशर जी ने पुनः दुहराया है—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

—तत्रैव, श्लोक ३९

वेदव्यास की दृष्टि में कलि की धन्यता का यही कारण है। श्रीमद्-भागवत में तथा अन्य पुराणों में भी यह मान्यता दुहराई गई है। (द्रष्टव्य भाग० १२।३।५२)। 'हरये नमः' मन्त्र की सार्वकालिक व्यवस्था इसे सर्व-पातकों के क्षालन की क्षमता प्रदान करती है (भाग० १२।१२।४६)। सूर्य अन्धकार को तथा प्रचण्ड बवंडर मेघ को समग्ररूप से दूर कर देता है, उसी प्रकार भगवान् का संकीर्तन प्राणियों के व्यसन तथा विपत्ति को दूर कर फेंक देता है (तत्रैव, श्लोक ४७)। इसीलिए कलियुग के मानवों का परम कर्तव्य है कि वे भगवान् के अनन्त नामों में से किसी नाम को चुन लें और उसीका यथाशक्ति निरन्तर कीर्तन किया करें। यह कीर्तन उभय लोकों में अभीष्ट फल का प्रदाता होता है। इस लोक में ऐहिक भौतिक कल्याण तथा परत्र पार-लौकिक निःश्रेयस (मुक्ति) की सद्यः प्राप्ति भगवन्नाम के जप से तुरन्त होती है। इसलिए इस मार्ग का आश्रयण प्रत्येक मानव का कर्तव्य होना चाहिये। ब्रह्मा जी का नामस्मरण विषयक यह पद्य साधक को सर्वदा ध्यान में रखना चाहिए—

यस्यावतार गुण-कर्म-विडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृह्णन्ति।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥

—भाग० ३।९।१५

नाम-जप के प्रधान आचार्य, अपनी वीणा पर भगवन्नाम के कीर्तनकार श्री नारद जी की यह उक्ति साधकों के लिए संबल का काम करती है— इसे कौन भूल सकता है ?

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
सदुत्तमश्लोक-गुणानुवर्णनम्॥

—भाग० १।५।२२

पुण्यकीर्ति भगवान् के गुणों का कीर्तन मनुष्यों की तपस्या का, वेदाध्ययन का, स्वनुष्ठित यज्ञ का, सुन्दर कथन का, ज्ञान तथा दान का अस्खलित फल बतलाया गया है। फलतः भगवान् की अनुकम्पा से ही उनके नाम के स्मरण में चित्त लगता है। पुराण के भक्तिविषयक सिद्धान्तों का यही निष्कर्ष है।

पौराणिकधर्म पर तान्त्रिक प्रभाव

तन्त्रों के विषय में घोर अज्ञान साधारण जनता में तथा विज्ञ पण्डितजनों में भी व्याप्त है। उसकी उपासना-पद्धति के गुह्य तथा रहस्यात्मक होने के कारण अज्ञान या अल्पज्ञान का होना कुछ अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। तनु विस्तारे धातु से औणादिक ष्ट्रन् (सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्–उणादि सूत्र ६०८) प्रत्यय के योग से निष्पन्न तन्त्र शब्द शास्त्र, सिद्धान्त, विज्ञान तथा विज्ञान-विषयक ग्रन्थ का बोधक[1] है। शंकराचार्य ने सांख्यदर्शन को भी 'तन्त्र' नाम से अभिहित किया है। महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिये 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है[2]। परन्तु 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में ही अधिकतर किया जाता है। यन्त्र मन्त्र आदि से समन्वित एक गुप्त साधन मार्ग के उपदेशक धार्मिक ग्रन्थों के लिए ही संकुचित अर्थ में 'तन्त्र' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। 'तन्त्र' की ही अपर संज्ञा 'आगम' है। देवता के स्वरूप, गुण-कर्म आदि का चिन्तन करने वाले मन्त्रों का जहाँ उद्धार किया जाता है तथा इन मन्त्रों को यज्ञ में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के **पाँचों अंग**—पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र व्यवस्थित रूप से दिखलाये जाते हैं, उन ग्रन्थों की ही संज्ञा **तन्त्र** है। **वाराही** तन्त्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) तथा ध्यानयोग—इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थ को **आगम** या तन्त्र कहते हैं[3]। 'तन्त्र' का वैशिष्ट्य

---

१. तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्र–समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥
— कामिक आगम का वचन

२. स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता।
—शाङ्करभाष्य २।१।१

'न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः'।
यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः ॥
— महाभारत

३. सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्म साधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तम् आगमं तद् विदुर्बुधाः ॥
— वाराहीतन्त्र का वचन

'क्रिया' है। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का क्रियात्मक अथवा विधानात्मक आचार तन्त्र का मुख्य विशिष्ट विषय है। ध्यातव्य है कि भारतीय संस्कृति निगमागममूलक है। जिस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति निगम (= वेद) पर अवलम्बित है, उसी प्रकार वह आगम (तन्त्र) पर भी आश्रित है। निगम और आगम के परस्पर सम्बन्ध को सुलझाना एक विषम पहेली है— नितान्त दुष्कर तथा दुर्भेद्य, परन्तु तान्त्रिक ग्रन्थों के अनुशीलन के आधार पर यह सुलझाया जा सकता है। तथ्य यही है कि तन्त्र दो प्रकार के हैं—वेदानुकूल तथा वेदबाह्य। कुल्लूकभट्ट ने 'श्रुतिश्च द्विविधा—वैदिकी तान्त्रिकी च' कह कर वेदानुकूल सिद्धान्तों के प्रकाशक तन्त्रों की ओर किया गया है और उन्हें सर्वथा श्रुत्यनुकूल स्वीकृत किया है। वैष्णव आगम (पाञ्चरात्र तथा वैखानस) तथा शैव आगम (पाशुपत, शैवसिद्धान्त आदि के मूल ग्रन्थ) के अनेक सिद्धान्त वेदानुकूल ही हैं, यद्यपि किन्हीं अवैदिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के कारण इन्हें अनेकत्र 'वेदबाह्य' कहा गया है। महिम्नःस्तोत्र में इनकी गणना 'त्रयी' के बाहर ही की गई हैं[1]। शंकराचार्य ने पाञ्चरात्र के मूल सिद्धान्त **चतुर्व्यूहवाद** को वेद विरुद्ध माना[2] है, यद्यपि उपासना-विषयक अनेक तथ्यों को वे वेदानुकूल ही मानते हैं। शैवागम को इसी प्रकार अप्पय दीक्षित वेदबाह्य कभी अंगीकार नहीं करते। तन्त्रों के वेद से बाह्य तथा विपरीत होने तथा जनसमाज में निन्दित होने का कारण भी खोजा जा सकता है।

शाक्ततन्त्र के सप्तविध आचारों[3] में वामाचार अन्यतम आचार है। शाक्तमत में पंचमकारोपासना एक नितान्त अंतरंग तथा गूढ़ साधना है। इसके अन्तर्गत पाँच मकारादि शब्द आते हैं—मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा तथा मैथुन। समयाचार के अनुसार ये अन्तर्याग के लिए उपयुक्त साधन हैं।[4] इन्हें सामान्य भौतिक अर्थ में न लेकर अभौतिक प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण करना ही शास्त्र-मर्यादा है। परन्तु इस मर्यादा का उल्लंघन कर इन्हें स्थूल भौतिक अर्थ में लेकर

---

१. त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ॥

—महिम्नःस्तोत्र; श्लोक संख्या ४

२. द्रष्टव्य शांकरभाष्य ब्रह्मसूत्र २।२।४२-४५।
वेदप्रतिषेधश्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्र-मधीतवान् इत्यादि वेदनिन्दादर्शनात्। तस्मादसंगतैषा कल्पनेति सिद्धम्। २।२।४५ के भाष्य का अन्तिम निर्णय।

३ द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भारतीयदर्शन, षष्ठ सं० (१९६०)

४. वही पृष्ठ ७८३-७८५।

उनका वैसा ही प्रयोग करना वामाचार की प्रतिष्ठित उपासनाविधि है। इस उपासनाविधि का केन्द्र है आसाम में स्थित प्रख्यात (या कुख्यात?) शक्तिपीठ कामाख्या, जहाँ तिब्बती पूजा-पद्धति का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ना स्वयं तन्त्र ग्रन्थों को मान्य है। रुद्रयामल तन्त्र की उक्ति है कि वसिष्ठ ऋषि ने इस उपासना को महाचीन (भोट देश = तिब्बत) में स्वयं सीखकर भारतवर्ष में प्रचार किया। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि तिब्बत में 'बोन' नामक एक विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय था जिसकी नितान्त स्थूल भौतिकवादी उपासना का प्रचार पूरबी सीमान्त प्रदेशों से होकर आसाम तथा बंगाल में दशमी शती के आसपास हुआ। यह निश्चयेन विदेशी तथा अवैदिक थी। इसे भी शास्त्र की मर्यादा के भीतर अन्तर्भुक्त करने तथा वैदिकत्व का पूरा आवरण डालने की दृष्टि से ही वैदिक मन्त्रद्रष्टा वसिष्ठ के द्वारा इसके प्रचार की कल्पना गढ़ ली गई होगी—ऐसी कल्पना करना निराधार नहीं कही जा सकती। इस प्रकार वामाचार के घृणित, जघन्य पूजा-विधि देखकर ही तन्त्रों के विषय में विद्वानों में हेय दृष्टि का उदय हुआ। परन्तु सब बछड़ों को एक ही डंडे से हांकना ठीक नहीं होता।

तन्त्र के अधिकांश सिद्धान्त तथा उपासना-प्रकार भी नितान्त वेदानुकूल हैं। वेद तथा तन्त्र का भेद अधिकारी-भेद तथा युगभेद से माना गया है। वेद के क्रियाकलापों में त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) का ही अधिकार है, वहां तन्त्र ने अपने क्रियाकलाप के लिए अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए, शूद्र तथा स्त्रीजनों के लिए भी, उन्मुक्त कर रखा है। इसमें किसी का भी प्रवेश निषिद्ध नहीं है। निगम जहां मुख्यतया ज्ञानप्रधान है, वहां आगम मुख्यतया क्रियाप्रधान है यह तो हुआ अधिकारी-भेद से पार्थक्य। युगभेद से भी पार्थक्य माना गया है। **महानिर्वाण** तन्त्र कहता है कि आगम मार्ग के बिना कलियुग में उद्धार का कोई मार्ग नहीं है; वहां **कुलार्णवतन्त्र** युगधर्म के विषय में कह रहा है—सत्ययुग में वेद तथा वैदिक उपासना का विधान है; त्रेता में स्मृति तथा स्मार्त पूजा का, द्वापर में पुराण तथा पौराणिक उपासना का और कलियुग में तन्त्र तथा तान्त्रिक उपासना का:—

विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये॥

—महानिर्वाणतन्त्र

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागम-सम्मतः॥

—कुलार्णवतन्त्र

निष्कर्ष यह है कि तान्त्रिकी उपासना विद्वज्जन से लेकर पामरजन तक तथा ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक अबाधरूप से, अनियन्त्रितरूप से, सब के लिए विहित है।

विशेषतः उस कलियुग के लिए वह अनिवार्य अनुष्ठान है, जिसमें हम-आप इस समय निवास करते हैं। फलतः समयोपयोगी तथा विश्वोपयोगी होने से तान्त्रिक अनुष्ठान का आजकल बोलबाला सर्वोपरि है।

तन्त्र और पुराण

तन्त्र तथा तान्त्रिक अनुष्ठानों के विषय में पुराणों में अनेक और परस्पर-विपरीत मत उपलब्ध होते हैं। देवीभागवत तथा वराहपुराण में इस विषय का विवेचन विशेष रूप से मिलता है।

(क) लोकों के मोहन के निमित्त ही शंकर ने तन्त्रों की रचना की—समस्त तन्त्रों की। शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त तथा गाणपत्य आगमों का निर्माण भगवान् शंकर ने ही किया। यह उन ब्राह्मणों के उद्धारार्थ है जो वेदमार्ग से बहिष्कृत हैं[1]। तन्त्रों के विषय में पुराण की यही सार्वभौम दृष्टि है।

(ख) तन्त्र में कुछ ऐसे भी अंश हैं जो वेद से विरुद्ध नहीं हैं। फलतः ऐसे अंशों के ग्रहण में वैदिकों को किसी प्रकार के दोष की उद्भावना न करनी चाहिए। परन्तु वेद से भिन्न अर्थ वाले तान्त्रिक अनुष्ठान में द्विज कभी अधिकारी नहीं होता। वहां तो उन्हीं जनों का अधिकार होता है जो वेद से बहिर्भूत होते हैं :—

तत्र वेदाविरुद्धोऽशोऽप्युक्त एव क्वचित् क्वचित्।
वैदिकैस्तद्-ग्रहे दोषो न भवत्येव कर्हिचित्॥ ३१॥
सर्वथा वेद-भिन्नार्थे नाधिकारी द्विजो भवेत्।
वेदाधिकारहीनस्तु भवेत् तत्राधिकारवान्॥ ३२॥

—देवीभाग० ७ स्कन्ध, ३९ अ०।

वेदानुष्ठान को ही विहित माननेवाले पुराणकर्ताओं का यह दृष्टिकोण सर्वथा नैसर्गिक है। उस युग में भी तन्त्र सर्वथा वेदबाह्य नहीं माने जाते थे, प्रत्युत उनमें वेद से अविरुद्ध सिद्धान्तों की भी सत्ता अवश्यमेव वर्तमान थी जिसका अनुष्ठान सर्वथा ग्राह्य और आदरणीय माना जाता था।

(ग) युगभेद से भी उपासनाभेद को किन्हीं पुराणों ने अंगीकार किया है। चारों युगों में क्रमशः वेद, स्मृति, पुराण तथा तन्त्र का प्राबल्य था। फलतः कलियुगी जीवों के कल्याणार्थ तन्त्र का प्राबल्य वर्तमान युग में मानना अनेक पुराणों में उल्लिखित है[2]।

---

१. देवीभागवत ७।३९।१८

२. वराह० ७०।२४-२५; पद्म ६।५३।४-५; ६।५३।२६-२७।

(घ) देवीभागवत के समय में वैखानस आगम के अनुयायी तप्त मुद्रा धारण करते थे और इस पुराण की दृष्टि में वे वेदमार्ग से बहिष्कृत माने जाते थे। – (देवी भाग० ९।१।३१)।

(ङ) देवीभागवत के भी वचन ऊपर के सिद्धान्तों के प्रतिपादक है। यह वेद को ही धर्म का एकमात्र प्रमाण मानता है। इसलिए वेदानुकूल होने से ही स्मृति तथा पुराण भी प्रमाणकोटि में माने गये हैं। रही तन्त्र की प्रामाणिकता की बात। यहां भी वही सिद्धान्त लगाया गया। वेद से अविरोधी तन्त्र तो ग्राह्य होता है और वेद से विरोधी तन्त्र कथमपि मान्य नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि देवीभागवत के काल में तन्त्र का समावेश पुराणों में हो गया था तथा दोनों प्रकार के उसके रूप थे—वेदविरोधी तथा वेदाविरोधी। इनमें द्वितीय रूप ही प्रमाण कोटि के भीतर माना जाता था। **वेदविरोधी तन्त्र की मान्यता कथमपि ग्राह्य नहीं थी**। देवीभागवत के ये तथ्य बड़े ही सारवान् तथा महत्त्वशाली हैं[1]।

पुराणों में तान्त्रिक विषयों के अनुप्रवेश के समय-विषय में विद्वानों में ऐकमत्य उपलब्ध नहीं होता। डा० हाजरा ने इस विषय का अपने ग्रन्थ में बहुत विचार कर कुछ निष्कर्षों को निकाला है[2]—अष्टम शती से प्राचीनतर पुराणांशों में तान्त्रिक पूजा का लेश भी विद्यमान नहीं है। प्रथमतः पुराणों में किसी देवविशेष के मुद्रान्यास आदि का ही वर्णन किया गया और तदनन्तर समग्र तान्त्रिक विधियों का उपन्यास स्मार्त कर्मों के संग में ही बिना किसी वैमत्य के पुराणों ने प्रस्तुत किया। दशम तथा एकादश शती में पुराणों में तन्त्रों ने अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा तथा प्रामाण्य प्राप्त कर लिया। गरुड और अग्नि-पुराण में उपलब्ध तान्त्रिक विधान इसके प्रमाण हैं।

---

१. श्रुतिस्मृति उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एतत्-त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित् ॥ २१ ॥
× × ×
पुराणेषु क्वचिच्चैव तन्त्रदृष्टं यथातथम्।
धर्मं वदन्ति तं धर्मं गृह्णीयान्न कदाचन ॥ २४ ॥
वेदाविरोधि चेत् तन्त्रं तत् प्रमाणं न संशयः।
प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धं यत् तत् प्रमाणं भवेन्न च ॥ २५ ॥
— देवीभागवत ११ स्कन्ध; १ अध्याय

२. Puranic Records on Hindu Rites and Customs नामक ग्रन्थ के पञ्चम परिच्छेद में इनका विस्तार देखिये।

अग्निपुराण का पूजाविधान पाञ्चरात्र विधि के अनुसार है; यह अन्तरंग अनुशीलन से स्पष्ट होता है। पाञ्चरात्रों से वर्तमान अग्निपुराण अत्यन्त प्रभावित है। इस पर शैव तथा शाक्त तन्त्र का कुछ भी प्रभाव लक्षित नहीं होता। इसने २५ पाञ्चरात्र संहिताओं का नामतः उल्लेख किया है[1]। इस पुराण ने २१ अ० से लेकर १०६ अ० तक तान्त्रिक कर्मों तथा विधानों का ही विस्तृत अथ च विशद विवरण दिया है। आगे-पीछे देखने से यह स्पष्टतः किसी अर्वाचीन युग में जोड़ा गया अंश है। यहाँ पाञ्चरात्र विधियों का इतना साङ्गोपाङ्ग विवेचन है कि प्रकाशित पाञ्चरात्र संहिताओं के साथ इनकी तुलना कर इनके मूलस्थान का भी पता लगाया जा सकता है।

उदाहरणार्थ **तान्त्रिकी दीक्षा** का विवेचन बड़े वैशद्य के साथ किया गया है। साथ ही साथ त्रिविध पशुओं (विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल पशु) के निमित्त विभिन्न प्रकार की दीक्षा विवेचित है। समय दीक्षा (८१ अ०), संस्कार दीक्षा (८२ अ०) निर्वाण दीक्षा (८३ अ०) का विवरण अपने पूर्ण तान्त्रिक वैभव तथा विस्तार के साथ यहाँ इतनी सूक्ष्मता से है कि ग्रन्थकार किसी तान्त्रिक ग्रन्थ का यहां संक्षेप प्रस्तुत करता प्रतीत होता है जो उसकी संग्राहिका शैली के नितान्त अनुरूप है। इस प्रकरण में तान्त्रिक मन्त्रों का भी यथास्थान प्रयोग मिलता है। [2]षट्कर्मो—शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेष, उच्चाटन तथा मारण—का विवरण अ० १३८—१४४ अ० तक विस्तार के साथ है। गरुड पुराण में भी तान्त्रिक विधिविधानों की वर्तमान उपलब्धि (अ० ७—११; २१—२३, ३५—३७, ३८ आदि) उसके आविर्भावकाल को नवम-दशम शती में नियन्त्रित कर रही है।

तन्त्र का सन्निवेश प्राचीन पुराण जैसे वायु, भागवत, विष्णु, मार्कण्डेय आदि में बिल्कुल नहीं हैं। भागवत में वैदिकी पूजा के संग में तान्त्रिकी तथा मिश्र पूजा का संकेतमात्र है; कहीं भी विस्तार नहीं किया गया। उपपुराणों के निर्माण की प्रेरणा, लेखक की दृष्टि में, तन्त्रों के व्यापक प्रभाव का परिणत फल मानी जा सकती है। उपपुराण किसी एक देवता के पूजा विधान के विव-

---

१. अग्नि ३१ अ० २—५ श्लो०। इन नामों की डा० श्रादेर कृत An Introduction to the Pancharatra and the Ahirbudhnya Samhita (Adyar. Madras) में दिये गये नामों से तुलना करनी चाहिये जिससे अग्निपुराण के आविर्भावकाल का भी पता चल सकता है।

२. शान्तिवश्य स्तम्भनादि-विद्वेषोच्चाटने ततः।
मारणान्तानि शंसन्ति षट् कर्माणि मनीषिणः॥

रण के निमित्त ही निर्मित हुआ है। फलतः उपपुराणों के युग में तान्त्रिक पूजा का विधान पुराणों में स्वतन्त्र रूप से किया गया उपलब्ध होता है। महापुराणों में तो वैदिक मन्त्रों के संग में ही तान्त्रिक मन्त्रों का समावेश कहीं कहीं वर्तमान है। यह घटना दशम-एकादशी शती में प्रचुरतया से उपलब्ध होती है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए देवीभागवत का एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा।

देवीभागवत की महापुराणता का खण्डन ऊपर सप्रमाण किया गया है। यह निःसन्देह एक उपपुराण ही है, परन्तु शाक्त लोगों के लिए यह किसी भी महापुराण से कम महत्त्व नहीं रखता। इसमें पराशक्ति के स्वरूप का जहाँ दार्शनिक विवेचन है, वहाँ उनके पूजा विधि का गम्भीर तान्त्रिक प्रतिपादन है। समग्र पुराण का वातावरण ही तन्त्रमय है। नाना रूपों में शक्ति का प्राधान्य बतलाना पुराण-कर्ता को अभीष्ट है। विभिन्न स्थानों में विशिष्ट देवी के नाम का उल्लेख एक पूरे अध्याय (७।३८) में मिलता है जिसमें कोलापुर की महालक्ष्मी, तुलजापुर की देवी, हिंगुला, ज्वालामुखी, शाकम्भरी, भ्रामरी आदि के स्थानों का उल्लेख कर विन्ध्याचल-निवासिनी विन्ध्यादेवी सर्वोत्तमोत्तम बतलाई गई है। इससे पूर्व ही एक अध्याय (७।३५) में षट्चक्र के निरूपण में पूर्ण तान्त्रिकता की अभिव्यक्ति है। शारद तथा चैत्र—उभय नवरात्रों के व्रत भगवती की प्रसन्नता के कारण होते हैं तथा ७।३९ में देवी का पूजा-विधान वैदिक तथा तान्त्रिक उभय मन्त्रों की सहायता से निष्पन्न माना गया है। ७।४० में बाह्यपूजा का विस्तार से वर्णन मिलता है। इससे पूर्व तृतीय स्कन्ध के २६ तथा अन्य अध्यायों में कुमारी-पूजन जैसे विशुद्ध तान्त्रिक अनुष्ठान की विधि बतलाई गयी है तथा इस कार्य में निषिद्ध कुमारियों का भी विवरण विषय की पूर्ति के लिए किया गया है। नवम स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में सरस्वती का स्तोत्र, पूजा, कवच आदि तान्त्रिक अनुष्ठान के अनिवार्य अंगों का विवरण देकर ग्रन्थकार लोकप्रचलित षष्ठी, मंगल चण्डी तथा मनसा (नाग) देवी के पूजन तथा उससे जायमान फल को आख्यानमुखेन वर्णन करता है (९।४६, ४७ तथा ४८ क्रमशः)। इन देवियों के पूजाक्षेत्र बंगाल में होने से इस पुराण के निर्माण का भौगोलिक क्षेत्र भी यही पूर्वी प्रान्त माना जाना चाहिए। यह तो ऐतिहासिक तथ्य है कि बँगला साहित्य के मध्य युग में इन देवियों के आख्यानों का वर्णन अलंकृत शैली में काव्य रूप में उपलब्ध होता है जिन्हें मंगल काव्य के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार देवीभागवत शक्ति की तान्त्रिक आराधना का प्रतिपादक एक महनीय उपपुराण है जो विषय की गम्भीरता, प्रतिपादन की विविधता और दार्शनिक तत्त्वों के उन्मीलन में किसी भी महापुराण से घट कर नहीं है।

श्री सत्यनारायण व्रत-कथा

यद्यपि भारत के कोने कोने में प्रत्येक शुभ अवसर पर श्री सत्यनारायण व्रत-कथा का समादर किया जाता है तथापि प्रचलित कथा की पुष्पिका में दिया गया 'स्कन्द-पुराणे रेवा खण्डे' पण्डितों में सदैव विवाद का विषय रहा है, क्योंकि स्कन्द पुराण की इस समय उपलब्ध प्रतिलिपियों के रेवा-खण्ड में यह कथा नहीं है। किंवदन्तियों से यह अनुश्रुत है कि जो वस्तु संकेतित संस्कृत की पुस्तकों में उपलब्ध न हो सके, उसके बारे में समझना चाहिये कि या तो वह ब्रह्मलोक में है या कालकवलित हो चुकी है, फिर भी आज के वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्ता को यह सहसा मान्य नहीं। साथ ही स्कन्दपुराणीय रेवाखण्ड की कथावस्तु का विष्णुव्रत-कथाओं से साक्षात् कोई लगाव भी नहीं है। तो क्या यह परम्परा निर्मूल है ? इस कौतूहल को लेकर इसकी मौलिकता के अन्वेषण में प्रायः समुपलब्ध सभी पुराणों का अध्ययन करने पर यह कथा भविष्यपुराण, खण्ड २ के प्रतिसर्ग पर्व के २४-२९ अध्यायों में वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, पुस्तकाकार की पृष्ठसंख्या ४५०-५८, सं० १९६७ और पत्राकार पृ० सं० २७४-७९) मिली है। कथा कुल ६ अध्यायों में है। प्रचलित पुस्तक से बहुधा साम्य रखते हुए भी चन्द्रचूड आदि राजाओं की कथाएं विशेष रूप में वर्णित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसे पुस्तक का रूप देते समय स्थल-विभ्रम के कारण स्कन्द-पुराणे आदि कह दिया गया और कथा को पूर्ण बनाने के लिए कुछ श्लोक भी गढ़ लिये गये।

श्री सत्यनारायण व्रत-कथा के विषय में इस कथा के ऊपर तीन आक्षेप किये गये हैं जिनका उत्तर यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है :—

(१) स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में यह कथा उपलब्ध होती है। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई तथा नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित रेवाखण्ड में इस कथा का अभाव अवश्य है, परन्तु बंगवासी प्रेस, कलकत्ता के संस्करण में यह उपलब्ध होती है, हाल में ही (१९६२) गुरुमण्डलग्रन्थमाला (कलकत्ता) के विशपुष्प के रूप में प्रकाशित रेवाखण्ड में यह कथा चार अध्यायों में (अ० २३३-२३६) तथा पृ० ११२३-११२५ में उपलब्ध है। प्रचलित कथा से अन्तर केवल अध्यायों का ही है; मूल रेवाखण्ड का तृतीय अध्याय (२३५ वाँ अध्याय) लम्बा होने से दो अध्यायों में विभक्त कर दिया है जिससे आज इसमें पाँच अध्याय हैं।

(२) लेखक का दूसरा आक्षेप है—'स्कन्दपुराणीय रेवाखण्ड की कथावस्तु का विष्णुव्रत कथाओं से साक्षात् कोई लगाव भी नहीं है"। यह आक्षेप निराधार है। रेवाखण्ड में नर्मदा के तीरस्थ शिवलिङ्गों का विशेष विवरण

अवश्य मिलता है, परन्तु साथ ही साथ विष्णु-नारायण के पूजन-अर्चन का बाहुल्य भले ही न हो, अभाव तो कथमपि नहीं है। लिखा है कि रेवा (नर्मदा) के दक्षिण तीर पर शैव मन्दिरों की प्रतिष्ठा है, तो वाम तीर पर विष्णु मन्दिरों की सत्ता है। अध्याय १९३, १९४ तथा १९५ इन तीन अध्यायों में विष्णु की महिमा तथा लक्ष्मीनारायण के विवाह का वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार विष्णु की मान्यता रेवाखण्ड में स्वीकृत होने से तत्-सम्बद्ध कथा की प्राप्ति उसके भीतर होना नितान्त स्वाभाविक है। फलतः रेवाखण्ड से विष्णुव्रत-कथा का सम्बन्ध स्वाभाविक है।

(३) भविष्यपुराण के प्रतिसर्ग पर्व के २४-२९ अध्यायों में यह कथा अवश्य मिलती है। रेवाखण्डीय कथा से इसकी तुलना करने पर यहाँ की सत्यनारायण कथा विस्तृत रूप में दी गई है। कतिपय नामों के अन्तर से कथा वही ज्यों की त्यों है। परन्तु रेवाखण्डीय साधु बनिया की कथा में सत्य की उपेक्षा का जो दुष्परिणाम दिखलाया गया है, वह इतना स्वाभाविक तथा क्रमबद्ध है कि आलोचक को उसे ही मूल कथा मानने को वाध्य होना पड़ता है। कुछ उपबृंहण करके ही चार अध्यायों वाली कथा ६ अध्यायों में बढ़ा कर दी गई है। पुराणों में कथाओं का सन्निवेश कई स्थलों पर कतिपय सामान्य पार्थक्य के साथ मिलता ही है। इसमें आश्चर्य करने की बात नहीं। इस कथा का भौगोलिक क्षेत्र नर्मदा-तीर बतलाया गया है, जो स्पष्टतः अपने मूल, रेवा (नर्मदा) खण्ड, का अविस्मरणीय संकेत है।

(४) सत्यनारायण के व्रत तथा कथा का प्रचलन केवल उत्तरी भारत में ही नहीं है, प्रत्युत महाराष्ट्र में भी तथा आन्ध्र प्रान्त में भी यह कथा सर्वतोभावेन प्रचलित है। और सर्वत्र इसका **मूल स्थान रेवाखण्ड ही** माना गया है। फलतः इतनी दीर्घकालीन तथा दीर्घदैशिक परम्परा का अतिक्रमण करना कथमपि उचित नहीं है। यह कथा निःसन्देह रेवाखण्ड की ही है; इसमें सन्देह करने की कोई भी गुन्जाइश नहीं।

दशम परिच्छेद

पौराणिक देवता

वैदिक देवता पुराणकाल तक आते आते अपनी पूर्ण विभूति को धारण नहीं रख सके। इनमें से कुछ के स्वरूप का लोप ही हो गया और कतिपय अपने उदात्तरूप से च्युत होकर सामान्य स्तर पर विचरण करने लगे। वरुण का पौराणिक रूप इस तथ्य का उज्ज्वल दृष्टान्त है। वैदिक काल में वरुण अत्यन्त उदात्त स्तर पर कल्पित देव थे—नितान्त न्यायप्रिय, विश्व के प्रत्येक पदार्थ के ज्ञाता तथा कर्मानुसार प्राणियों के कर्मफल के वितरण करने वाले ऐश्वर्य सम्पन्न देव; परन्तु पुराणकाल में उनमें एकदम ह्रास हो गया। कहां उनका उदात्त वैदिक रूप और कहां जलदेवता के रूप में सीमित उनका पौराणिक विग्रह !!! वैदिक देवों में विष्णु तथा रुद्र का प्रामुख्य इस युग में निर्विवाद रहा। कुछ लोग गणेश को पुराणकाल की नई उपज मानते हैं जिसमें आर्य से भिन्न पूजानुष्ठान का प्रचुर प्रभाव अङ्गीकार करते हैं, परंन्तु यह सर्वमान्य मत नहीं है। अधिकांश मनीषी गणपति को वैदिक देव मानते हैं जिनकी स्तुति 'ब्रह्मणस्पति' के रूप में वैदिक संहिताओं में उपलब्ध है।[1] इस काल में कतिपय प्राचीन वैदिक देवों के विषय में नवीन कल्पना जाग्रत हुई— सूर्य इसके विशिष्ट निदर्शन हैं। शक-कुषाणों के आगमन से प्रथम शती में उनके उपास्य देव सूर्य का भी तान्त्रिक अनुष्ठान भारत में प्रचलित हुआ। इस नवीन कल्पना को पुराणों ने, विशेषतः भविष्यपुराण ने, स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। भारतवर्ष में सूर्य के उपासकों के अभाव होने के कारण शकद्वीप से सूर्योपासक ब्राह्मणों (मग, भोजक या शाकद्वीपी) को विष्णु-वाहन गरुड ने स्वयं लाकर उस उपासना में महान् योगदान दिया—इसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकारने वाले पुराण पर अप्रिय वार्ता के दबाने का दोष कभी अरोपित नहीं किया जा सकता। प्राचीन काल से आने वाली सूर्यपूजा के साथ इस नवीन तान्त्रिक सूर्यपूजा का समन्वय स्थापित कर

१ बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति के स्वरूप के विषय में द्रष्टव्य डा० मैकडानल : वैदिक माइथौलोजी (हिन्दी रूपान्तर, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१) पृष्ठ १९१–१९७।

पुराणों ने अपनी उदार संग्राहक वृत्ति का परिचय दिया है। हनुमान भी इस प्रकार एक नवीन देव के रूप में गृहीत किये गये हैं। रामचन्द्र की उपासना के संग में उनके अनन्य सेवक हनुमान् की उपासना का लोकप्रिय प्रसार सर्वथा नैसर्गिक है। हनुमत्पूजा का प्रचार १० म शती में आरम्भ हो चुका था, क्योंकि ९२२ ईस्वी में निर्मित मन्दिर में हनुमान् की मूर्ति स्थापित की गई है।

देवों के स्वभाव–स्वरूप में भी कुछ अन्तर अवश्य आ गया। पौराणिक देवता का रूप सगुण–साकार था। फलतः वे मानवों के विशेष सन्निकट तथा सान्निध्य में उपनीत हुए। वे मानव सुख दुःख के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध में आबद्ध हो गये! संसार के नाना दुःखों से सन्तप्त मानव अपनी दुःखद गाथा सुनाने के लिए किसी सहानुभूतिपूर्ण देवता की खोज में था जो उसे सुने, उसे दूर करने का अमृत औषध प्रदान करे तथा विचलित मानव मानस को स्वस्थ बनाकर शान्ति प्रदान करे। ऐसे देव की कल्पना पुराणों ने की। पौराणिक देवता कहीं आकाश में विचरणशील, जगत् के कार्यों से उदासीन व्यक्ति न थे, प्रत्युत भूतलचारी मानवों के दुःख सुख में हाथ बटाने वाले थे। इस प्रकार वैदिक देवों की अपेक्षा वे व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण भक्तों के बिलकुल पास थे। वे अधिक मात्रा में वैयक्तिक हो गये। वे निर्विशेष न होकर सविशेष रूप में प्रतिष्ठित हुए।

पुराण में **समन्वय साधन** के बीज ही नहीं, प्रत्युत पल्लवित तरु की कल्पना साकार रूप से वर्तमान है। प्राचीन युग से आने वाली, लोक समाज में प्रचलित होने वाली इतस्ततः विकीर्ण रूप से उपलब्ध होने वाली उपासना पद्धतियों, आचार-विचारों, कल्पना-मान्यताओं—सब का एक विराट समन्वय उपस्थित कर जो साहित्यिक रचना इनमें उपलब्ध है वह वैविध्य धारण करने पर भी सुसमंजस है, अनेकता से मण्डित होने पर भी ऐक्य भावापन्न है, लोकप्रिय जन-विश्वासों का आगार होने पर भी शास्त्रीय विश्वासों से सम्पन्न है। इसी समन्वय भावना के कारण अवतारवाद का जन्म हुआ जिसके साथ भक्ति का सार्वभौम राज्य पुराणों में विराजने लगा। कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की दुरूहता के कारण वे जनप्रिय नहीं हो सके। फलतः मानवहृदय को विकसित करने वाली भक्ति ही एकमात्र प्रधान उपासना-मार्ग के रूप में गृहीत हुई। इसी प्रकार धर्म तथा मानव स्वभाव के संवेगात्मक पक्ष पर आग्रह कर पुराण ने मानव मन की परिष्कृति के नवीन मार्ग की उद्भावना की। धर्म तथा साहित्य में इस भक्ति-मार्ग के योग से जो मधुरिमा, जो कोमलता आई है वह पुराणयुग की एक विशिष्ट देन है।

(क)

पञ्चदेव

विष्णु

ऋग्वेद के अनुसार विष्णु सौर देवता हैं अर्थात् सूर्य के ही अन्यतम रूप हैं। 'विष्णु' नाम की निरुक्ति इसी तथ्य की द्योतिका है। यास्क का कथन है कि रश्मियों द्वारा व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियों के द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के हेतु सूर्य 'विष्णु' नाम से अभिहित किये जाते हैं। विष्णु के साथ त्रिविक्रम (अर्थात् तीन डगों को रखना) नाम का अनिवार्य सम्बन्ध है। विष्णु ने अपने तीन डगों—पाद विक्षेपों—के द्वारा समस्त विश्व को माप रखा है। विष्णु के इस वैशिष्ट्य का प्रतिपादक यह मन्त्र प्रत्येक संहिता में उपलब्ध होता है :—

> **इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।**
> **समूढमस्य पांसुरे ॥**

—(ऋग्० १।२२।१७)

इसीलिए 'उरुगायः' (विस्तीर्ण गतिवाला और) उरुक्रमः (विस्तीर्ण पाद-प्रक्षेप करने वाला) विशेषण विष्णु के साथ अविनाभाव से सम्बद्ध हैं। ये तीन क्रम क्या हैं ? इसकी द्विविध व्याख्या उपलब्ध होती है। यास्क ने इस विषय में शाकपूणि तथा और्णवाभ नामक आचार्यों के मत का उल्लेख किया है। शाकपूणि के अनुसार (तथा अर्वाचीन संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुरूप) विष्णु के तीन क्रम का सम्बन्ध जगत् के तीन लोकों—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से है जो धीरे धीरे नीचे से ऊपर की ओर हैं। और्णवाभ के मंतव्यानुसार इन तीन डगों का सम्बन्ध सूर्य की दैनन्दिन परिक्रमा के तीन स्थानों उदयस्थान, मध्य बिन्दु तथा अन्तस्थान से है। परन्तु यह व्याख्या वैदिक मन्त्रों से विरुद्ध होने के कारण आदरास्पद नहीं प्रतीत होती है। विष्णु का तृतीय क्रम सबसे ऊँचा स्थान बतलाया गया है जहाँ से वह नीचे के लोक के ऊपर चमकता रहता है (परमं पदमव भाति भूरि, ऋ० १।१५४।६)। यही उनका

अथ यद् विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा
—निरुक्त १२।१९

यदा रश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तो भवति, व्याप्नोति वा रश्मिभिरयं सर्वम्, तदा विष्णुरादित्यो भवति ॥

—दुर्गाचार्य २।३

प्रिय लोक है जिसकी प्राप्ति के लिए साधक की कामना सतत जागरूक रहती है। वहाँ उनके भक्त लोग आनन्द मनाया करते हैं। वह सबका सच्चा बन्धु है। उसके परमपद में मधु का झरना (उत्स) वर्तमान है जिससे उसके भक्त आप्यायित रहते हैं। ऋग्वेद का कहना है विष्णु के परमपद को विद्वान् लोग सदा आकाश में वितत सूर्य के समान देखते हैं—

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥

—(ऋग् १।२२।२०)

इस मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय है कि विष्णु का तृतीय पद या परमपद आकाश में ऊँचे पर स्थित है। जिस प्रकार आकाश में रश्मियों को चारों ओर फैलानेवाला सूर्य चमकता है, उसी प्रकार यह परमपद भी उस ऊँचाई से चारों ओर चमकता है। ऋग्वेद का यह मंत्र ही स्वतः और्णवाभ की कल्पना की पुष्टि न करके शाकपूणि के सिद्धांत को सिद्ध तथा प्रामाणिक बतला रहा है।

विष्णु वेद में एक बलरहित निर्बल देवता के रूप में चित्रित नहीं किये गये हैं। इन्द्र के साथ उनकी गाढ़ मित्रता तथा सहवास से भी यह बात अनुमेय है कि वे भी इन्द्र के समान ही वीर्यशाली तथा बलसंपन्न देवता हैं। इसके अतिरिक्त दीर्घतमा औचथ्य ऋषि ने विष्णु के तीन वीर्यपूर्ण कार्यों का उल्लेख किया है—(१) उन्होंने पृथिवी के ऊपर विद्यमान लोकों का निर्माण किया है, (२) ऊर्ध्वलोक में विद्यमान आकाश को दृढ़ बनाया है। किसी युग में वह हिलता डुलता अस्थिरता का दृष्टांत बना हुआ था। विष्णु के प्रभाव से ही वह अपने स्थान पर दृढ़ तथा स्थिर बना हुआ है। (३) तीसरा पराक्रम है तीन डग रखना जिसका उल्लेख पहिले ही किया गया है। भयंकर पर्वत पर रहनेवाला (गिरिष्ठाः), स्वतन्त्रता से विचरण करनेवाला (कुचरः) सिंह जिस प्रकार प्राणियों में अपने पराक्रम से प्रख्यात है, उसी प्रकार विष्णु भी अपने पराक्रम के कारण ही मनुष्यों की स्तुति के पात्र हैं—

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ॥

—(ऋग् १।१५४।२)

वेद में विष्णु का संबंध गायों के साथ विशेषरूप से दीख पड़ता है और यह परंपरा वैष्णव धर्म के इतिहास में सर्वत्र लक्षित है। काण्व मेधातिथि ऋषि की आध्यात्मिक अनुभूति है—**विष्णुर्गोपा अदाभ्यः** (ऋग्वेद १।२२।१८)

अर्थात् विष्णु अजेय गोप हैं—ऐसे रक्षक हैं जिनका दम्भन या पराजय कथमपि नहीं किया जा सकता। दीर्घतमा औचथ्य ऋषि की अनुभूति और भी स्पष्टतर है। उनका कथन है कि विष्णु के परमपद में या उच्चतम लोक में गायों का निवास है जो भूरिशृङ्गा—अनेक शृङ्गों को धारण करने वाली तथा 'अयासः'—नितांत चंचल हैं :—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ॥

—(ऋग् १।१५४।६)

भौतिक जगत् में 'भूरिशृङ्गा अयासः' गायें सूर्य की चंचल किरणें हैं जो आकाश में नाना दिशाओं को उद्भासित करती दीख पड़ती हैं। इन्हीं मन्त्रों के आधार पर अवान्तर-कालीन वैष्णव मत के अनेक सिद्धान्त अवलंबित हैं। विष्णु का सर्वोच्च पद 'गोलोक' कहलाता है जिसका वैष्णव ग्रन्थों में बड़ा ही सांगोपांग वर्णन मिलता है।[1] गोपवेषधारी विष्णु भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, इसमें संदेह की गुंजायश नहीं। महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में मेघ के विचित्र सौंदर्य की कल्पना के अवसर पर इस गोप-वेषधारी विष्णु का स्मरण किया है—

रत्नच्छाया-व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥

—मेघ १।१५

विष्णु का सम्बन्ध इन्द्र के साथ बड़ा घनिष्ठ है। अनेक मन्त्रों में वे दोनों एक साथ ही प्रशंसित किये गये हैं। वृत्र के मारने के अवसर पर इन्द्र विष्णु से प्रार्थना करते हैं कि वे अपने विक्रम को और भी अधिक बढ़ा दें। संहिताकाल में ही विष्णु का पद देव-मंडली में कम महत्त्वपूर्ण न था, इसका परिचय हमें एक अन्य घटना से भी मिलता है। एक मन्त्र में वे गर्भ के रक्षक बतलाये गये हैं तथा अन्य देवों के साथ गर्भ की स्थिति तथा पुष्टि के लिए उनसे प्रार्थना की गई है। मानव-जीवन के संरक्षण में जो देवता नितांत समर्थ तथा कृतकार्य है, वह सोमयाग में विशेष महत्त्वपूर्ण न होने पर भी साधारण जीवन के लिए उपयोगी, गौरवशाली तथा लोकप्रिय अवश्य हैं; इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

१. द्रष्टव्य ब्रह्मसंहिता ३.२

ब्राह्मण-युग में विष्णु

ब्राह्मण-युग में यज्ञसंस्था का विपुल विकाश संपन्न हुआ और इसके साथ ही साथ देवमण्डली में विष्णु का महत्त्व भी पूर्वापेक्षया अधिकतर हो गया। विष्णु की एकता यज्ञ के साथ की गई—यज्ञो वै विष्णुः। और इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि ऋत्विजों की दृष्टि में विष्णु समस्त देवताओं में श्रेष्ठ तथा पवित्रतम माने जाने लगे, क्योंकि इनकी मान्यता के अनुसार यज्ञ से बढ़कर पवित्र तथा श्रेयस्कर वस्तु अन्य होती ही नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण[1] के आरम्भ में ही अग्नि हीन (अवम) देवता माने गये हैं तथा विष्णु (परम) श्रेष्ठ देव स्वीकार किये गये हैं। इस युग में विष्णु के तीनों डगों का संबन्ध स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से स्थापित किया गया और इनका अनुकरण यज्ञ में यजमान के द्वारा भी किया जाने लगा। यज्ञ में यजमान 'विष्णु-क्रम' का अनुकरण कर तीन पगों को वेदी पर रखता है। इस प्रकार यज्ञात्मक विष्णु के साथ यजमान का ऐक्य-स्थापन ब्राह्मण ग्रन्थ का अभिप्राय प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में असुर से युद्ध के अवसर पर विष्णु के तीन क्रम रखने की कथा का उल्लेख है। विष्णु ने असुरों से पृथ्वी छीन कर इन्द्र को दी। असुरों तथा इन्द्र-विष्णु में लोकों के विभाजन के विषय में झगड़ा हुआ। असुरों ने कहा कि जितनी पृथ्वी विष्णु अपने तीन पगों के द्वारा ले सकते हैं, उतनी पृथ्वी इंद्र को मिलेगी। तब विष्णु ने अपने पगों से समग्र लोक, वेद तथा वाणी इन तीनों को माप कर स्वायत्त कर लिया।[2] शतपथ ब्राह्मण का भी कथन इसी से मिलता-जुलता है। इस ब्राह्मण के अनुसार विष्णु ने अपने पैरों के रखने से देवताओं के लिए वह सर्वशक्तिमत्ता अर्जन कर दी जिसे वे धारण किये हुए हैं[3]। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु असुरों से पृथ्वी तथा सर्वशक्तिमत्ता छीननेवाले गौरवशाली देवता के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

इस विशाल ब्रह्मांड के भीतर विष्णु की अदम्य शक्तिमत्ता, अलौकिक प्रभाव तथा उपयोगिता समझने के लिए उनके वास्तवं स्वरूप की समीक्षा

---

१. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः— ऐतरेय ब्राह्मण १।१

२. इंद्रश्च विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते। ता ह जित्वोचतुः कल्यामहा इति। ते ह तथेत्यसुरा ऊचुः। सोऽब्रवीदिंद्रो यावदेवायं विष्णुस्त्रिविक्रमते तावदस्माकं युष्माकमितरद् इति। स इमान् लोकान् विचक्रमेऽथो वेदान् अथो वाचम्।

—ऐतेरय ब्राह्मण ६।३।१५

३. शतपथ ब्राह्मण १।९।३।९

नितांत आवश्यक है। विश्व में दो शक्तियाँ हैं—पोषक शक्ति तथा शोषक शक्ति, धनात्मक शक्ति तथा ऋणात्मक शक्ति। इस की वैदिक परिभाषा है—अग्निषोम, प्राण तथा रयि। जगत् के मूल में ही दोनों शक्तियाँ जागरूक रहती हैं। इन्हीं दोनों शक्तियों के नाना प्रभाव तथा उपबृंहण का सम्मिलित परिणाम वह वस्तु है जिसे हम जगत् के नाम से पुकारते हैं। इनमें से एक शक्ति पोषण करती है और दूसरी शक्ति शोषण करती है। इस अग्निषोमात्मक विश्व में अग्नि तत्त्व के प्रतिनिधि हैं रुद्र, तो सोमतत्त्व के प्रतीक हैं विष्णु।

भगवान् रुद्र का भौतिक आधार वस्तुतः अग्नि ही हैं। अग्नि के दृश्य तथा भौतिक आधार के ऊपर रुद्र की कल्पना वेद में की गई है। दोनों का साम्य बिल्कुल स्पष्ट तथा विशुद्ध है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है; अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिंग की कल्पना युक्तियुक्त रूप से की गई है। शिव की जलधारी अग्निवेदी का प्रतीक है। जिस प्रकार अग्नि वेदी पर जलते हैं, उसी प्रकार शिव-लिंग जलधारी के मध्य में रखा जाता है। अग्नि में घृत की आहुति के समान शिव का अभिषेक जल के द्वारा किया जाता है। शिव-भक्तों के भस्म धारण करने की प्रथा का रहस्य इसी घटना में छिपा हुआ है। भस्म अग्नि से उत्पन्न होता है और इस भस्म को शिव के अनुयायी उपासक अपने उत्तमांग पर धारण करते हैं। अतः साक्षात् रूप से दोनों रूपों की तुलना करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रुद्र ही अग्नि के प्रतिनिधि हैं। इस विषय में वैदिक प्रमाणों का अभाव नहीं है। ऋग्वेद (२।१।६) का 'त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः' मंत्र डंके की चोट इस एकीकरण की ओर संकेत कर रहा है। अथर्व का मंत्र 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये (अथर्व ७।८३) इसी ओर इंगित कर रहा है। शतपथ ब्राह्मण रुद्र की आठों मूर्तियों को आठ भौतिक पदार्थों का प्रतिनिधि बतला रहा है जिनमें रुद्र अग्नि के साक्षात् प्रतिनिधि हैं—

अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा वाहीकाः। पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्य अशान्तान्येवेतराणि नामानि। अग्निरित्येव शान्ततमम्।

—शतपथ १।७।३।८

इस प्रकार रुद्र अग्नि के प्रतीक ठहरते हैं।

विष्णु सोम के प्रतिनिधि हैं। जगत् का पोषक तत्त्व है सोम। सोम ही इस नील गगन के प्रांगण में विचरणशील चंद्रमा है। सोमही ओषधियों का शिरोमणि है पृथ्वी के प्रांगण में। सोम का रस निकाल कर अग्नि में हवन किया जाता है। ऋत्विग् तथा यजमान यज्ञ के प्रसाद रूप से इसी सोमरस का

पान कर अलौकिक तृप्ति तथा संतोष का अनुभव करते हैं। सोमरस के पान का फल है अमृतत्व की प्राप्ति, ज्योति की उपलब्धि तथा देवत्व का ज्ञान। प्रमाथ काण्व ऋषि इस प्रख्यात मंत्र के द्वारा अपनी अनुभूति को वर्णमय विग्रह पहना रहे हैं—

अपाम सोममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥

—(ऋग् ८।४८।३)

सोम ही अमृत के सूक्ष्म बिंदुओं की वर्षा कर ओषधियों को पुष्ट करता है। सोम ही सुधा के द्वारा देव तथा पितर दोनों समुदायों का आप्यायन करता है। इसीलिए वैदिक ऋषि उससे प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार पिता पुत्र के प्रति दयालु होता है तथा सखा मित्र के लिए मैत्रीभाव प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार आप भी हमारे ऊपर करुणा तथा मैत्री की वर्षा कीजिए और हमारे जीवन के निमित्त हमारी आयु का विस्तार कीजिए—

शंभो भव हृद आपीत इन्दो
पितेव सोम सूनवे सुशेवः।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः
प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः ॥

—(ऋग् ८।४८।४)

इस प्रकार इस विश्व में पोषक तत्व है सोम। भगवान् विष्णु इसी सोम का प्रतिनिधित्व करते हैं। पोषक तत्त्व मात्रा में सर्वदा स्वल्पकाय होता है। वह बढ़ते बढ़ते समग्र शरीर को व्याप्त कर लेता है जिससे उसकी सत्ता का अनुभव उस शरीर के प्रत्येक अंग में, प्रत्येक अवयव में अनुभवकर्ता को भली भाँति लग सकता है। स्वल्पता के गुरुता में परिणत होने में विलंब नहीं लगता। उपयुक्त पात्र में आहित होने पर इस तत्त्व की आकस्मिक वृद्धि तथा विकास में तनिक भी देर नहीं लगती। इसी सिद्धांत का प्रतिपादक है विष्णु का वामन रूप। वामनो वै विष्णुरास—इस ब्राह्मण वाक्य का आध्यात्मिक अर्थ यही है कि जो स्वल्पकाय है वही बृहत्तर काय में परिणत हो जाता है। जगत् का पोषक तत्त्व मात्रा में कितना भी छोटा क्यों न हो, वह अपनी वृद्धि के अवसर पर समग्र विश्व को व्याप्त कर लेता है। अपने पराक्रम मे अनुस्यूत होकर अपने रूप का विस्तार कर लेता है। विष्णु के मोहिनी रूप धारण करने का भी रहस्य इसी तथ्य में अंतर्निहित है। देवताओं को अमृत पिलाने में विष्णु का ही हाथ था। उनके अभाव में तो यह असुरों की

संपत्ति बन गया रहता। विष्णु की सुधापान कराने की कथा का संकेत सोम के द्वारा अमृत पान करने की ओर है। तंत्रसाधना से परिचित विद्वान् भली भाँति जानते हैं कि राम ही तारा के रूप में परिणत होते हैं तथा कृष्ण काली का रूप धारण करते हैं। ये सब प्रमाण विष्णु के पोषक तत्त्व अथवा सोमतत्त्व के प्रतीक होने के सिद्धांत के प्रबल पोषक हैं।

सोमसंबद्ध देवता की सौर देवता के रूप में परिणति पाने का कारण उतना दुरूह नहीं है। सोम का प्रकाश सूर्य की किरणों के प्रसरण का परिणाम है। इसीलिए सोम सूर्य-मंडल का निवासी भी कहा जाता है। महाकवि कालिदास का कथन है—

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान् पितॄंश्च।
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते॥

—विक्रमोर्वशीय ३।७

इस प्रकार सोमतत्त्व के प्रतीकभूत विष्णु को सौर देवता के रूप में ग्रहण करना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों देवताओं में विष्णु को जगत् का पालक माननेवाले पुराण भी इसी वैदिक सिद्धांत की पर्याप्त मात्रा में पुष्टि करते हैं।

विष्णु का पौराणिक स्वरूप

पुराणों ने इस जगत् के मूल में वर्तमान, नित्य, अजन्मा, अक्षय, अव्यय, एकरस तथा हेय के अभाव से निर्मल परब्रह्म की ही विष्णु संज्ञा दी है। वह प्रकृति से भी श्रेष्ठ, परमश्रेष्ठ अन्तरात्मा में स्थित परमात्मा, रूप, वर्ण, नाम आदि विशेषणों से विरहित तथा षट् विकारों—जन्म, वृद्धि, स्थिति, परिणाम, क्षय तथा विनाश—से सर्वथा शून्य रहता है। उसके विषय में केवल इतना ही कहा जाता है कि वह सर्वदा 'है'—

शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम्

—(विष्णु १।२।११

जिस समय महाप्रलय उपस्थित है, तब न तो दिन था, न रात्रि, न आकाश था और न पृथ्वी थी; न तो अन्धकार था और न प्रकाश ही था; न इनके अतिरिक्त ही और कुछ था। उस समय श्रोत्र आदि इन्द्रियों का तथा बुद्धि का अविषय एक प्रधान ब्रह्म और पुरुष था (विष्णु १।२।२३)। तात्पर्य यह है कि नासदीय सूक्त में तदेकं की संज्ञा से जिस ब्रह्म का कीर्तन किया है वही विष्णु है। इस विष्णु के दो रूप होते हैं :—

(क) उपाधिरहित ब्रह्म के प्रथम रूप हैं—प्रधान और पुरुष।

(ख) दूसरा रूप है—काल। यही दोनों सृष्टि तथा प्रलय को अथवा प्रकृति और पुरुष को संयुक्त तथा वियुक्त करता है। यह कालरूप भगवान् अनादि हैं तथा अनन्त हैं। इसीलिए संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय भी कभी नहीं रुकते। अर्थात् नित्य काल के प्रभाव से जगत् के उदयादि प्रवाह-रूप से निरन्तर होते रहते हैं। कभी रुकते ही नहीं।

प्रधान तथा पुरुष दोनों अलग अलग स्थित रहते हैं, परन्तु सर्गकाल उपस्थित होने पर वही सर्वव्यापी परमेश्वर अपनी इच्छा से विकारी प्रकृति और अविकारी पुरुष में प्रविष्ट होकर उन्हें क्षोभित करता है। तभी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। उस ब्रह्म या विष्णु का प्रथम रूप पुरुष है। प्रधान तथा व्यक्त (महदादि) उसके दूसरे रूप हैं तथा सबको क्षोभित करने वाला काल उसका परम रूप है। इस प्रकार पुरुष, प्रधान, व्यक्त तथा काल उसके रूप अवश्य हैं, परन्तु वह इन चारों से भी परे है। भगवान् विष्णु के परम विशुद्ध पद को सूरि लोग ही देखते हैं। तात्पर्य यह है कि विष्णु योगी-जनों की ही दृष्टि से अपने हृदयाकाश में उदित सूर्य के समान साक्षात् किया जाता है, अन्यथा नहीं :—

> प्रधान-पुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत्।
> पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद् विष्णोः परमं पदम् ॥
>
> — विष्णु १।२।१६

विष्णु सर्वव्यापी है और यह विश्व उन्हीं में बसा हुआ है। इसीलिए वे 'वासुदेव' नाम से विश्रुत हैं। 'वासुदेव' शब्द की यह विष्णुपुराणीय निरुक्ति महाभारतीय निरुक्ति से सर्वथा साम्य रखती है।[1]

विष्णु के इस व्यापक रूप का संकेत उनके मूर्त रूप के आयुधों और आभूषणों से भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है :—

(१) कौस्तुभमणि—जगत् के निर्लेप, निर्गुण तथा निर्मल क्षेत्रज्ञ स्वरूप का प्रतीक।

---

१. सर्वत्रासौ समस्तं वसत्यत्रेति वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

—(विष्णु १।२।१२)

तुलना कीजिये—

वासना वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूत-निवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तुते ॥

—महाभारत

(२) श्रीवत्स = प्रधान, या मूल प्रकृति ।

(३) गदा = बुद्धि

(४) शंख = पञ्च महाभूतों का उदय कारण तामस अहंकार ।

(५) शार्ङ्ग (धनुष्) = इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाला राजस अहंकार ।

(६) सुदर्शन चक्र = सात्त्विक अहंकार ।

(७) वैजयन्ती माला = पञ्चतन्मात्रा तथा पञ्चमहाभूतों का संघात । वैजयन्तीमाला मुक्ता, माणिक्य, मरकत, इन्द्रनील तथा हीरा—इन पाँचों रत्नों से बनी हुई रहती है और इसीलिए वह संख्या में पांच तन्मात्र तथा महाभूतों का प्रतीक है ।

(८) बाण = ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय ।

(९) खड्ग = विद्यामय ज्ञान (जो अज्ञानमय कोश से आच्छादित रहता है)

तात्पर्य यह है कि भगवान् विष्णु से ही तो पचीस तत्त्व (सांख्य दर्शनाभिमत) उत्पन्न होते हैं । इन्हें प्रतीक रूप से अपने शरीर पर वे आयुधों और आभूषणों के रूप में धारण करते हैं ।[1] अर्थात् विद्या, अविद्या, सत् , असत् तथा अव्यय जो कुछ भी विश्व में है, वह सब भगवान् विष्णु ही हैं । वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराण, वेदाङ्ग, काव्य चर्चा तथा समस्त राग रागिनी आदि अर्थात् विश्व में शास्त्र तथा ललित कला जो कुछ भी विद्यमान है वह सब शब्दमूर्तिधारी विष्णु का ही शरीर है ।

> काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च ।
> शब्दमूर्तिधरस्यैतद् वपुर्विष्णोर्महात्मनः ॥
>
> —विष्णु १।२२।८५

आशय यह है कि भगवान् विष्णु ही जगत् के एकमात्र व्यापक तत्त्व हैं । इनकी ज्ञानात्मिका भक्ति से जीव संसार के बन्धनों से निश्चित रूपेण मुक्त हो जाता है ।

१. द्रष्टव्य विष्णु पुराण १।२२।६८-७५ ।

रुद्रशिव

शिव की महत्ता के उदय होने का इतिहास बड़ा मनोरम है। पौराणिक काल में तथा आजकल रुद्र को जितना महत्त्व तथा प्राधान्य प्राप्त है उतना वैदिक काल में न था। आजकल विष्णु के साथ शिव ही हम हिन्दुओं के प्रधान देवता हैं, परन्तु इस प्रधानता का क्रमिक विकास धीरे-धीरे शताब्दियों में सम्पन्न हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अध्ययन करने से रुद्र के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगाया जा सकता है। ऋग्वेद में केवल तीन सूक्त—प्रथम मण्डल का ११४वाँ सूक्त, २ मण्डल का ३३वाँ सूक्त तथा ७ मण्डल का ४६वाँ सूक्त—रुद्र देवता के विषय में उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देवताओं के साथ इनका नाम लगभग ५० बार आता है। ऋग्वेद में रुद्र का स्थान अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं की अपेक्षा बहुत ही कम महत्त्व का है, परन्तु यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में रुद्र का स्थान बहुत कुछ महत्त्व-संवलित है। यजुर्वेद का एक पूरा अध्याय ही इनकी स्तुति में प्रयुक्त किया गया है। यह 'रुद्राध्याय' यजुर्वेद की अनेक संहिताओं में थोड़े बहुत अन्तर के साथ उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता का १६वाँ अध्याय 'रुद्राध्याय' के नाम से विख्यात है। अथर्ववेद के ११ काण्ड के द्वितीय सूक्त में रुद्रदेव की स्तुति की गई है।

ऋग्वेद में रुद्र का स्वरूप इस प्रकार का वर्णित है : रुद्र के हाथ तथा बाहु हैं (ऋ० २।३३।१०)। उनका शरीर अत्यन्त बलिष्ट है। उनके ओठ अत्यन्त सुन्दर हैं (सुशिप्रः) उनके मस्तक पर बालों का एक जटाजूट है जिसके कारण वे 'कपर्दी' कहलाते हैं (ऋ० १।१४।१)। उनका रंग भूरा है (बभ्रु) तथा आकृति देदीप्यमान है। वे नानारूप धारण करनेवाले हैं (पुरुरूपः) तथा उनके स्थिर अङ्ग चमकनेवाले सोने के गहनों से विभूषित हैं। वे रथ पर सवार होते हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में तथा अथर्व के रुद्रसूक्त में उनके स्वरूप का इससे कहीं अधिक विशद वर्णन उपलब्ध होता है। रुद्र के मुख, चक्षु, त्वच्, अङ्ग, उदर, जिह्वा, तथा दाँतों का उल्लेख किया गया है (अथर्व ११ काण्ड २ सूक्त ५-६ मन्त्र)। उनके सहस्र नेत्र हैं (सहस्राक्षः)। उनकी गर्दन का रंग नीला है (नीलग्रीवः), परन्तु उनका कण्ठ उज्ज्वल रंग का है (शितिकण्ठः)[1] उनके माथे पर जटाजूट का वर्णन भी है, साथ ही साथ कभी-कभी वे मुण्डित केश

---

१. नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च—शु० य० १६।२८

(व्युप्तकेश शु० यु० १६।२९) भी कहे गए हैं। उनके केश लाल रंग या नीले रंग के हैं (हरिकेशः)। वे माथे पर पगड़ी पहननेवाले हैं (उष्णीषी यजु० १६।२२) रंग उनके शरीर का कपिल है (बभ्लुशः १६।१८)।

रुद्राध्याय के अनुसार रुद्र एक बलवान् सुसज्जित योद्धा के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके हाथ में धनुष तथा बाण हैं। उनके धनुष का नाम 'पिनाक' है (शु० यजुर्वेद १६।५१)। उनका धनुष सोने का बना हुआ, हजारों आदमियों को मारनेवाला, सैकड़ों बाणों से सुशोभित तथा मयूरपिच्छ से विभूषित बतलाया गया है (धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्यं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्—अ० १।२।१२) बाणों के रखने के लिये वे तरकस (इषुधि) धारण करते हैं जो संख्या में सौ है। उनके हाथ में तलवार भी चमकती रहती है (निषङ्गी) तथा इस तलवार के रखने के लिये उनके पास म्यान (निषङ्गधि) है। वे वज्र भी धारण करते हैं। वज्र का नाम सृक है (शु० य० १६।२१)। शरीर की रक्षा करने के लिये वे अनेक साधनों को पहने हुए हैं। माथे की रक्षा करने के लिये वे शिरस्त्राण धारण करते हैं (बिल्मी शु० य० १६।३५) और देह के बचाव के वास्ते कवच तथा वर्म पहने हुए हैं। महीधर की टीका के अनुसार वर्म कवच से भिन्न होता था[1]। कवच कपड़ों का सिला हुआ 'अँगरखा' के ढंग का कोई पहनावा था। वर्म खासा लोहे का बना हुआ जिरहबख्तर था। कवच के ऊपर वर्म पहना जाता था। रुद्र शरीर पर चर्म का कपड़ा पहनते हैं (कृत्तिं वसानः—शु० य० १६।५१)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस तरह रथ पर चढ़ कर धनुर्बाण से सुसज्जित योद्धा रणाङ्गण में शत्रुओं के संहार के लिये जाता है, उसी भाँति रुद्र सिर पर बिल्म तथा देह पर कवच और वर्म पहनकर रथ पर आसन मार धनुष पर बाण चढ़ाकर अपने भक्तों के बैरियों को मारने के लिये मैदान में उतरते हैं। वे धनुष पर बाण हमेशा चढ़ाए रहते हैं। इसलिए उनका नाम है—आततायी। इनके अस्त्र-शस्त्र इतने भयानक हैं कि ऋषि इनसे बचने के लिये सदा प्रार्थना किया करते हैं—

> विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवान् उत।
> अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः॥
>
> —शु० य० १६।१०

रुद्र का शरीर नितान्त बलशाली है। ऋग्वेद में वे क्रूर बतलाए गए हैं। वे स्वर्गलोक के रक्तवर्ण (अरुष) वराह हैं (ऋ० १।११४।५)। वे सबसे श्रेष्ठ

---

१. पटस्यूतं कर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्। लोहमयं शरीररक्षकं वर्म।

—शु० य० १६।३५ पर महीधरभाष्य।

वृषभ है; वे तरुण हैं उनका तारुण्य सदा टिकने-वाला है। वे शूरों के अधिपति हैं और अपने सामर्थ्य से वे पर्वतों में टिकी हुई नदियों में वल का प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं। उन्हें न मानने-वाले मनुष्यों को वे अवश्य अपने बाणों से छिन्न-भिन्न कर देते हैं, परन्तु अपने उपासक मनुष्यों के लिये वे अत्यन्त उपकारी हैं। इसलिए वे 'शिव' नाम से भी पुकारे जाते हैं। उनके सम्बन्धियों का परिचय मन्त्रों के अध्ययन से चलता है। रुद्र मरुतों के पिता हैं (ऋ० १।११४।६)। यही कारण है कि अनेक मन्त्रों में मरुत् तथा रुद्र की स्तुति एक साथ की गई मिलती है। मरुतों के 'रुद्रिय' संज्ञा पाने का यही रहस्य है। रुद्र के मरुतों के पिता होने के विषय में षड्गुरु-शिष्य ने 'सर्वानुक्रमणी' की 'वेदार्थदीपिका' में रोचक आख्यान दिया है। इसी प्रसङ्ग को लेकर द्या द्विवेद ने नीतिमञ्जरी' में यह उपदेश निकाला है—

दृष्ट्वा परव्यथां सन्त उपकुर्वन्ति लीलया।
दितेर्गर्भव्यथां हृत्वा रुद्रोऽभून्मरुतां पिता॥

पिछले ग्रन्थों में रुद्र के लिये 'त्र्यम्बक' शब्द का व्यवहार प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इस 'त्र्यम्बक' का प्रयोग ऋग्वेद के केवल एक ही मन्त्र में किया गया है जो शुक्ल यजुर्वेद (अ० ३, ६० मं०) में भी उद्धृत पाया जाता है। रुद्र का स्तुतिपरक यह मन्त्र नितान्त प्रसिद्ध है :—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥

—ऋ० ७।५३।१४

'त्र्यम्बक' शब्द का अर्थ समस्त भाष्यकारों ने 'तीन नेत्र वाला' किया है परन्तु पाश्चात्य विद्वानों को इस अर्थ में आस्था नहीं है। वे यहाँ 'अम्बक' शब्द को जननी वाचक मानकर रुद्र को तीन मातावाला बतलाते हैं, परन्तु यह स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता कि रुद्र की ये तीन मातायें कौन सी थीं। वैदिक काल के अनन्तर रुद्र की पत्नी के लिये प्रयुक्त 'अम्बिका' शब्द का प्रथम प्रयोग वाजसनेयी संहिता (३।५७) में आता है, परन्तु इतना अन्तर अवश्य है कि यह उनकी पत्नी का नाम न होकर उनकी भगिनी का नाम बतलाया गया है— एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया, तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः (शु० य० ३।५७)। इनकी पत्नी के अन्य नाम वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। 'पार्वती' शब्द तैत्तिरीय आरण्यक में और 'उमा हैमवती' शब्द केनोपनिषद् में प्रयुक्त हैं।

इस प्रकार ऋग्वेदीय देवमण्डली में रुद्र का स्थान नितान्त नगण्य-सा प्रतीत होता है, परन्तु अन्य संहिताओं में इनका महत्त्व बढ़ता-सा दीख पड़ता

है। रुद्राध्याय में रुद्र के लिये भव, शर्व, पशुपति, उग्र, भीम शब्दों का प्रयोग ही नहीं मिलता, प्रत्युत हर एक दशा में वर्तमान प्राणियों के ऊपर इनका अधिकार जागरूक रहता है। विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, चाहे वह स्वर्लोक में, अन्तरिक्ष में, भूतल के ऊपर या भूतल के नीचे हो, जहां भगवान् रुद्र का आधिपत्य न हो। यह समस्त विश्व सहस्रों रुद्रों की सत्ता से ओतप्रोत है। रुद्र जगत् के समग्र पदार्थों के स्वामी हैं। वे अन्नों के, खेतों के, वनों के अधिपति हैं। साथ ही साथ चोर, डाकू, ठग आदि जघन्य जीवों के भी वे स्वामी हैं। अथर्ववेद में रुद्र के नामों में भव, शर्व, पशुपति तथा भूतपति उल्लिखित हैं (११।२।१) पशुपति का तात्पर्य इतना ही नहीं है कि गाय आदि जानवरों के ही ऊपर उनका अधिकार चलता है, प्रत्युत 'पशु' के अन्तर्गत मनुष्यों की भी गणना अथर्ववेद को मान्य है :—

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता।
गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥

—अ० ११।२।९

इस प्रकार 'पशु' के तांत्रिक अर्थ का आभास हमें अथर्व के इस मन्त्र में सर्वप्रथम मिलता है। जिसमें समग्र भुवन निवास करते हैं वह नाना वस्तुओं को धारण करनेवाला विस्तृत ब्रह्माण्डरूपी कोश रुद्र की अपनी वस्तु है। रुद्र का निवास अग्नि में, जल में, ओषधियों तथा लताओं में ही नहीं है, बल्कि उन्होंने इन समस्त भुवनों की रचना कर इन्हें सम्पन्न बनाया है—

यो अग्नौ रुद्रो य अप्स्वन्त-
र्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे
तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥

—अथर्व ७।८३

यह सुन्दर मन्त्र रुद्र की महिमा स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर रहा है : यह तो हुई यजुः और अथर्व संहिताओं की बात। ब्राह्मण काल में तो रुद्र का महत्त्व और भी बढ़ता ही चला गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक दो उल्लेखों से ही रुद्र की महनीयता की पर्याप्त सूचना मिलती है। ३।३।३३ में प्रजापति के उनकी कन्या के सहगमन का प्रसंग उठाकर रुद्र की उत्पत्ति की चर्चा की गई है। वहां गौरव के ख्याल से इनके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है, प्रत्युत 'एष देवोऽभवत्' कहकर संमाननीय शब्द ही व्यवहृत किया गया है। ऋग्वेद के एक विनियोग वाक्य में रुद्र का नाम प्रयुक्त किया गया है, वहां ऐतरेय की यह व्यवस्था है कि इस नाम को गौरव की दृष्टि से छोड़ देना चाहिए।

उपनिषदों में रुद्र की प्रधानता का परिचय हमें भली भाँति मिलता है। छान्दोग्य (३।७।४), बृहदारण्यक (३।९।४), मैत्री (६।५) महानारायण (१३।२), नृसिंहतापनी (१।२), श्वेताश्वतर (३।२,४) आदि प्राचीन उपनिषदों में रुद्र के वैभव तथा प्रभाव का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर में रुद्र की एकता, जगन्निर्माण में निरपेक्षता, विश्व के आधिपत्य, महर्षित्व तथा देवताओं के उत्पादक तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्पष्ट भाषा में किया गया है। 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' (३।२),

'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु' ॥ (३।४)

—आदि श्वेताश्वतर श्रुति के प्रसिद्ध मन्त्र इस विषय में प्रमाणरूप से उद्धृत किए जा सकते हैं। अवान्तरकालीन उपनिषदों में अनेक का विषय रुद्र-शिव की प्रभुता, महनीयता, अद्वितीयता दर्शाना है। अतः अथर्वशिर, कठरुद्र, रुद्रहृदय, पाशुपतब्रह्म आदि शिवपरक उपनिषदों के नामोल्लेखमात्र से हमें यहाँ सन्तोष करना पड़ता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस रुद्र को ऋग्वेद तथा पिछली संहिताएँ 'उग्र' नाम से पुकारती हैं उस रुद्र का प्राकृतिक आधार क्या था? प्रकृति के किस व्यक्त तथा दृश्य पदार्थ का निरीक्षण कर उसे 'रुद्र' की संज्ञा प्रदान की गई है? 'रुद्र' शब्द की व्युत्पत्ति से इस समस्या के हल होने की तनिक भी सूचना नहीं मिलती। प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में सर्वत्र 'रुद्र' की व्युत्पत्ति 'रुद्' (रोना) धातु से निष्पन्न बतलाई गई है। शतपथ ब्राह्मण (६।१।३।८) में रुद्र की उत्पत्ति की मनोरम कहानी दी गई है कि प्रजापति ने जब सृष्टि करना आरम्भ किया तब एक कुमार का जन्म हुआ जो जनमते ही अपने नामकरण के लिये रोने लगा। नामकरण आगे किया गया अवश्य, परन्तु जन्म के समय ही रोदन-क्रिया के साथ सम्बद्ध होने के कारण उस कुमार का नाम 'रुद्र' रखा गया (यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः) बृहदारण्यक (३।९।४) में इसी प्रकार दशों इन्द्रियों तथा मन को एकादश रुद्र के रूप में ग्रहण किया गया है। इन्हें 'रुद्र'[1] कहने का तात्पर्य यही है कि जब ये शरीर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं, तो मृतक के सगे सम्बन्धियों को रुलाते हैं (ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति अथ

---

१. 'रुद्र' की अन्य व्युत्पत्तियों के लिये देखिए ऋ० १।११४।१ का सायण भाष्य।

रोदयन्ति । तद् यद् रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ।) पाश्चात्य वेदानुशीली विद्वानों ने रुद्र के प्राकृतिक आधार को ढूँढ़ निकालने का विशेष परिश्रम किया है (इन सब मतों के लिये डा० ए० बी० कीथ का 'रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ़ वेद' पृ० १४६-७ देखिए ।) डा० वेबर रुद्र को तूफ़ान का देवता मानते हैं । डा० हिलेब्रान्त की सम्मति में ये ग्रीष्मकाल के देवता हैं तथा किसी विशिष्ट नक्षत्र से भी इनका सम्बन्ध है । डा० श्रादेर के विचार में मृतात्माओं के प्रधान व्यक्ति को देवत्व का रूप प्रदान कर रुद्र मान लिया गया है, क्योंकि यह वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है कि मृतकों की आत्माएँ आँधी के साथ उड़कर ऊपर जाती हैं। डा० ओल्डेनवर्ग इस मत में आस्था रखते हुए रुद्र का सम्बन्ध पर्वत तथा जङ्गल के साथ स्थापित करना श्रेयस्कर मानते हैं। रुद्र का सम्बन्ध पर्वत के साथ अवश्य है । उनकी पत्नी उमा हैमवती कही जाती हैं । अतः इस मत के लिये भी कुछ आधार है । परन्तु इन कथनों में कल्पना का विशेष उपयोग किया गया है । रुद्र के पूर्ववर्णित स्वरूप का पूरा सामञ्जस्य इन कथनों से कथमपि नहीं बैठता । इस विषय में प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री रुद्र के मौलिक तथ्य पर प्रकाश डालती है ।

वस्तुतः रुद्र अग्नि के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य, भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना खड़ी की गई है । अग्नि की शिखा ऊपर उठती है । अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिङ्ग की कल्पना की गई है । अग्नि वेदी पर जलते हैं। इसी कारण शिव जलधारी के बीच में रखे जाते हैं। अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है। इसलिये शिव के ऊपर जल से अभिषेक किया जाता है। शिव-भक्तों के लिये भस्म धारण करने की प्रथा का भी स्वारस्य इसी सिद्धान्त के मानने से भलीभाँति हो जाता है। इस सिद्धान्त के पोषक वैदिक प्रमाणों पर अब ध्यान दीजिए। ऋग्वेद (२।१।६) ने 'त्वमग्ने रुद्रो' कहकर इस एकीकरण का संकेत मात्र किया है। अथर्व (७।८३) 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये' मन्त्र में इसी ओर इङ्गित करता है । शतपथ (३।१।३) ब्राह्मण का प्रमाण नितान्त स्पष्ट है। 'अग्निर्वै रुद्रः' अत्यन्त स्पष्ट भाषा में दोनों की एकता का प्रतिपादन कर रहा है। रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ भौतक पदार्थों की प्रतिनिधि हैं। 'रुद्र' अग्नि है; 'शर्व' जलरूप है; 'पशुपति' औषधि हैं, 'उग्र' वायु है; 'अशनि' विद्युत् है; 'भव' पर्जन्य है; 'महान् देव' (महादेव) चन्द्रमा है, 'ईशान' आदित्य है । शतपथ से पता चलता है कि रुद्र को प्राच्य लोग (पूरब के निवासी) 'शर्व' के नाम से तथा वाहीक (पश्चिम के निवासी) लोग 'भव' नाम से पुकारते थे, परन्तु ये सब वस्तुतः अग्नि के ही नाम हैं :—

अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा बाह्लीकाः, पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामानि, अग्निरित्येव शान्ततमम्।

—शतपथ १।७।३।८

शुक्लयजुर्वेद (३९।८) में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्र—ये सब एक ही देवता के पृथक् पृथक् नाम कहे गए हैं। शतपथ की व्याख्या के अनुसार 'अशनि' का अर्थ हैं विद्युत्। इस प्रकार यजुर्वेद के प्रमाण से स्पष्ट है कि पृथ्वीतल पर जो रुद्र देवता अग्निरूप से निवास करते हैं, आकाश में काले मेघों के बीच से चमकने वाली विद्युत् के रूप में वे ही प्रकट होते हैं। अतः रुद्र को विद्युत् का अधिष्ठातृ देव मानना नितान्त उचित प्रतीत होता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर (११।२।१७) रुद्र के संसार को लीलने के लिये जीभ लपलपाने का वर्णन मिलता है। मुझे जान पड़ता है कि 'जिह्वया ईयमानम्' शब्दों के द्वारा काले बलाहकों के बीच में कौंधनेवाली क्षण-क्षण में चमकनेवाली विजुली की ओर स्पष्ट संकेत है। इसी को पुष्ट करनेवाली अथर्ववेदीय प्रार्थना है कि हे रुद्र, दिव्य अग्नि से हमें संसक्त न कीजिए। यह जो विजुली दीख रही है उसे मेरे शिर पर न गिराकर कहीं अन्यत्र गिराइए—

मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम्।

—अ० ११।२।२६

इस विवेचन की सहायता से हम रुद्र के 'शिवत्व' को भली भांति पहचान लेते हैं। वह भयानक पशु की भांति उग्र तथा भयद अवश्य है, परन्तु साथ वह अपने भक्तों को विपत्तियों से बचाता है तथा उनका मंगल साधन करता है। उसके रोग निवारण करने की शक्ति का अनेक बार उल्लेख आता है। उसके पास हजारों औषधें हैं जिनके द्वारा वह ज्वर (तक्मन्) तथा विष का निवारण करता है। वैद्यों में वह सबसे श्रेष्ठ वैद्य है (भिषक्-तमं त्वा भिषजां शृणोमि—ऋ० २।३३।४)। इस प्रसङ्ग में रुद्र के दो विशिष्ट विशेषण उपलब्ध होते हैं—जलाष (ठंडक पहुंचानेवाला) तथा जलाषभेषज (ठंढी दवाओं को रखनेवाला)।

क स्य ते रुद्र मृडयाकु-
र्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः। —(ऋ० २।३३।७)

वस्तुतः अग्नि के दो रूप हैं—घोरातनु और अघोरातनु। अपने भयङ्कर घोर रूप से वह संसार के संहार करने में समर्थ होता है, परन्तु अघोर रूप

में वही संसार के पालन में भी शक्तिमान् है। यदि अग्नि का निवास इस महीतल पर न हो, तो क्या एक क्षण के लिये भी प्राणियों में प्राण का संचार रह सकता है ? विद्युत् में संहारकारिणी शक्ति का निवास अवश्य है, परन्तु वही विद्युत् भूतल पर प्रभूत जलवृष्टि का भी कारण बनती है और जीवों के जीवित रहने में मुख्य हेतु का रुप धारण करती है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रलय में भी सृष्टि के बीच निहित रहते हैं और संहार में भी उत्पत्ति का निदान अन्तर्हित रहता है। महाकवि कालिदास को अग्नि की संहारकारिणी शक्ति में भी उपादेयता दीख पड़ती है—

कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीज-प्ररोह-जननीं ज्वलनः करोति।

—(रघु० ९।८०)

अतः उग्ररूप के हेतु से जो देव 'रुद्र' हैं, वे ही जगत् के मंगल साधन करने के कारण 'शिव' हैं। जो रुद्र है, वही शिव है। रुद्र और शिव की अभिन्नता अवान्तर वैदिक ग्रन्थों में सुस्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित की गई है, परन्तु इस अभिन्नता की प्रथम सूचना ऋग्वेद में ही उपलब्ध होती है (२।३३।७) ऋग्वेदीय ऋषि गृत्समद के साथ साथ रुद्रदेव से हम भी प्रार्थना करते हैं कि रुद्र के बाण हम लोगों को स्पर्श न कर दूर से ही हट जायँ तथा हमारे पुत्र और सगे सम्बन्धियों के ऊपर उस दानशील की दया सतत बनी रहे :—

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः
परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व
मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड॥

—(ऋ० २।३३।१४)
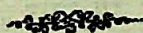
शिव का पौराणिक रूप

शिव के दो रूप होते हैं—(१) अगुण तथा (२) सगुण। इनमें से अगुण रूप तो निर्विकारी, सच्चिदानन्द स्वरूप तथा परब्रह्म कहलाता है और सगुण रूप जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कर्ता है और इस कार्य में शिव एक होते हुए भी त्रिधा भिन्न माने जाते हैं। विष्णु रूप से वह विश्व के रक्षक हैं, ब्रह्मा रूप से उत्पादक और हर-रूप से वे संहारकर्ता हैं। शिवपुराण का कथन है कि शिव तथा विष्णु में किसी प्रकार का अन्तर तथा पार्थक्य नहीं है। शिव तथा रुद्र भी इसी प्रकार एक ही भिन्नतारहित रूप के द्योतक हैं। उदाहरण के लिए शिवपुराण ने प्रसिद्ध वेदान्तसम्मत दृष्टान्तों को अपनाकर इस तत्त्व की युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है। सुवर्णतो नाना अलंकारों के लिए प्रयुज्यमान होकर भी एक ही होता है—आकार की भिन्नता होने पर भी वस्तुतत्त्व की भिन्नता नहीं होती। मृत्तिका की भी यही दशा है। पार्थिव द्रव्यों की नानाता होने पर भी मृत्तिका में एकता ही सदा वर्तमान रहती है शिवतत्त्व का एकत्व भी इसी प्रकार का है—

सुवर्णस्य तथैकस्य वस्तुत्वं नैव गच्छति।
अलंकृति-कृते देव नामभेदो न वस्तुतः॥
यथैकस्या मृदो भेदे नानापात्रे न वस्तुतः।
कारणस्यैव कार्यस्य सन्निधानं निदर्शनम्॥

—शिवपुराण, रुद्रसंहिता ९।३५-३६

समस्त दृश्य शिवरूप ही है अर्थात् यह दृश्यजगत् शिव से कथमपि भिन्न नहीं है। शिव ही सत्य, ज्ञान तथा अनन्तरूप है और सबका मूल है। शिव जब सत्त्व, रज तथा तम आदि गुणों से युक्त होकर सृष्ट्यादि कार्यों का निष्पादक होता है, तभी वह ब्रह्मादिक नामों के द्वारा अभिहित किया जाता है। शिव के वाम अङ्ग से हरि की उत्पत्ति होती है और दक्षिण अङ्ग से ब्रह्मा की तथा हृदय से रुद्र की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तीनों के उदय का मूल आधार शिव ही है।

ब्रह्म अर्थात् शिव अद्वय, नित्य, अनन्त, पूर्ण तथा निरञ्जन (कालुष्य-रहित) होता है। विष्णु में तमोगुण की सत्ता भीतर रहती है और सत्त्व की बाहर, इससे ठीक विपरीत स्थिति है हर की, जो अन्तःसत्त्व तथा तमोबाह्य होता है—भीतर सत्त्व और बाहर तम। ब्रह्मा अन्तः तथा बाह्य उभयत्र रजोविशिष्ट

होता है। इस प्रकार गुणों के साथ सम्बद्ध होने पर ब्रह्मा, विष्णु तथा हर की स्थिति है, परन्तु शिव तो गुणों से सर्वथा भिन्न ही रहता है—उनके साथ उसका रंचकमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता।

एवं गुणास्त्रिदेवेषु गुणभिन्नः शिवः स्मृतः।

(तत्रैव श्लोक ६१)। पुराणों की निन्दा करने वालों का यह आरोप है कि शिवपुराण शिव की ही महिमा का प्रतिपादक होने के साथ ही साथ वह विष्णु का निन्दक भी है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। शिव की यह उक्ति कितनी तात्त्विक है[1]—

ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम्।
उभयोरन्तरं यो वं न जानाति मनो मम॥

—तत्रैव, श्लोक ५५।

हरिहरयोः प्रकृतिरेका प्रत्ययभेदेन रूपभेदोऽयम्।
एकस्यैव नटस्यानेकविधा भूमिका-भेदात्॥

पुराण ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में अभिन्नता मानता है। हरि और हर की प्रकृति तो एक है, प्रत्यय भेद से ही रूपभेद दोनों में पाया जाता है। यही गम्भीर तत्त्व है। यह दोनों प्रकार से सिद्धान्त हैं अध्यात्मदृष्ट्या और व्युत्पत्ति दृष्ट्या। हरि तथा हर—दोनों शब्द एक ही हृ धातु से निष्पन्न हैं; केवल प्रत्ययों की भिन्नता के कारण दोनों का रूप भिन्न-भिन्न है। अध्यात्म दृष्टि से ये दोनों देव एक ही ब्रह्मस्वरूप शिव के विभिन्न कार्यों के निष्पादन के कारण भिन्न रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। नट के दृष्टान्त से यह तत्त्व भली भाँति समझ में आता है।

शिव तथा विष्णु के ऐक्य का प्रतिपादक शिवपुराणीय श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है। इसी की पुष्टि विष्णुपुराण के इस पद्य से होती है—

स एवाहं महादेवः स एवाहं जनार्दनः।
उभयोरन्तरं नास्ति घटस्थजलयोरिव॥

—विणुपुराण

परात्पर ब्रह्म ही सब देव और देवियों का मूल स्थान है। जिस प्रकार हरि, विष्णु तथा हर उससे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शक्ति की भी उत्पत्ति वहीं से होती है—

---

१. इसी प्रकार राम और शिव का ऐक्य पद्मपुराण प्रतिपादित करता है :-
ममास्ति हृदये शर्वो भवतो हृदयेत्वहम्।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः॥ - पाताल खण्ड २८।२१

तस्मान्महेश्वरश्चैव प्रकृतिः पुरुषस्तथा।
सदा शिवो भयो विष्णुर्ब्रह्मा सर्वं शिवात्मकम् ॥

—शिवपुराण, वायवीय, पूर्वभाग १०।६

इसी प्रकार शिव तथा शक्ति में भी अभिन्नता है। शक्ति शिव में छिपकर कभी निष्क्रिय रहती है और प्रकट होकर सक्रिय होती है। दोनों का अविनाशी सम्बन्ध है: —

एवं परस्परापेक्षा शक्तिशक्तिमतोः स्थिता।
न शिवेन विना शक्तिर्न च शक्त्या विना शिवः ॥

—शिव० वाय० उ० स०

फलतः पुराणों की देवता-विषयक दृष्टि पर्याप्तरूपेण उदार और विशद है। इस प्रकार शिव अनेकत्व से विरहित हैं तथा सांसारिक रूपों से भिन्न हैं। वह पूर्ण आनन्द, परम आनन्द के निधान तथा सर्वश्रेष्ठ आत्मा हैं। वह भोक्ता (अनुभवकर्ता जीव), भोग्य (अनुभूयमान पदार्थ) तथा भोग (अनुभव)—इन तीनों से पृथक् होता है। सत्ता की दृष्टि से वही एकात्मक सत्तात्मकरूप हैं। परन्तु माया के कारण भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है।

नील-लोहित रूप रुद्र का पुराणों में जो वर्णित है वह वेदानुकूल ही है। शिव की आठ मूर्तियों का तथा उनके विभिन्न अभिधानों का विवरण वायुपुराण में विस्तार से दिया गया है (२७ अध्याय)। विष्णु ने शिव की एक विशिष्ट स्तुति की है जो प्रायः वैदिक मन्त्रों में दिये गये नामों के द्वारा ही सम्पन्न हुई है[1]। इस शिवस्तव (वायु० २४ अ०) का तात्पर्य शिव की व्यापकता दिखलाना है। रुद्राध्याय के समान ही शिव यहाँ भी सब पदार्थों के पति बतलाये गये हैं—

पितृणां पतये चैव पशूनां पतये नमः।
वाग्-वृषाय नमस्तुभ्यं पुराणवृषभाय च ॥ १०५ ॥
सुचारु चारुकेशाय ऊर्ध्वचक्षुः शिराय च।
नमः पशूनां पतये गोवृषेन्द्रध्वजाय च ॥ १०६ ॥

—वायु० २४ अ०

सांख्य मतानुयायी शिव को प्रकृति से परे मानते हैं। योग-मतानुयायी ध्यानयोग के द्वारा शिव को प्राप्त कर मृत्यु के प्रपंच से बच जाते हैं। शिव

---

१. यह संकेत मूल में ही दिया गया है—

नामभिश्छान्दसैश्चैव इदं स्तोत्रमुदीरयत्।

—वायु २४।९०

अर्थात् इस स्तोत्र के नाम छन्दस अथवा वैदिक ही है।

तथा विष्णु में किसी प्रकार का द्वैविध्य नहीं है (वायु० २५ अ०)। इस प्रकार शैवपुराण शिव की महिमा तथा व्यापकता का विशद वर्णन करते हैं।

पुराणों में शिव की आठ मूर्तियों का विशद उल्लेख अनेकत्र मिलता है। लिङ्गपुराण (उत्तरार्ध, १२ तथा १३ अध्याय) में इन मूर्तियों के अधिकारी देवों के नाम नीचे दिये जाते हैं[1]।

ध्यातव्य यह है कि ये नाम वैदिक हैं। शिव के नाम तो वेदों से ही लिया गये हैं, परन्तु उनका भिन्न-भिन्न मूर्तियों के साथ अभिधान रूप से सम्बद्ध बतलाना पुराण का काम है। प्रत्येक मूर्ति की भार्या तथा एक पुत्र की कल्पना उस मूर्ति के साथ सम्बद्ध मानी जाती है।

१ पृथ्वी-आत्मक शिव का नाम है—	शर्व
२ जलात्मक	—भव
३ अग्नि	—पशुपति
४ वायु	—ईशान
५ आकाश	—भीम
६ सूर्यात्मा	—रुद्र
७ सोमात्मा	—महादेव
८ यजमानमूर्ति	—उग्र

पत्नी	पुत्र
१ विकेशी	अङ्गारक
२ उमा	शुक्र
३ स्वाहा	षण्मुख
४ शिवा	मनोजव
५ दिशायें	सर्ग
६ सुवर्चलता	शनैश्चर
७ रोहिणी	बुध
८ दीक्षा	सन्तान

१ इन मूर्तियों के विशिष्ट वर्णन के लिए द्रष्टव्य वायुपुराणः २७वाँ अध्याय। अन्य पुराणों में भी शिव की इन मूर्तियों के नाम का वर्णन मिलता है लिङ्ग-पुराण ५३ अ० ५१–५६ श्लो०

शिवभक्ति

शिवभक्ति के अनेक प्रकार पुराणों ने बतलाये हैं। मुख्यतया वह तीन प्रकार की होती है—कायिक, वाचिक तथा मानसिक जो काम, वाक् तथा मन से क्रमशः सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार लौकिकी, वैदिकी तथा आध्यात्मिकी-ये तीन भेद भी किये गये हैं।

लौकिकी भक्ति—नाना प्रकार के लौकिक साधनों से सिद्ध होती है जो गो घृत, रत्नादिकों के उपहार, तथा नृत्य आदि के प्रयोग से सम्पन्न होती है।

वैदिकी भक्ति—वेद के मन्त्रों द्वारा हविष्य आदि की आहुति से जो क्रिया सम्पन्न की जाती है वह वैदिकी भक्ति के नाम से पुकारी जाती है।

आध्यात्मिकी भक्ति—इसमें ज्ञान का भी प्रमुख सहयोग किया जाता है। दो प्रकार की होती है—(क) सांख्या तथा (ख) यौगिकी। सांख्या भक्ति में रुद्र के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। यौगिकी भक्ति में भगवान रुद्र का ध्यान ही पराभक्ति कहलाता है।

शिव की उपासना में तन्त्रों के साधनों का भी प्रयोग बतलाया जाता है। कील, कवच, अर्गला, सहस्रनाम आदि की विशिष्टता से समन्वित तान्त्रिकी पूजा का विधान मध्ययुगीय पुराणों का निजी वैशिष्ट्य है। ऊपर दिखलाया गया कि वायु जैसे प्राचीन शैवपुराण में वैदिकी पद्धति ही पूर्णतया ग्राह्य है। मध्ययुगों में तान्त्रिक पूजा का प्रचलन प्रचुर मात्रा में होने लगा जिसका प्रभाव पुराणप्रोक्त पूजा विधान पर भी विशेष रूप से उपलब्ध होता है।

(३)

गणपति

१. आध्यात्मिक रहस्य

गणपतितत्त्व निरूपण करने के पहले ही गणेश के वैदिकत्व के विषय में सामान्य चर्चा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त माना जाता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से विकास सिद्धान्त के अनुसार प्रायः सब पौराणिक देवताओं का मूलरूप वेद में मिलता है। धीरे-धीरे ये विकास को प्राप्त होकर कुछ नवीन रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इनका नाम वेदों में गणेश न होकर 'ब्रह्मणस्पति' है। जो वेद में 'ब्रह्मणस्पति' के नाम से अनेक सूक्तों में अभिहित किये गये हैं, उन्हीं देवता का नाम पीछे पुराणों में 'गणेश' मिलता है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का यह सुप्रसिद्ध मन्त्र गणपति की ही स्तुति में हैं—

> "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे
> कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
> ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ
> नः शृणवन्नूतिभिः सीद सादनम् ॥"

इसमें आप 'ब्रह्मणस्पति' कहे गये हैं। ब्रह्मन् शब्द का अर्थ वाक्—वाणी—है। अतः ब्रह्मणस्पति का अर्थ वाक्पति—वाचस्पति—वाणी का स्वामी हुआ। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में ब्रह्मणस्पति का यही अर्थ प्रदर्शित किया गया है—

> "एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म, तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः
> वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥"

'ज्येष्ठराज' शब्द जो पीछे गणपति के लिए प्रयुक्त किया गया मिलता है, यहीं का है। इसका अर्थ है सब से ज्येष्ठ—सब से पहले उत्पन्न होनेवाले देवताओं के राजा – शासनकर्ता। इन्द्र तो केवल देवों के अधिपतिमात्र हैं, परन्तु इन्द्र के भी प्रेरक होने से आप का नाम ज्येष्ठराज है। इस मन्त्र से गृत्समद ऋषि देवगणों के अधिपति, क्रान्तदर्शी—अतीत अनागत के भी द्रष्टा—कवियों के कवि, अनुपमेय कीर्तिसम्पन्न, ज्येष्ठराज ब्रह्मणस्पति का आवाहन करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि हमारे आवाहन मन्त्र को सुनते हुए आप अपनी रक्षा के साथ हमारे गृह में आकर निवास कीजिये। यह पूरा का पूरा सूक्त ब्रह्मण-स्पति गणपति—की प्रशंसा में है। अन्य सूक्तों में भी आप की स्तुति मिलती

है। अतः गणेशजी को ब्रह्मणस्पति के रूप में वैदिक देवता होने में तनिक भी सन्देह नहीं। और भी एक बात है—गणेश के जिस विशिष्ट रूप का वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है उसका आभास वैदिक ऋचाओं में स्पष्ट रीति से मिलता है। निम्नलिखित मन्त्रों में गणपति को 'महाहस्ती', 'एकदन्त', 'वक्रतुण्ड' तथा 'दन्ती' कहा गया है—

> **आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्रामं संगृभाय।**
> **महाहस्ती दक्षिणेन॥**
> **एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि।**
> **तन्नो 'दन्ती' प्रचोदयात्॥**

'गणपतितत्त्वरत्नम्' में गणपति के वैदिक स्वरूप का अच्छा वर्णन मिलता है।

गणपति शब्द का अर्थ है—'गणों का पति।' इसी अर्थ में गणों के ईश होने से इन्हें गणेश भी कहते हैं। यहां 'गण' शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। 'गण् समूहे' इस समूहवाचक गण् धातु से 'गण' शब्द बना है। अतः इसका सामान्यार्थ समूह–समुदाय होता है। परन्तु, यहां पर इसका अर्थ देवताओं का गण, महत्तत्त्व अहंकारादि तत्त्वों का समुदाय तथा सगुण-निर्गुण ब्रह्मगण है। अतः गणपति शब्द से यह सूचित होता है कि आप समस्त देवतावृन्द के रक्षक हैं, महत्तत्त्व आदि जितने सृष्टि-तत्त्व हैं उनके भी आप स्वामी हैं अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति इन्हीं से हुई है। सगुण-निर्गुण ब्रह्मसमुदाय के पति होने से गणपति ही इस जगत् में सबसे श्रेष्ठ तथा माननीय देवाधिदेव हैं। 'गण' की दूसरी व्याख्या से आपका जगत्कर्तृत्व और भी अधिक रूप से स्पष्ट प्रतीत होता है। मनोवाणीमय सकल दृश्यादृश्य विश्व का वाचक 'ग' अक्षर है तथा मनोवाणीविहीन रूप का ज्ञान 'ण' अक्षर कराता है। इस प्रकार 'गण' शब्द के द्वारा जितना मनोवाणीसमन्वित तथा तद्विरहित जगत् है, सबका ज्ञान हमें होता है। उसके पति—ईश होने के कारण हमारे आराध्य गणेश सर्वतोमहान् देव हैं। 'गण' शब्द की यह व्याख्या 'मौद्गल पुराण' में इस प्रकार कथित है—

> **"मनोवाणीमयं सर्वं दृश्यादृश्यस्वरूपकम्।**
> **गकारात्मकमेवं तत् तत्र ब्रह्म गकारकः॥**
> **मनोवाणीविहीनं च संयोगायोगसंस्थितम्।**
> **णकारात्मकरूपं तत् णकारस्तत्र संस्थितः॥"**

गणपति का मुख हाथी के आकार का बतलाया जाता है। इसी से उन्हें गजानन, गजास्य, सिन्धुराानन आदि नामों से अभिहित किया जाता है। इस

विचित्र रूप के लिए पुराण में समुचित कथानक भी वर्णित है। परन्तु, इस रूप के द्वारा जिस अव्यक्त भावना को व्यक्त रूप दिया गया है वह नितान्त मनोरम है। गणपति के अन्तर्निहित गूढ़ आध्यात्मिक तत्व को जिस ढंग से इस रूप के द्वारा सर्वजनसंवेद्य बनाने की कल्पना की गयी है वह वास्तव में अत्यन्त सुन्दर है। गणपति के बाह्यरूप को समझना क्या है उनके आभ्यन्तर गुहास्थित सत्य रूप की पहचान करना है। उनके रहस्य जानने के लिए यह बड़ी भारी मूल्य-वाली कुञ्जी है।

गणेशजी का सकल अंग एक प्रकार का नहीं है। मुख है गज का, परन्तु कण्ठ के नीचे का भाग है मनुष्य का। इनके देह में नर तथा गज का अनुपम सम्मिलन है। 'गज' किसे कहते हैं? 'गज' कहते हैं साक्षात् ब्रह्म को। समाधि के द्वारा योगीजन जिसके पास जाते हैं—जिसे प्राप्त करते हैं वह हुआ 'ग' (समाधिना योगिनो यत्र गच्छन्तीति गः) तथा जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है वह हुआ 'ज' (यस्माद् विम्वप्रतिबिम्बतया प्रणवात्मकं जगत् जायते इति जः) विश्वकारण होने से वह ब्रह्म गज कहलाता है। गणेश का ऊपरी भाग गजाकृति है अर्थात् निरुपाधि ब्रह्म है। ऊपरी भाग श्रेष्ठ अंश होता है—मस्तक देह का राजा है। अतः गणपति का यह अंश भी श्रेष्ठ है क्योंकि यह निरुपाधि—उपाधिरहित—मायानवच्छिन्न ब्रह्म का संकेतक है। नर से अभिप्राय मनुष्य—जीव—सोपाधि ब्रह्म से है। अधोभाग ऊपरी भाग की अपेक्षा निकृष्ट होता है। अतः सोपाधि अर्थात् मायावच्छिन्न चैतन्य—जीव—का रूप होने से अधोभाग निकृष्ट है। अथवा 'तत्त्वमसि' महावाक्य की दृष्टि से हम कहेंगे कि गणेशजी का मस्तक 'तत्' पदार्थ का तथा अधोभाग 'त्वं' पदार्थ का निर्देश करता है। 'तत्' पद मायानवच्छिन्न शुद्ध चैतन्य निरुपाधि ब्रह्म का वाचक है अतः उसके द्योतन के लिए गजानन का उत्तमांग नितान्त उचित है। 'त्वं' पद उपाधिविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् जीव का संकेतक है। अतः गजानन का नराकार अधोभाग उसकी अभिव्यक्ति करने में समुचित ही है। इन दोनों पदार्थों का 'असि'—पदप्रतिपाद्य समन्वय ('तत् त्वमसि' इस महावाक्य में) गणपति में प्रत्यक्षरूप से दिखायी पड़ता है। जिस 'तत् त्वमसि' महावाक्य के अर्थ का परिशीलन सतत समाधिनिष्ठ ज्ञानीजन अनेक उपायों से किया करते हैं, जिसकी प्राप्ति अनेक जन्मसाध्य सत्कर्मों का जाग्रत परिणाम है, उसी की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हमारे जैसे सर्वसाधारण उदारम्भरि पामर जन के लिए है श्री गजाननजी महाराज की मंगलमूर्ति। 'श्रीगणेशाथर्वशीर्ष' की आदिम श्रुति—"त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि" के 'प्रत्यक्ष' पद का सकलविद्वज्जनमनोरम अभिप्राय यही है जो ऊपर अभिव्यक्त किया गया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि 'गणेशपुराण'

के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध 'गणपतिसहस्रनाम' के द्वारा होती है। वहां गणेशजी के सहस्रनामों में एक नाम है—'तत्त्वंपदनिरूपितः।' यथा—

"तत्त्वानां परमं तत्त्वं तत्त्वंपदनिरूपितः।
तारकान्तरसंस्थानस्तारकस्तारकान्तकः ॥ ९६ ॥"

इस अभिधान के द्वारा गणपति-स्वरूप का जो जीव-ब्रह्मैक्यप्रतिपादनपरक श्रुतिसम्मत तात्पर्य निरूपण किया गया है उनकी सुचारु रूप से प्रतिपत्ति होती है।

गणेश के नामों की व्याख्या

गणपति की मनोज्ञ मूर्ति की आध्यात्मिकता पर जितना विचार किया जाता है उतनी ही उनके साक्षात् परब्रह्म होने की वास्तविकता प्रकट होने लगती है। गणेशजी 'एकदन्त' कहे जाते हैं। उनका दाहिना ही दांत विद्यमान है। पुराणों में उनके बाएँ दाँत के भंग होने की कथा मिलती है। अतः उन्हें 'भग्नवामरद' कहा गया है। इस नाम के यथार्थ ज्ञान से उनके सत्यरूप का हमें पता चलता है। 'एक' शब्द यहाँ माया का बोधक है तथा 'दन्त' शब्द सत्ताधारक मायाचालक ब्रह्म का द्योतक है। अतः इस नाम से प्रकट है कि गणपति साक्षात् सृष्टि के लिए माया की प्रेरणा करनेवाले जगदाधार समस्त सत्ता के आधारभूत परम ब्रह्म के ही अभिव्यक्त रूप हैं। 'मौद्गलपुराण' से इसकी पुष्टि होती है—

"एकशब्दात्मिका माया तस्याः सर्वं समुद्भवम्।
भ्रान्तिदं मोहदं पूर्णं नानाखेलात्मकं किल ॥
दन्तः सत्ताधरस्तत्र मायाचालक उच्यते।
बिम्बेन मोहयुक्तश्च स्वयं स्वानन्दगो भवेत् ॥
माया भ्रान्तिमती प्रोक्ता सत्ता चालक उच्यते।
तयोर्योगे गणेशोऽयमेकदन्तः प्रकीर्तितः ॥

गणेश का एक दूसरा नाम 'वक्रतुण्ड' है। इससे भी ऊपर के सिद्धान्त की सिद्धि होती है। यह मनोवाणीमय जगत् सर्वजन-साधारण है। सब के लिए यह सम भाव से अनुभवगम्य है। परन्तु आत्मा इस जगत् से—सतत गमनशील वस्तु से—सर्वथा भिन्न है—पृथक् है—टेढ़ा है। अतएव यहाँ 'वक्र' शब्द से मनोवाणीहीन अविनश्वर, अपरिवर्तनशील चैतन्यात्मक आत्मा का बोध होता है। वही आत्मा गणेशजी का मुख है—मस्तक है। 'तत्त्वमसि' के साक्षात् स्वरूपधारी गजानन के कण्ठ के नीचे का भाग जगत् है और ऊपर का अंश आत्मा है। अतः उन्हें 'वक्रतुण्ड' कहना नितान्त उपयुक्त है—

"कण्ठाधो मायया युक्तो मस्तकं ब्रह्मवाचकम्।
वक्राख्यं तत्र विघ्नेश तेनायं वक्रतुण्डकः ॥"

भगवान् गणेश की चार भुजाओं में चार हाथ हैं। इन भुजाओं के द्वारा आप भिन्न-भिन्न लोकों के जीवों की रक्षा अभयदान देकर किया करते हैं। एक भुजा स्वर्ग के देवताओं की रक्षा करती है तो दूसरी इस पृथ्वी तल के मानवों की, तीसरी असुरों की तथा चौथी नागों की। इन भुजाओं में आपने भक्तों के कल्याण के लिए चार चीजें धारण कर रखी हैं—पाश, अङ्कुश रद और वर। पाश मोहमय है। उसे आपने भक्तों के मोह हटाने के लिए ले रखा है। अङ्कुश का काम नियन्त्रण करना है। अतः वह उस व्यापार के लिए उपयुक्त है। दन्त दुष्टनाशकारक है। अतः वह सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला है। वर भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करनेवाले ब्रह्म का रूप है। अतः गणेशजी ने सकल मानवों के कल्याणसाधन तथा विघ्नविनाशन के लिए अपने चारों हाथों में इन विभिन्न वस्तुओं को धारण कर रखा है। आदि में जगत् के स्रष्टा तथा अन्तकाल में सब विश्व को अपने उदर में वास कराने—प्रतिष्ठित कराने—वाले जगन्नियन्ता गणेश का 'लम्बोदर' होना उपयुक्त ही है।

गणेश **'शूर्पकर्ण'** हैं—उनके कान सूप की तरह हैं। इस नाम से भी आपके उच्च परमात्मस्वरूप का परिचय हमें होता है। जब तक धान भूसे के साथ मिला रहता है वह बेकाम होता है, मैला बना रहता है। सूप से फटकते ही असली रूप का पता चलता है, धान भूसे से अलग होकर चमकने लगता है—शुद्ध रूप को पा लेता है। उसी प्रकार ब्रह्म जीवरूप में माया के साथ मिलकर मलावरण से इतना आच्छन्न हो गया है कि उसका असली प्रकाशमय रूप बिल्कुल विस्मृत हो गया है—मालिन्य या तम का पटल इतना मोटा हो गया है कि चैतन्य का आभास भी नहीं हो रहा है। ऐसी अवस्था में सद्‌गुरु के मुख से निकला हुआ गणेश नाम मनुष्यों के कर्णकुहर में प्रवेश कर हृद्‌गत होकर सूप की तरह पाप-पुण्य को अलग कर देता है—शूर्पकर्ण की उपासना माया को बिल्कुल हटाकर चैतन्यात्मक ब्रह्म की प्राप्ति कराती है। अतः आपके 'शूर्पकर्ण' नाम की सार्थकता स्पष्टरूप से प्रतिपादित होती है—

> **"शूर्पकर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलविकारकम्।**
> **ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत्तेन तथा स्मृतः॥"**

गणेशजी **'मूषकवाहन'—'मूषकध्वज'** हैं उनका वाहन मूषक है। मूषक किस तत्व को द्योतित करता है, इस विषय में वैमत्य दृष्टिगोचर होता है। मूषक का काम वस्तु को कुतर डालना है। जो वस्तु सामने रखी जाय उसके अंग-प्रत्यंग का वह विश्लेषण कर देता है। इस कार्य से वह मीमांसा करने के उपयुक्त वस्तुस्वरूपविश्लेषणकारिणी बुद्धि का प्रतिनिधि प्रतीत हो रहा है। गणेशजी बुद्धि के देवता हैं। अतः जिस तार्किक बुद्धि के द्वारा वस्तुतत्त्व का

परिचय प्राप्त किया जाता है तथा उसके सार तथा असार अंश का पृथक्करण किया जाता है, जिसके द्वारा वस्तु के अन्तस्तल तक प्रवेश किया जाता है उसका गजानन का वाहन बनना अत्यन्त औचित्यपूर्ण है। दूसरी दिशा से विचार करने पर 'मूषक' ईश्वर तत्त्व का द्योतक भासमान होता है। ईश्वर अन्तर्यामी है, सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। सब प्राणियों के द्वारा प्रस्तुत किये गये भोगों का वह भोग करता है परन्तु अहंकार के कारण मोहयुक्त प्राणी इसे नहीं जानता। वह तो अपने ही को भोक्ता समझता है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्राणियों का प्रेरक अन्तर्यामी हृदयपद्म में निवास करनेवाला ईश्वर ही वास्तव में सब भोगों का भोक्ता है। इस अवस्था में मूषक की कार्यपद्धति उस पर खूब घटती है। मूषक भी घर के भीतर पैठ कर चीजें मूसा करता है, परन्तु घर के मालिक को इसकी तनिक भी खबर नहीं होती। इसलिए मूषक के रूप में ईश्वर की ओर संकेत है। पुराणों में गणेश की सेवा करने के लिए ईश्वर का मूषकरूप बन जाने की कथा भी मिलती है। उस परब्रह्म के सेवार्थ ईश्वर के वाहनरूप स्वीकार करने की कथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी उपयुक्त है—

"ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत्तत्र संस्थितः।
तदेवं मूषकः प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः।
मायया गूढरूपः स भोगान् भुङ्क्ते हि चोरवत्॥"

अतः गणपति चिन्मय हैं, आनन्दमय हैं, ब्रह्ममय हैं, सच्चिदानन्दरूप हैं। उन्हीं से इस जगत् की उत्पत्ति होती है, उन्हीं के कारण इसकी स्थिति है और अन्त में उन्हीं में इस विश्व का लय हो जाता है। ऐसे परमात्मा का सकल कार्य के आरम्भ में स्मरण तथा पूजन करना अनुरूप ही है। एक बात और भी। गणेश की मूर्ति साक्षात् 'ॐ' सी प्रतीत होती है। मूर्ति पर दृष्टिपात करने से भी इसकी प्रतीति नहीं होती, प्रत्युत शास्त्रों में भी गणेशजी ॐकारात्मक माने गये हैं। लिखा है कि शिव-पार्वती दोनों चित्रलिखित प्रणव (ॐ) पर ध्यान से अपनी दृष्टि लगाकर देख रहे थे। अकस्मात् ॐकार की भित्ति को तोड़कर साक्षात् गजानन प्रकट हो गये। इसे देख शिव-पार्वती अत्यन्त प्रसन्न हुए। इस पौराणिक कथा की सूचना—

"प्र त इन्द्र पूर्व्याणि प्रनूनं वीर्या वोचं प्रथमा कृतानि।
सतीतमन्युरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम्॥"

मन्त्र में बतलायी गयी है। प्रणव सब श्रुतियों के आदि में आविर्भूत माना जाता है। 'प्रणवश्छन्दसामिव।' अतः ॐकारात्मक होने के कारण गणपति का सब देवताओं से पहले पूजा पाना उचित ही है। गणेश के शिवपुत्र होने के

विषय में भी एक पौराणिक कथा मिलती है। साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ने शङ्कर की तपस्या से प्रसन्न होकर उनके घर अवतार लिया था; ऐसी कथा मिलती है। अत: गणपति के परब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप होने में तनिक भी सन्देह नहीं है।

२. भौतिक रूप

गणपति के आध्यात्मिक रहस्य का उदघाटन ऊपर किया गया है। अब उनके आधिभौतिक स्वरूप का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। गणपति के विषय में अनेक पुराणों में उल्लेख पाये जाते हैं। पुराणेतर सामग्री भी कम नहीं है। इन सब साधनों के आधार पर गणपति के भौतिक रूपका वर्णन भलीभाँति किया जा सकता है। एक पाश्चात्य महिला श्रीमती ए० गेट्टी ने गणेश पर एक बड़ी सुन्दर तथा रोचक पुस्तक लिखी है, जो सन् १९३६ में 'आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस' से प्रकाशित हुई है। भारतीय दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियां हैं पर तब भी यह पुस्तक पठनीय है। गणेश की पूजा का प्रचार भारत के कोने कोने में तो है ही, साथ ही साथ वृहत्तर भारत-जावा, सुमात्रा, बाली, चीन, जापान आदि देशों—में भी इसके प्रचलित होने के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध होते हैं। स्थान की भिन्नता के कारण गणेश की मूर्तियों में भी भिन्नता मिलती है। भारत में गणेश का एक ही सिर मिलता है, पर नेपाल में हेरम्ब गणपति की मूर्तियों में पाँच सिर पाये जाते हैं, भारत में भी ऐसी मूर्तियाँ मिलती हैं, पर बहुत कम। गणेश एकदन्त हैं, पर दन्त की स्थिति में भी भिन्नता दीख पड़ती है। विशेषकर बाएं ओर दन्त वाली मूर्तियों की बहुलता पायी जाती है पर दाहिनी ओर तथा दोनों ओर दन्तवाली मूर्तियाँ भी पायी जाती हैं। गणेश के साधारणतया दो ही नेत्र दिखलाये जाते हैं, पर तान्त्रिक पूजा में उनके तीन नेत्र पाये जाते हैं। गणेश की मूर्तियों में साधारणतया तिलक का विशेष विधान नहीं हैं, पर कहीं कहीं चन्द्रमा इसका काम करता है। हाथों की संख्या भी साधारण रीति से होती है, परन्तु तान्त्रिक पूजा में व्यवहृत होनेवाली मूर्तियों में भुजाओं की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। इन हाथों में धारण की हुई वस्तुओं के विषय में भी मतभेद है।

यों तो गणेश का पूजन प्रत्येक आर्य सन्तान का करणीय विषय है, पर प्राचीन काल में गणपति का उपासक एक विशिष्ट सम्प्रदाय था जो 'गाणपत्य' के नाम से पुकारा जाता था। पेशवा लोग गणपति के उपासक थे। इस कारण आजकल भी महाराष्ट्र में गणपति की प्रचुर उपासना पायी जाती है। 'गाणपत्य' सम्प्रदाय तान्त्रिक था, जिसमें भिन्न-भिन्न गणपति की उपासना, फल की भिन्नता के कारण, भिन्न-भिन्न रूप में की जाती थी। गाणपत्यों में भी ६ भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय थे, जिनकी उपासना-पद्धति में भिन्नता तथा विशिष्टता थी। वे भिन्न-भिन्न गणपतियों की पूजा किया करते थे।

'महागणपति' का अंग लाल तथा भुजाएँ दस होतीं हैं। 'ऊर्ध्व गणपति' तथा 'पिङ्गल गणपति' का रंग पीला तथा भुजाएँ ६ होती हैं। 'लक्ष्मी गणपति' का रंग श्वेत होता है, भुजाएं चार या आठ। 'हरिद्रा गणपति' का रंग हल्दी जैसा पीला, भुजाएं चार तथा नेत्र तीन होते हैं। 'उच्छिष्ट गणपति' का रंग लाल तथा भुजाएँ चार होती हैं। गाणपत्यों का पूजा-प्रकार रहस्यमय होता था, उसमें तान्त्रिक प्रकार की प्रधानता होती थी। उपर उल्लिखित सम्प्रदायों में महागणपति, हरिद्रा गणपति तथा उश्छिष्ट गणपति का प्रचार विशेष रूप से व्यापक बतलाया जाता है। इनमें उच्छिष्ट गणपति की पूजा शाक्तों के वामाचार के ढंग की होती थी तथा स्वभावतः भयानक होती थी। आजकल इन सम्प्रदायों का एक प्रकार से अभाव सा हो गया है। पर आज भी स्थान-स्थान पर गाणपत्य लोग मिलते हैं। इनका कहना हैं कि 'गणपति' ही सर्वप्रधान देवता हैं। उन्हीं से जगत् के सर्गादि कार्य सम्पन्न होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन त्रिदेवों की उत्पत्ति गणपति से ही होती है। अतः सर्वमान्य देवता गणपति ही हैं।

समस्त विघ्नों के सर्वथा नाश कर देने की शक्ति विनायकरूपी गणेश में विशेष रूप से विद्यमान है। इसीलिए गृहप्रवेश करते समय घर के दरवाजे पर विनायक की मूर्ति स्थापित की जाती है। किसी नगर की रक्षा का भार भी विनायक की कृपा पर छोड़ दिया जाता था। इस विषय में हमारी पवित्र पुरी काशी की रक्षा का प्रधान कार्य विनायक के सुपुर्द किया गया मिलता है। 'काशीखण्ड' के अनुसार पंचक्रोशी सहित समस्त काशी सात वृत्तों में बाँटी गयी है, जिनका नाम है 'आवरण'। सबसे बड़ा प्रथम आवरण वर्तमान पंचकोशी में पड़ता है तथा अन्तिम आवरण विश्वनाथजी के मन्दिर की परिधि में सीमित है। प्रत्येक आवरण में रक्षक रूप से ८ विनायकों को स्थान दिया गया है। इस प्रकार समस्त आवरणों की रक्षा के निमित्त ५६ विनायकों की स्थिति मानी गयी है। प्रथम आवरण के आठ विनायक हैं— अर्क विनायक (लोलार्क कुण्ड के पास), दुर्ग विनायक, भीमचण्ड विनायक, देहली विनायक, उद्दण्ड विनायक, पाशपाणि विनायक, खर्वविनायक तथा सिद्धि विनायक (मणिकर्णिका घाट पर)। अर्थात् लोलार्क कुण्ड के पास के गंगा तट से लेकर समस्त पंचकोशी को होते हुए मणिकर्णिका घाट तक काशी का प्रथम आवरण है। अन्तिम आवरण विश्वनाथ मन्दिर के आसपास है, जिसमें मोद, प्रमोद, सुमुख, दुर्मुख, गणनाथ, ज्ञान, द्वार तथा अविमुक्त विनायक हैं। काशी के चारों ओर इन आवरणों की कल्पना नितांत महत्त्वपूर्ण है। पर इन विनायकों के अतिरिक्त अन्य गणपतियों की भी स्थिति तथा मान्यता है—यथा दुग्ध, दधि, शर्करा, मधु तथा घृत विनायक (पंचगंगा के पास दूधविनायक महल्ले में), साक्षी विनायक तथा वक्रतुण्ड विनायक

(जो बड़े गणेश के नाम से विख्यात हैं)। हमारा विश्वास है कि इस विश्वनाथ-नगरी में जितने विनायकों की स्थिति है उतनी अन्य नगरी में नहीं है। इन छप्पन विनायकों के नाम तथा स्थान के वर्णन के लिए 'वाराणसी आदर्श' तथा 'काशीयात्रा' का अवलोकन करना चाहिए।

बौद्धधर्म में गणेश

वैदिक धर्म में गणपति का माहात्म्य तो है ही, पर बौद्धधर्म में भी इनकी महिमा कम नहीं है। महायान के तांत्रिक सम्प्रदायों ने विनायक की कल्पना को ग्रहण कर उसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। बुद्ध का एक नाम 'विनायक' भी है। पिछली शताब्दियों में बुद्ध की कल्पना विनायक रूप से मिलती है तथा 'वज्रधातु' और 'गर्भधातु' के रूप में भी विनायक की पूजा का विपुल प्रचार दृष्टिगत होता है। नेपाल में बौद्धधर्म के साथ-साथ गणपति की पूजा भी चलती है। वहाँ से खोतान, चीनी तुर्किस्तान तथा तिब्बत में भी गणेश की उपासना का प्रचार हुआ। इन देशों में विनायक की नृत्यशालिनी मूर्ति (नृत्य गणपति) का प्रचुर प्रचार है। हेरम्ब विनायक के नाम से भी इनकी स्थिति नेपाल में है। हेरम्ब की बड़ी विशेषता यह है कि उनके पाँच मुख होते हैं तथा मूषक के स्थान पर सिंह ही उनका वाहन है। इन पाँच मुखों का क्रम भी बड़ा विलक्षण रहता है। कभी चारों दिशाओं में चार मुख होते हैं और ऊपर बीच में एक मुख। कभी तीन ही मुख एक पंक्ति में और एक के ऊपर एक रूप से दो मुख होते हैं। तिब्बत में प्रत्येक मठ के अधिरक्षक देवता के रूप में गणपति की पूजा आज भी प्रचलित है। हिन्दू लोगों ने भारत के बाहर भी अपने उपनिवेश बनाये थे, इसका पता इतिहास दे रहा है। जहाँ ये लोग धर्मप्रचारक के रूप में या व्यापारी के रूप में बस गये, वहाँ ये अपने साथ भारत से अपनी सभ्यता भी लेते गये, अपने देवता तथा उनकी भारतीय पद्धति को अपने साथ ले जाना नहीं भूले। फलतः गणपति की मूर्ति विघ्नराज के रूप में बृहत्तर भारत के समग्र देशों में आज भी पायी जाती है। इन देशों में गणपति के नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। गेट्टी ने इन नामों की तालिका अपने ग्रन्थ मे दी है। गणपति का तमिल में नाम है 'पिल्लैयर', भोट भाषा में 'सोरद-दाग', वर्मी में 'महा-पियेन्ने', मंगोलियन में 'त्वोतखारून खागान', कम्बोडियन में 'प्राह् केनीज', चीनी भाषा में 'कुआन-शी-तिएन', जापानी में 'काङ्गी-तेन'। भारत के समीपस्थ उपनिवेश वर्मा तथा श्याम में गणपणि का प्रवेश बहुत पहले हुआ। इन देशों में गणेश की कांसे की बनी मूर्तियाँ बड़ी लोकप्रिय हैं। कम्बोडिया (कम्बोज—हिन्दचीन) में गणपति की मूर्तियों में स्थानीय ख्मेर कला के कारण विशेष परिवर्तन पाया जाता है। चतुर्मुख मूर्तियाँ यहीं मिलती हैं और अधिकतर ये खड़े होने की मुद्रा में दिखलायी जाती हैं। जावा में हिन्दू-

धर्म का प्रवेश प्राचीनकाल में ही हो गया था। पंचम शताब्दी में चीनी यात्री फाहियान को जावा में ब्राह्मण तथा बौद्ध श्रमण मिले थे। जावा में गणपति के स्वतन्त्र मन्दिर नहीं मिलते, पर शिवमन्दिर में ही इनकी मूर्तियाँ पायी जाती हैं। इन मूर्तियों की एक विशेषता है कि शिव के समान गणेश को भी मुण्डमाल पहनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया है। बोर्निओ तथा बालीद्वीप में भी गणपति का विशेष प्रचार है।

चीन तथा जापान में गणेश का प्रवेश पाना आपाततः आश्चर्यजनक माना जा सकता है, पर विचार करने पर यह प्रवेश स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। महायान बौद्धधर्म के प्रवेश के साथ गणपति ने भी इन देशों में प्रवेश पा लिया। चीन में गणेश का प्रवेश या तो चीनी तुर्किस्तान या नेपाल—तिब्बत के रास्ते से हुआ होगा। चीन में गणेश की मूर्ति दो नाम तथा दो रूप से विख्यात है—'विनायक' (बौद्धसम्मत मूर्ति) तथा 'काङ्गी-तेन' (गणेश की युगल मूर्ति)। काङ्गी-तेन मूर्ति बड़ी विलक्षण है। वह इन पूरवी प्रदेशों की अपनी खास कल्पना का परिणाम है। चीन देश के तान्त्रिक बौद्धधर्म ने विनायक का ग्रहण बड़ी जल्दी कर लिया तथा अपने देवताओं में इन्हें बड़ा आसन दिया। विनायक बोद्धिसत्त्व अवलोकितेश्वर के ही प्रतिरूप माने जाते हैं। वज्र धातु की कल्पना में विनायक का विशेष प्रभाव है। नवमी शताब्दी के बाद जापान में गजानन जी विराजने लगे। कोबो-दाइशी नामक विद्वान् ने चीनदेशीय बौद्धाचार्यों से दीक्षा लेकर विनायक का जापान में प्रवेश कराया और स्थानीय प्रसिद्ध शिंगोन सम्प्रदाय ने इन्हें अपना लिया। शिंगोन मत तान्त्रिक मत है। अतः उसने रहस्यमयी कांगी-तेन मूर्तियों का विशेष प्रचार किया। यह गजानन की युगल मूर्ति है, जिसमें दोनों मूर्तियों की पीठ एक साथ लगी हुई तथा मुँह दो दिशाओं की ओर हैं। जापानी बौद्ध इन मूर्तियों को रहस्यमय तथा शक्ति और शक्तिमान् की एकता का प्रतिपादक बतलाते हैं। सुदूर अमरीका में भी लम्बोदर की मूर्ति मिली है। आकृति वही लम्बा तुन्दिल शरीर, ऊपर हाथी का, इधर-उधर दोलायमान शुण्डादण्ड। इन मूर्तियों का दिवान चम्मनलाल ने 'हिन्दू अमरीका' नामक अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है। इन मूर्तियों की कल्पना से प्रतीत होता है कि भारतीयों ने कभी अमरीका में भी अपने उपनिवेश बसाये थे।

इस प्रकार गणेशजी की पूजा उत्तरी मंगोलिया से लेकर दक्षिणी बाली तक तथा भारत से लेकर अमरीका तक कम या अधिक अंश में भिन्न-भिन्न शताब्दियों में प्रचलित थी। मंगल के अवसर पर गणपति का पूजन करनेवाले कितने हिन्दू इस ऐतिहासिक तथ्य से परिचित हैं तथा भारतीय सभ्यता के प्रचार में गणपति-पूजा के महत्त्व को स्वीकार करते हैं?
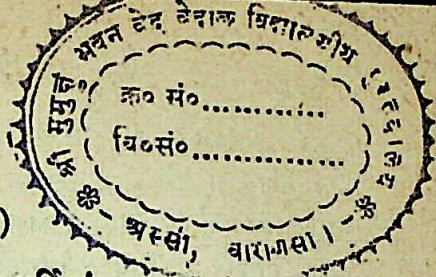
त्रिदेवों की मूर्तियां

पुराणों का प्रभाव मूर्तिशास्त्र पर विशेष रूप से पड़ा है। तथ्य तो यह है कि देवी-देवताओं की मूर्तियां पुराणों के आधार पर ही निर्मित की जाती हैं। मूर्तिकल्पना में स्वच्छन्दता का राज्य नहीं है, प्रत्युत अमूर्त भावना को व्यक्त रूप देने के लिए ही मूर्तियों की कल्पना की गई है। वैदिक काल में मूर्ति के अस्तित्व के विषय में अनेक विद्वान् संशयालु हैं। अधिकांश विद्वान् पौराणिक काल में—पुराणों की अभ्युन्नति के समय में—मूर्तियों का उदय मानते हैं। यहां केवल पञ्चदेवों की मूर्तियों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। इस देवपञ्चक में विष्णु, शिव, गणेश, ब्रह्मा तथा सूर्य की गणना की जाती है।

विष्णु

पंचदेव के रूप में ही नहीं, अपि तु त्रिदेव के रूप में भी विष्णु महत्त्वपूर्ण हैं। त्रिविक्रम के रूप में विष्णु की मान्यता वैदिक है। किन्तु सम्प्रदाय-विशेष के देवता रूप में विष्णु-पूजा का विशेष प्रचार ईसवी सन् के कुछ पूर्व से ही है।

विष्णु की व्युत्पत्ति और महत्त्व की विवेचना विष्णुपुराण में इस प्रकार की गयी है—

> यस्माद्विष्टमिदं विश्वं यस्य शक्त्या महात्मनः।
> तस्मात् स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात्॥
>
> —विष्णु पु० ३।१।४५

विष्णु पुराण में विष्णु को सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण भी कहा गया है :—

> सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिकाम्।
> स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः॥
> स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यं च पाति च।
> उपसंह्रियेत चान्ते संहर्त्ता च स्वयं प्रभुः॥
>
> —विष्णु पु० १।२।६६–६७

विष्णु के अनेक नाम और गुण हैं। विष्णु तथा उनके विविध रूपों के विकास का अधार इच्छा, भूति, क्रिया तथा षड्गुण (ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस्) हैं। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर चौबीस विष्णुओं की कल्पना

की गयी। विविध पुराणों में चौबीस विष्णुओं का क्रम और आयुध-विधान भिन्न भिन्न कहा गया है। अग्नि पुराण (अ० ४८) की तालिका अपेक्षाकृत शुद्ध है। इसमें चौबीस विष्णुओं की नामावली इस प्रकार है:—

१. वासुदेव २. केशव ३. नारायण ४. माधव ५. पुरुषोत्तम ६. अधोक्षज ७. सङ्कर्षण ८. गोविन्द ९. विष्णु १०. मधुसूदन ११. अच्युत १२. उपेन्द्र १३. प्रद्युम्न १४. त्रिविक्रम १५. नरसिंह १६. जनार्दन १७. वामन १८. श्रीधर १९. अनिरुद्ध २० हृषीकेश २१. पद्मनाभ २२. दामोदर २३. हरि २४. कृष्ण। इन चतुर्विंशति विष्णुओं के विभाजन का आधार विष्णु के आयुधों (शंख चक्र, गदा, पद्म) के विभिन्न क्रम हैं।[1]

कुषाण काल से ही विष्णु के अवतारों स्वरूप का दर्शन होने लगता है। दशावतार की मूर्तियां बंगाल में विष्णुपट्ट पर बनती थीं तथा दशावतार का अङ्कन संयुक्त रूप में विष्णु मंदिरों के द्वार पर ही प्रदर्शित होता रहा है। पृथक पृथक् अवतारों के आधार पर पृथक् पृथक् मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। उपलब्ध मूर्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दशावतारों में वराह, वामन और नृसिंह की प्रतिमाएं वहु प्रचलित रहीं। उदयगिरि की विशाल वराह मूर्ति बड़ी ही विशिष्ट है। यह प्रतिमा गुप्तकालीन है।

सामान्यतया अवतारों की संख्या दस ही हैं जिनमें मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वराह, वामन, भार्गवराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि की गणना होती है। ग्रन्थ भेद से पुराणों की संख्या बढ़ती घटती भी रही है। परिणामतः कभी कभी अवतारों की संख्या १६, २२ या २३ तथा ३९ तक गिनायी गयी है।[2]

विष्णु के स्थिर मूर्तियों को वैखानस-आगम तथा पञ्चरात्र संहिताओं में ध्रुव वेट' कहा गया है। 'ध्रुव' मूर्तियों की कोटि में ३६ विष्णुओं की गणना होती है। इनको चार विभागों में बाँटा गया है जिन्हें योग, भोग, वीर और आभिचारिक कहा गया है। इस वर्गीकरण का आधार उपासना की विशिष्ट भावना और इच्छा है। पुनः इनका विभाजन स्थानक, आसन और शयन मूर्तियों के आधार पर भी किया गया है। इनमें बारह बारह मूर्तियों की गणना होती है। कई आगमों में विष्णु मूर्तियों का विभाजन उत्तम, मध्यम और अधम वर्गीकरण के आधार पर भी किया गया है। शयन मूर्ति की कोटि में भी शेषशायी विष्णु की प्रतिमा विशिष्ट है। विष्णु के इस रूप का प्रदर्शन देवगढ़ में बड़ा ही विशिष्ट है।

भुजाओं और मुखों की संख्या के आधार पर मध्यकाल में चार विशिष्ट विष्णु-मूर्तियों की कल्पना की गयी। इन मूर्तियों को चतुर्मुख विष्णु कह सकते

१. रूपमण्डन (सं० बलराम श्रीवास्तव) पृ० ५०–५३.

२. बनर्जी—डेवेलपमेन्ट आफ हिन्दू इकानोग्राफी पृ. ३९०–९३.

हैं। भुजाओं की संस्था में अन्तर होता है। इस प्रकार चतुर्मुख विष्णु के चार विशिष्ट प्रतिमाएं वैकुण्ठ, अनन्त, त्रैलोक्यमोहन और विश्वरूप के नाम से जानी जाती हैं जिनके भुजाओं की संख्या क्रमशः ८, १२, १६ और २० होती हैं। विष्णु के चार मुख नर, नारसिंह, स्त्रीमुख और वराह मुख होते हैं। अग्नि-पुराण (अ० ४९) में इन विशिष्ट रूपों की अच्छी चर्चा है।

शिव

पूजा तथा देवालयों में स्थापित करने की दृष्टि से शिवलिंगों को जो महत्ता प्राप्त है वह शिव-मूर्तियों को नहीं। शिवाख्यानों के आधार पर कल्पित अनेक अनुग्रह, संहार और दक्षिणा मूर्तियों की कल्पना पुराणकारों द्वारा हुई हैं। इनमें अधिकांश शैव मंदिरों के भित्ति पर अलंकरण के रूप में या स्वतंत्र मूर्तियों के रूप में प्रदर्शित मिले हैं।

शिवलिंगों में गुड्डीमल्ल का मुखलिंग इतिहास और कला की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। पुराणों में विशेषकर अग्नि और मत्स्य में विविध प्रकार के शिवलिंगों की अच्छी विवेचना है। शिवलिंगों के शिरोविधान तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव भागों की विभाजन-प्रक्रिया लिंगपुराण (अ० ९९) और मत्स्य-पुराण (अ० २६२।१–१२) में अच्छी प्रकार बतायी गयी है। मत्स्यपुराण में लिङ्ग-पीठिका का भी विधान बताया गया है (मत्स्यपुराण २६१।१८–१९)

शिव की एकादश मूर्तियाँ (एकादश रुद्र के रूप में) बड़ी प्रसिद्ध हैं। 'रूपमण्डन' जैसे मध्यकालीन शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में एकादश रुद्र के आधार पर द्वादश शिव की कल्पना की गयी हैं, जिनमें सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईश, मृत्युञ्जय, किरणाक्ष, श्रीकण्ठ, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, बहुरूपी सदाशिव, और त्र्यम्बक के नाम आते हैं। इनमें हाथों की संख्या तथा आयुधों का बड़ा विभेद है[1]। एकादश रुद्र या द्वादश शिव का आधार पञ्चमुख शिव प्रतीत होता है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार शिव के पांच मुख सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान हैं।

सद्योजातं वामदेवमघोरं च महाभुजम्।
तथा तत्पुरुषं ज्ञेयमीशानं पञ्चमं मुखम्॥

—विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।४८।१

इन पांच मुखों का रूपकत्व भी विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३।४८।३।२) में स्पष्ट है।[2]

---

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य रूपमण्डन पृ. ६१–६२.

२. वही पृ. ६१.

पुराणों में शिव-मूर्तियों का जो प्रसंग है, उसके आधार पर यह प्रतीत है कि शिव की मूर्तियों का दो प्रसिद्ध वर्ग था। एक घोर और दूसरा अघोर। अघोर या शान्त शिव मूर्तियों में चन्द्रशेखर, उमासहित, आलिङ्गन—चन्द्रशेखर, वृषवाहन, सुखासन, उमामहेश्वर, सोमस्कन्द आदि की गणना की जा सकती है। इनमें प्रायः शिव के ऐसे ही रूप हैं जिनके मूल में कोई पौराणिक कथा नहीं है। ऐसी ही कुछ मूर्तियाँ घोर वर्ग की हैं। भैरव, अघोर, रुद्र पशुपति, वीरभद्र, विरूपाक्ष और कंकाल शिव के घोर रूप हैं किन्तु, इनके मूल में कोई पौराणिक ख्यात नहीं हैं। ये मूर्तियां शिव के संहारक तत्त्वों की व्याख्या मात्र करती हैं। किन्तु घोर या उग्र वर्ग में गजासुर वध, त्रिपुरासुरवध, अन्धकासुर वध, जालन्धर वध, आदि की पौराणिक ख्यातों का प्रदर्शन करने वाली मूर्तियाँ आती हैं। इसी वर्ग में यमरि, कालारि, शरभेश मूर्ति आदि भी आती हैं। इलौरा और एलिफन्टा की गुफाओं में त्रिपुरान्तक और अन्धकासुर वध का अच्छा प्रदर्शन है। गजासुर संहार की एक अच्छी प्रतिता दरसुरम में मिली है।

शिव की कुछ युग्म मूर्तियाँ जैसे अर्धनारीश्वर और हरिहर की बड़ी ही लोकप्रिय रही हैं। इन मूर्तियों के माध्यम से दर्शन के गूढ़तम तथ्यों की सरल विवेचना की गयी है। नारदपुराण (अ० ६।४४–४५) में हरिहर रूप की अच्छी विवेचना है। हरिहर का सबसे अच्छा मूर्तिकरण वादामी में तथा अर्द्ध-नारीश्वर का सबसे सुन्दर अङ्कन इलौरा में किया गया है।

गणेश

भारतीय धर्म और उपासना में गणेश की वड़ी महत्ता है। आयुध-भेद से गणेश के कई नाम और रूप पुराणों में वर्णित हैं। पंचमहादेवों में गणेश का सम्मान है तथा गाणपत्य सम्प्रदाय के लिए तो ये आदिदेव के रूप में मान्य हैं। आर० जी० भण्डारकर महोदय के अनुसार गणपत्य सम्प्रदाय और गणेश की पुजा परम्परा वहुत प्राचीन नहीं हैं। ये गणेश की परम्परा गुप्तोत्तरकालीन मानते हैं। किन्तु तथ्य ऐसा नहीं है। विनायक पूजा की परम्परा महाभारत, से भी प्रमाणित है (नलोपाख्यान, वनपर्व) उस समय सार्थवाहों द्वारा विनायक की पूजा विघ्न-विनाशन के रूप में होती थी, और वे सिद्धि के प्रदाता माने जाते थे। श्री गोपीनाथ राव महोदय ने गणेशोत्पत्ति से सम्बन्धित पौराणिक ख्यातों का अच्छा संकलन किया है[1]। गणपति मूर्तिशास्त्रीय विवेचन के अनुसार यक्ष परम्परा से विशेष सम्वद्ध प्रतीत होते हैं। आरम्भ में गणेश की द्विभुज

---

१. एलिमेण्टस आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी भाग १. खण्ड १. पृ० ३५-४५.

प्रतिमाओं का ही प्रचलन था। बृहत्संहिता में गणेश की प्रतिमा के सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्ति मिलती है :—

प्रमथाधिपो गजमुखः प्रलम्बजठरः कुठारधारी स्यात्।
एकविषाणो बिभ्रन्मूलक-कंदं ... ... ॥[1]

इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में गणेश के मूर्ति-विधानीय तत्त्व ये हैं :—

१. गजमुख
२. प्रलम्ब जठर
३. एकदंत
४. द्विभुज (एक हाथ में दाँत और दूसरे में मूलक)

प्राप्त मूर्तियों में अमरावती से प्राप्त गणेश की प्रतीमा सबसे प्राचीन (दूसरी शती ईसवी) प्रतीत होती है। इसीसे ही कुछ समय के बाद की बनी मथुरा से भी एक गणेश की मूर्ति मिली है। यह प्रतिमा तथा भूमरा से मिली गणेश की प्रतिमाएँ द्विभुज हैं। गणेश की चतुर्भुज प्रतिमा सबसे पहले भूमरा (गुप्तकालीन) से मिली है। पुराणों में गणेश की प्रतिमा का जो विधान है, उसमें चतुर्भुज गणेश की ही चर्चा है। उदाहरणार्थं मत्स्यपुराण में गणेश का वर्णन इस प्रकार है :—

स्वदन्तं दक्षिणकरे उत्पलं च तथापरे।
लड्डुकं परशुं चैव वामतः परिकल्पयेत्॥

—मत्स्य २५९।५३

गुप्तकाल तक की किसी भी उपलब्ध प्रतिमा में गणेश का वाहन मूषक नहीं दिखाया गया है। न इसकी चर्चा किसी पौराणिक मूर्ति-विधान ही में है। पूर्व-मध्यकालीन और मध्यकालीन प्रतिमाओं में मूषक भी प्रदर्शित है। इस प्रकार मूषकयुक्त गणेश की प्रथम प्राप्त प्रतिमा उड़ीसा में मिली है। इसी प्रकार उड़ीसा से ही गणेश के कुछ अष्टभुज प्रतिमाएँ भी मिली हैं। गणेश के मूर्ति-विधान के अन्य तत्त्वों के रूप में त्रिनेत्र, व्याल-यज्ञोपवीत भी महत्त्वपूर्ण है। गणेश की कतिपय मूर्ति नृत्यमुद्राओं में भी हैं।

---

१. बृहत्संहिता की यह पंक्ति क्षेपक प्रतीत होता है। बैनर्जी—डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी पृ. २५७.

ब्रह्मा या ब्रह्मदेव

पुराण में जिस देव को हम ब्रह्मा या ब्रह्मदेव के नाम से पुकारते हैं वह वेदों में 'प्रजापति' के नाम से अभिहित किये गये हैं। प्रजनन तथा जीवित प्राणियों के रक्षक रूप में प्रजापति का अथर्ववेद में प्रायः आवाहन किया गया है। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०।१२१) में प्रजापति की प्रख्याति आकाश और पृथ्वी, जल तथा समस्त जीवित प्राणियों के स्रष्टा के रूप में की गई है। इनका 'प्रजापति' नाम सार्थक है अर्थात् उत्पन्न होने वाले समग्र जीवों के वे पति माने गये हैं। यह सब गतिशील तथा श्वास लेने वाले प्राणियों के राजा हैं; देवों में श्रेष्ठ हैं। इनके विधानों का पालन समग्र प्राणी ही नहीं, प्रत्युत देवगण भी करते हैं। इन्होंने ही आकाश और पृथ्वी को स्थापित किया; येही अन्तरिक्ष के सब स्थानों में व्याप्त हैं; ये समस्त विश्व और समस्त प्राणियों को अपनी भुजाओं से आलिङ्गन करते हैं। ऋग्वेद के इस वर्णन से प्रजापति की देवों में प्रमुखता की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, ऋग्वेद में प्रजापति का प्रामुख्यद्योतक निर्देश एक ही बार हुआ है, परन्तु अथर्व और वाजसनेयी संहिता में साधारणतः और ब्राह्मणों में नियमतः ये ही सर्वप्रमुख देव के रूप में स्वीकृत किये गये हैं। यह देवों के पिता हैं (शतपथ ११।१।६।१४) इसी ब्राह्मण के कथनानुसार सृष्टि के आरम्भ में अकेले इन्हीं का अस्तित्व था (शतपथ २।२।४।१)। प्रजापति का यही वेदप्रतिपाद्य स्वरूप है।

मैत्रायणी संहिता (४।२।१२) में प्रजापति को अपनी पुत्री उषस् पर आसक्त होने की कथा मिलती है जो ब्राह्मणों में अनेक स्थानों पर दुहराई गई है (ऐतरेय ब्रा० ३।३३; शतपथ १।७।४।१; पञ्चविंश ब्रा० ८।२।१०)। इस कथा का संकेत तो ऋग्वेद के मंत्रों में भी माना जाता है। ऋग्वेद (१०।१२१) के इस सूक्त के प्रथम नव मन्त्रों में किसी अज्ञात देवता के विषय में प्रश्नवाचक 'कः' शब्द का प्रयोग किया गया है (कस्मै देवाय हविषा विधेम)। दशवें मन्त्र में इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया गया है कि 'प्रजापति' ही इन सब निर्दिष्ट कार्यों का सम्पादन करता है। इस मन्त्र का पश्चाद्वर्ती साहित्य पर इतना प्रभाव पड़ा कि 'प्रजापति' की 'क' एक उपाधि ही हो गई और 'क' सर्वोच्च देवता का वाचक बना दिया। 'हिरण्यगर्भ' नाम से भी वही संकेतित होता है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

'प्रजापति' को ही पुराणों में ब्रह्मा' के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रजापति के सम्बन्ध की समस्त गाथायें ब्रह्मा के ऊपर आरोपित की गई हैं। फलतः प्रजापति और उनकी दुहिता की कथा पुराणों में ब्रह्मा के विषय में उल्लिखित की गई हैं। क्षीरसागर में शेषशायी नारायण के नाभिकमल के ऊपर ब्रह्मा का जन्म स्वतः होता है। इसलिए वे 'स्वयंभू' नाम से अभिहित किये गये हैं। आकाशवाणी के द्वारा प्रेरित किये जाने पर उन्होंने उग्र तपस्या हजारों वर्षों तक की जिसके फलस्वरूप उन्होंने इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। सृष्टि का कार्य ब्रह्मदेव का अपना विशिष्ट कार्य है। सरस्वती उनकी पत्नी हैं तथा हंस उनका वाहन है। हिरण्यकशिपु ने अपने वरदान के अवसर पर ब्रह्माजी की जो प्रशस्त स्तुति की है (७।३।२६-३४) उसमें ब्रह्माजी का स्वरूप नारायण के सदृश ही चित्रित किया गया है। वे ज्ञानस्वरूप, परमेश्वर, अजन्मा, महान् और सम्पूर्ण जीवों के जीवनदाता अन्तरात्मा माने गये हैं (७।३।३१)। कार्य-कारण, चल और अचल ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो ब्रह्मा से भिन्न हो। समस्त विद्या और कलायें आपके रूप हैं। आप त्रिगुणमयी माया से अतीत स्वयं ब्रह्म है। यह स्वर्णमय ब्रह्माण्ड आपके गर्भ में स्थित रहता है। आप इसे अपने में से प्रकट करते हैं—

> त्वत्तः परं नापरमप्यनेजद्
> एजच्च किञ्चित् व्यतिरिक्तमस्ति।
> विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
> हिरण्यगर्भोऽसि बृहत् त्रिपृष्ठः॥ —भाग० ७।३।३२

इस पद्य से ब्रह्मा के स्वरूप का यत्-किञ्चित् परिचय प्राप्त होता है।

ब्रह्मा की प्रतिमा

त्रिदेव में ब्रह्मा प्रथम हैं। किन्तु 'पञ्चदेव' की कल्पना में ब्रह्मा का महत्त्व और स्थान विष्णु, सूर्य, शिव और गणेश की अपेक्षा गौण है। इनकी महत्ता गणेश से भी कम है। इस प्रकार के दृष्टिकोण का प्रभाव इनकी उपासना पर भी पड़ा। इस देव के आधार पर भारत में कोई सम्प्रदाय खड़ा न हो सका। वैसे पौराणिक मान्यता में भी ब्रह्मा सृष्टि के स्रष्टा बने रहे। ब्रह्मा के मन्दिर भी कम ही बने और अकेले ब्रह्मा की पूजा केवल वैदिक ब्राह्मणों (विप्रान् विदुर ब्राह्मणैः) के द्वारा ही विधिसम्मत कहा गया[1]। ब्रह्मा की यह दुर्दशा पुराणों के अनुसार (जिनमें 'लिङ्गोद्भव' प्रसंग आया है) इनकी विष्णु की प्रतिद्वन्द्विता के कारण हुई। विविध पुराणों में ब्रह्मा को गौण पद दिया है तथा विष्णु की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए उन्हें विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर आसीन

१. बनर्जी पृ० ५१२-५१३।

दिखाया गया है। इस कथानक से यह मान्यता प्रमाणित होती है कि ब्रह्मा स्वयं विष्णु से उत्पन्न हैं। मार्कण्डेयपुराण में मधु, कैटभ का जो प्रसंग है, वह मुख्यतया विष्णु की महत्ता और ब्रह्मा की विपन्नता सिद्ध करने के लिए ही है।

ब्रह्मा के स्वरूप पर विचार बृहत्संहिता (५७।४१) में किया गया है। पुराणों में ब्रह्मा के प्रतिभास्वरूप की चर्चा है। मत्स्यपुराण का विवरण इस प्रकार है :—

ब्रह्मा कमण्डलुधरः कर्तव्यः स चतुर्मुखः।
हंसारूढः क्वचित्कार्यः क्वचिच्च कमलासनः॥
वर्णतः पद्मगर्भाभश्चतुर्बाहुः शुभेक्षणः।
कमण्डलुं वामकरे स्रुवं हस्ते तु दक्षिणे॥
वामे दण्डधरं तद्वत् स्तुवञ्चापि प्रदर्शयेत्।
मुनिभिर्देवगन्धर्वैः स्तूयमानं समन्ततः॥
कुर्वाणमिव लोकांस्त्रीन् शुक्लाम्बरधरं विभुम्।
मृगचर्मधरञ्चापि दिव्ययज्ञोपवीतिनम्॥
आज्यास्थालीं न्यसेत्पार्श्वे वेदांश्च चतुरः पुनः।
वामपार्श्वेऽस्य सावित्रीं दक्षिणे च सरस्वतीं॥
अग्रे च ऋषयस्तद्वत्कार्य्याः पैतामहेपदे।

—मत्स्य० २५९।४०-४४

ब्रह्मा की सबसे प्राचीन मूर्ति गन्धार की बौद्ध-कला में मिलती है। यह ब्रह्मा का अंकन बुद्ध के जन्म-प्रसंग में है। जैन मूर्तिविधान में ब्रह्मा का प्रदर्शन जैन तीर्थंकर शीतलनाथ के रूप में या दिक्पाल के रूप में होता है। प्रारम्भ में ब्रह्मा की द्विमुख और द्विबाहु प्रतिमा बनती थी। श्मश्रु भी नहीं प्रदर्शित किया जाता था। चतुर्मुख और चतुर्बाहु की परम्परा मूर्तिविधान में बाद में चली। मथुरा से मिली चतुर्मुख ब्रह्मा की एक प्रतिमा विचित्र है। इस प्रतिमा में ब्रह्मा के तीन मुख एक पंक्ति में और चौथा मुख बीच वाले मुख के ऊपर है।[1] यह प्रतिमा कुषाणकालीन है। यहीं से गुप्तकालीन ब्रह्मा की एक प्रतिमा मिली है जो स्थानक है। इस प्रतिमा में केवल तीन ही मुख ओर दो भुजायें है। बीच वाले मुख में श्मश्रु भी प्रदर्शित है। मध्यकाल में ब्रह्मा की प्रतिमायें, जो सामान्यतया मत्स्यपुराण की मूर्ति-विधानीय परम्परा का पालन करती हैं, आवरणदेवता के रूप में बहुशः प्रचलित रहीं! मध्यकालीन ब्रह्मा की प्रतिमाओं में ब्रह्मा या तो 'ललितासन' में दिखाये गये हैं या विश्वपद्म पर 'ललिताक्षेप' ढंग में बैठे प्रदर्शित किये गये हैं।

---

१. बनर्जी पृ० ५१७

सूर्य

सूर्य हिन्दुओं के पंचदेवों में एक हैं।[1] ऋग्वेद में सूर्य को जगत् की आत्मा कहा गया है :—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

—ऋक् १।११५।१

वैदिक साहित्य में सूर्य का विशद वर्णन है और वैदिक ख्यातों के आधार पर ही पुराणों में विशेषकर भविष्य, अग्नि और मत्स्य में सूर्य-संबंधी परम्पराओं का विकास हुआ है। सूर्योपनिषत् में सूर्य को ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का ही रूप माना गया है :

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एष हि भास्करः।

—सूर्योपनिषत्[2] पृ० ५५

वैसे तो द्वादशादित्य की गणना शतपथ ब्राह्मण में भी है किन्तु पुराणों में द्वादशादित्य की संख्या और नामावली अपेक्षाकृत सुनिश्चित हो गयी थी।[3] इनके नाम क्रमशः धातृ, मित्र, अर्यमन् , रुद्र, वरुण, सूर्य, भाग, विवश्वन्, पूषन्, सविता, त्वष्टा और विष्णु मिलते हैं। मित्र, अर्यमन् के नाम से सूर्य की पूजा ईरानियों में भी प्रचलित थी।

सूर्य-सम्बन्धी कई पौराणिक आख्यातों का मूल वैदिक है। सूर्य की उपासना का इतिहास भी वैदिक है। उत्तर-वैदिक साहित्य और रामायण-महाभारत में भी सूर्य की उपासना की बहुशः चर्चा है। गुप्तकाल के पूर्व से ही सूर्य के उपासकों का एक सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ था, जो सौर नाम से प्रसिद्ध था। सौर सम्प्रदाय के उपासक उपास्य देव के प्रति अनन्य आस्था के कारण सूर्य को आदि-देव के रूप में मानने लगे। भौगोलिक दृष्टि से भी भारत में सूर्योपासना व्यापक रही। मुल्तान, मथुरा, कोणार्क, कश्मीर, उज्जयिनी, मोधेर (गुजरात में) आदि सूर्योपासकों के प्रसिद्ध केन्द्र थे। राजवंशों में भी कतिपय राजा सूर्य-भक्त थे। मैत्रक राजवंश, और पुष्पभूति वंश के कई राजा 'परम आदित्य भक्त' के रूप में जाने जाते थे।

---

१. भारतीय प्रतीक विद्या पृ० १६२.

२. सूर्योपनिषत् अभी अप्रकाशित है; प्रतीक विद्या १६३.

३. डेवलपमेण्ट ऑफ़ हिन्दू आइकेनाग्राफी, पृ० ४२८–२९.

सूर्योपासना का आरम्भिक स्वरूप प्रतीकात्मक था। सूर्य का प्रतीकत्व चक्र, कमल आदि से व्यक्त किया जाता था। इन प्रतीकों को विधिवत् मूर्ति की ही तरह प्रतिष्ठित किया जाता था, जैसा कि पञ्चाल के मित्र राजाओं के सिक्कों से पता चलता है। मूर्त रूप में सूर्य की प्रतिमा का प्रथम प्रमाण बोध गया की कला में है। यहाँ सूर्य एक-चक्ररथ पर आरूढ़ हैं। इस रथ में चार अश्व जुते हैं। उषा और प्रत्यूषा सूर्य के दोनों बगल में खड़ी हैं। अंधकाररूपी दैत्य भी प्रदर्शित हैं। बौद्धों में भी सूर्योपासना होती थी। भाजा की बौद्ध गुफा में सूर्य की प्रतिमा बोध-गया की परम्परा में ही बनी है। इन दोनों प्रतिमाओं का काल ईसा पूर्व की प्रथम शती है। बौद्धों की ही तरह जैन गुफा में भी सूर्य की प्रतिमा मिली है। खंडगिरि (उड़ीसा) के अनन्त गुफा में सूर्य की जो प्रतिमा है (दूसरी शती ईसवी) वह भी भाजा और बोधगया की ही परम्परा में है। चार अश्वों से युक्त एकचक्र रथारूढ़ सूर्य की प्रतिमा मिली है। गंधार से प्राप्त सूर्य प्रतिमा की एक विशेषता यह भी है कि सूर्य के चरण को जूतों से युक्त बनाया गया है। इस परम्परा का परिपालन मथुरा की सूर्य मूर्तियों में भी किया गया। मथुरा में बनी सूर्य प्रतिमाओं को उदीच्यवेश में बनाया गया है। बृहत्संहिता में उदीच्य वेश या शैली में सूर्य प्रतिमा के निर्माण का विधान इस प्रकार है :—

नाशा ललाट जङ्घोरुगण्डवक्षांसि चोन्नतानि रवेः।
कुर्य्यादुदीच्यवेशं गूढं पादादुरो यावत् ॥
बिभ्राणः स्वकररुहे बाहुभ्यां पङ्कजे मुकुटधारी।
कुण्डलभूषितवदनः प्रलम्बहारो वियद्गवृतः ॥
कमलोदरद्युतिमुखः कञ्चुकगुप्तः स्मितप्रसन्नमुखः।
रत्नोज्ज्वलप्रभामण्डलश्च कर्त्तुः शुभकरोऽर्कः ॥

—बृहत्संहिता ५७।४६-४८

पुराणों में सूर्य की प्रतिमा का जो विधान वर्णित है उसमें रथ की भी चर्चा है। उदीच्य-वेश में रथारूढ़ सूर्य की प्रतिमा का विधान मत्स्यपुराण में इस प्रकार है :—

रथस्थं कारयेद्देवं पद्महस्तं सुलोचनम्।
सप्ताश्वञ्चैकचक्रञ्च रथं तस्य प्रकल्पयेत् ॥
मुकुटेन विचित्रेण पद्मगर्भ-समप्रभम्।
नानाभरणभूषाभ्यां भुजाभ्यां धृतपुष्करम् ॥
स्कन्धस्थे पुष्करे ते तु लीलयैव धृते सदा।
चोलकच्छन्नवपुषं क्वचिच्चित्रेषु दर्शयेत्।
वस्त्रयुग्मसमोपेतं चरणौ तेजसा वृतौ ॥—मत्स्य २६०।१-४

ऊपर निर्दिष्ट श्लोकों में से अन्तिम श्लोक उदीच्यवेश का पूरा परिचायक हैं। यह उदीच्यवेश शकों के द्वारा समाहृत सूर्य का परिधान होने से इस नाम से पुकारा जाता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि शकों के उपास्य देव सूर्य भगवान् थे—इसका परिचय पुराणों ने शकद्वीप में उपास्य देवता के प्रसंग में बहुशः दिया है। उत्तरदेश के निवासियों के द्वारा गृहीत होने के कारण ही यह वेष 'उदीच्य' कहलाता है। इस वेष का परिचायक पद्य मत्स्य का पूर्वोक्त अन्तिम पद्य है। सूर्य की यह प्रतिमा अधिकतर खड़ी दिखलाई जाती है; रथस्थ यह प्रतिमा मात्रा में कम मिलती है। उसके ऊपर रहता है चोगा (चोल) जो पूरे शरीर को ढके रहता है। पैर मे बूट दिखलाये जाते हैं। कहीं-कहीं बूट न दिखलाकर तेजःपुंज के कारण नीचे का पैर दिखलाया नहीं जाता। शरीर के ऊपर जनेऊ दिखलाया जाना है जो कभी खड्ग का भ्रम उत्पन्न करता है। यह वेश शकराजाओं का विशिष्ट राजसी वेष था जिसका विशद निदर्शन मथुरा संग्रहालय के कनिष्क की मूर्ति है।

गुप्तपूर्वकालीन सूर्य प्रतिमाएँ थोड़ी हैं। मथुरा केन्द्र में ही प्रमुख रूप से सूर्य की प्रतिमाएं बनती थीं। यहां सूर्य प्रायः स्थानक प्रदर्शित हुए हैं। गुप्त-कालीन प्रतिमाओं में ईरानी प्रभाव कम था, बिल्कुल ही नहीं है। निदायतपुर, कुमारपुर (राजशाही बंगाल) और भूमरा की गुप्तकालीन सूर्य प्रतिमायें शैली, भावविन्यास और आकृति में भारतीय हैं। भूमरा की प्रतिमा में सूर्य नहीं प्रदर्शित है। किन्तु यह वेश तथा अन्य विशेषताओं में कुषाणकालीन मथुरा की मूर्तिपरम्परा को प्रदर्शित करती है। दंडी और पिंगल भी दिखाए गये हैं जो ईरानी वेश में हैं। सूर्य के मुख्य आयुध कमल (दोनों हाथों में) ही विशेषतया प्रदर्शित हैं। कभी-कभी सूर्य दोनों हाथों से अपने गले में पहनी माला को ही पकड़े रहते हैं।

मध्यकालीन सूर्य की उपलब्ध प्रतिमायें दो प्रकार की हैं। एक तो स्थानक सूर्य की प्रतिमायें और दूसरी पद्मस्थ प्रतिमायें। खिचिङ्ग से मिली सूर्य की एक प्रतिमा ऊषा और प्रत्यूषा के अतिरिक्त अन्य अनेक सूर्य-पत्नियों से युक्त है यथा रात्री, निक्षुभा, छाया, सुवर्चसा और महाश्वेता। बङ्गाल, बिहार से मिली अनेक सूर्यप्रतिमायें किरीट और प्रभावली से भी युक्त हैं।

पश्चिम भारत और दक्षिण भारत से मिली सूर्य-प्रतिमाओं में 'उदीच्य-वेषीय' प्रभाव नहीं परिलक्षित होता। सूर्य के पैरों में न तो पदत्राण या बूट ही होता है और न सप्त अश्व या सारथी अरुण ही प्रदर्शित हुये हैं। कोट भी नहीं धारण करते और न उनके साथ उनके प्रतिहार ही दिखाये जाते हैं।

(ख)

पुराणों का दार्शनिक तत्त्व

पुराणों के दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन भी बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृति में आचार तथा विचार का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार के द्वारा कार्यरूप में परिणत किये बिना विचार का कुछ भी महत्त्व नहीं है और इसी प्रकार विचार की भित्ति और आधार के अभाव में आचार की स्थापना भी निराधार और निरवलम्ब होती है। पुराण में जनता के लिए अनुकरणीय और प्रतिदिन जीवन में संग्रहणीय सदाचार का विशद विवरण है। वह अपने आधार के रूप में विचार को चाहता है। इसलिए पुराणों ने विचार का भी विश्लेषण अपनी दृष्टि से किया है। पुराणगत दार्शनिक तथ्यों के विवरण के निमित्त तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही आवश्यकता है, परन्तु यहां स्थानाभाव से सामान्य बातें ही दी जावेंगी।

पुराण नाना रूपों में भासमान जगत् के मूल में एक सर्वशक्तिसम्पन्न तत्त्व की सत्ता स्वीकार करता है जिसकी सत्ता से यह विश्व स्थिति-सम्पन्न है। उस परमतत्त्व के विभिन्न नाम हैं। वही है विष्णु (विष्णुपुराण तथा नारदीय में), वही है शिव (वायु, कूर्म तथा शिवपुराण में) वही है शक्ति (देवीभागवत तथा देवीपुराण में) और वही है श्रीकृष्ण (श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त में)। इन पुराणों ने अपने परमोपास्य तत्त्व के स्वरूप का विवेचन बड़ी रुचिरता तथा वैशद्य के साथ किया है। वह दोनों रूपों में वर्तमान रहता है—निर्गुण तथा सगुणरूप में। परन्तु सामान्य मानव के लिए उसका सगुणरूप ही विशेषतः उपादेय तथा ग्रहणीय माना गया है। मूलतत्त्व के नाम में भिन्नता होने पर उसके मौलिक स्वरूप में पार्थक्य नहीं है। पुराण ज्ञान, कर्म तथा भक्ति-इन तीनों मार्गों का वर्णन करता है परन्तु कलियुग के प्राणियों के लिए उसका विशिष्ट आग्रह भक्ति पर ही है। उसी भक्ति का आश्रयण मानवों को अनायास दुःखबहुल संसार के निस्तार तथा आनन्दपूर्ण स्थिति में पहुँचने के लिए एक-मात्र सुगम साधन बतलाया गया है। इस तत्त्व का प्रतिपादन प्रति-पुराण में प्रायः समान है, परन्तु श्रीमद्भागवत ने जो पुराणों में मूर्धन्य स्थान धारण करता है इस भक्तितत्त्व का बड़ा ही सर्वाङ्गीण विश्लेषण प्रस्तुत किया है जो सब पुराणों में सर्वथा मान्य है। भागवत का एकादश स्कन्ध का अपर नाम उद्धवगीता है जहां भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को भागवत तत्त्वों का उपदेश बड़ी ही सुन्दर शैली में दिया है। भक्ति के साथ योग का भी सामञ्जस्य

पुराणों में अभीप्सित है। शैवपुराणों में वह पाशुपतयोग के नाम से अभिहित है, तो वैष्णवपुराणों में वह भागवतयोग की संज्ञा से प्रतिपादित है।

यहाँ श्रीमद्भागवत के आधार पर दार्शनिक तत्त्वों का एक सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुराण-साहित्य में 'श्रीमद्भागवत' अपनी दार्शनिकता तथा व्यापक धार्मिकता के कारण नितांत प्रख्यात है। दशम स्कन्ध तो इसका हृदय माना जाता है; क्योंकि इस स्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण के कमनीय चरित्र का सुचारु चित्रण है। इस स्कन्ध के उत्तरार्ध के ८७वें अध्याय में श्रुतियों के द्वारा श्रीकृष्ण की प्रशस्त स्तुति का वर्णन है, जो वेदस्तुति के नाम से अभिहित किया जाता है। इस स्तुति के अनुशीलन से हम भागवत के दार्शनिक दृष्टि-बिन्दु को समझने में कृतकार्य हो सकते हैं। इतना ही नहीं, हम यह भी जान सकते हैं कि आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व श्रुतियों के तात्पर्य की दिशा किस ओर थी। उसके मंत्रों के भीतर किस आध्यात्मिक तत्त्व की उपलब्धि मानी जाती थी। वेदार्थ का चिन्तन भारतीय मनीषियों के आध्यात्मिक मनन का एक विशेष विषय रहा है। भागवत के रचयिता के विचार से वेद का दार्शनिक तत्त्व क्या था, इसे भी भली भांति समझने में हमें इस स्तुति के स्वाध्याय से पूर्ण सहायता मिल सकती है। इसी महत्त्व से प्रेरित होकर इस सारगभित स्तुति के सिद्धान्तों का एक सामान्य दिग्दर्शन यहाँ कराया जा रहा है।

भागवत एक गम्भीर विचार का पुराण हैं। उसके तत्त्वज्ञान की मीमांसा एक दुरूह व्यापार है। इसीलिए, यहां 'वेदस्तुति' के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक विचारों का वर्णन किया जा रहा है, जो भागवत के अनुसार जीवन-दर्शन कहा जा सकता है। विद्यावतां भागवते परीक्षा—यह लोकोक्ति भागवत के रहस्यमय रूप को प्रकट करती है।

साध्य तत्त्व

साध्य तत्त्व के अन्तर्गत ब्रह्म का विचार प्रस्तुत किया गया है। भगवान अकरण हैं। वे चिन्तन, कर्म आदि के साधनभूत मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि करणों से सर्वथा रहित हैं। फिर भी, समस्त अन्तःकरण और बाह्य करणों की शक्तियों से सर्वदा सम्पन्न हैं (अखिलकारकशक्तिधरः)। वे स्वयं प्रकाश हैं और इसीलिए कोई काम करने के लिए उन्हें इन्द्रियों की सहायता की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। वे इस विशाल ब्रह्माण्ड के अधिपति-स्थानीय हैं, जिनके आदेशों का पालन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देव अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं (श्लोक २८)। भगवान् नित्यमुक्त स्वभाववाले हैं। वे माया से अतीत हैं, परन्तु जब वे ईक्षण-मात्र से अर्थात् संकल्पमात्र से माया के

साथ क्रीडा किया करते हैं, तब जीवों के सूक्ष्म शरीर तथा उनके सुप्त कर्म-संस्कार जग जाते हैं और जीवों की सृष्टि होती है। उनमें समत्व गुण की विशिष्टता है, फलतः उनके लिए न कोई अपना है और न कोई पराया। कार्य-कारण-रूप प्रपंच के अभाव होने से वे बाह्य दृष्टि से शून्य के समान प्रतीत होते हैं (वियत इवापदस्य शून्यतुलां दधतः); परन्तु उस दृष्टि के भी अधिष्ठान होने के कारण वे परम सत्यरूप हैं (श्लोक २९)। भगवान् इस विश्व के नियामक हैं। नियमन करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य है। उन्हीं के नियमन में संचालित यह विश्व अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होता हुआ अबाध गति से आगे चलता जाता है। वे समदर्शी हैं। उनके उपासकों की दो श्रेणियां हैं। कुछ परिच्छिन्न दृष्टि वाले उपासक उनके व्यक्त रूप की उपासना में आसक्त रहते हैं; तो अपरिच्छिन्न दृष्टि वाले उपासक उनके निराकार, एकरस रूप के चिन्तन में लीन रहते हैं। इन दोनों में वे किसी प्रकार का अन्तर अथवा भेद-भाव नहीं मानते, प्रत्युत समान दृष्टि से उनकी सेवा तथा उपासना को चरितार्थ करते हैं। अपने प्राण, मन तथा इन्द्रियों को वश में रखकर दृढ़ योगाभ्यास के द्वारा अपने हृदय में उपासना करनेवाले योगियों को जो गति प्राप्त होती है, वही गति मिलती हैं उन प्राणियों को भी, जो उनसे सर्वदा वैरभाव रखते हैं। इन दोनों के ऊपर भगवान् सदा-सर्वदा एक प्रकार ही अपनी दया की वृष्टि किया करते हैं (श्लोक २३)।

इस जगत् की सृष्टि बतलानेवाले अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने मत की शिक्षा देते हैं। कोई असत् से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं (वैशेषिक); कोई सत्-रूप दुःखों के नाश को मोक्ष मानते हैं (नैयायिक = सतो मृतिम्); कुछ लोग जीवों में भेद बतलाते हैं (सांख्य = आत्मनि ये च भिदाम्); तो कुछ लोग कर्म के द्वारा प्राप्त होनेवाले लोक और परलोक-रूप व्यवहार को सत्य मानते हैं (मीमांसक = विपणमृतम्)। परन्तु, ये सब बातें भ्रमभूलक हैं तथा आरोप के द्वारा ही ऐसा मत प्रचलित है। भगवान् 'अवबोध रस', अर्थात् ज्ञान-स्वरूप हैं। फलतः, उनमें किसी प्रकार भेद-भाव की कल्पना न्याय्य नहीं है (श्लोक २५)।

भगवान् का शासन अखण्ड रूप में इस विश्व के सब प्राणियों पर, देवता-दानव तथा पशु-मानव के ऊपर समभाव से वर्त्तमान है। भगवान् स्वयं इन्द्रियों से रहित हैं, परन्तु समस्त जीवों की इन्द्रियों के वे ही प्रवर्त्तक हैं। मनुष्य अपने कल्याण के लिए देवताओं को बलि दिया करते हैं और उपासना के समय नाना प्रकार के पदार्थ समर्पित करते हैं, परन्तु देवता लोग उस बलि को भगवान् को ही समर्पित कर देते हैं। इस विषय में भागवत चक्र-

वर्त्ती तथा सामन्त नरेश की उपमा देता है। जिस प्रकार सामन्त नरेश प्रजाओं के द्वारा प्राप्त बलि (मालगुजारी) को चक्रवर्त्ती राजा को समर्पित कर देते हैं, उसी प्रकार देवता लोग भी मनुष्यों द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को भगवान् को समर्पित करते हैं। सारांश यह है कि भगवान् ही इस विश्व का परम ऐश्वर्य-सम्पन्न सम्राट् हैं, जिनके शासन में रहकर देव और मानव अपने कार्यों के सम्पादन में लगे हुए हैं (श्लोक २८)। भगवान् अनन्त हैं, उनके अन्त का पता नहीं। जिस प्रकार वायु में धूल के नन्हें-नन्हें कण उड़ते रहते हैं, उसी प्रकार उत्तरोत्तर दशगुण अधिक पृथिवी आदि सात आवरणों के साथ समस्त ब्रह्माण्ड-समूह कालचक्र के संग एक साथ घूमता रहता है। सब श्रुतियाँ तात्पर्य-वृत्ति से भगवान् के वर्णन में ही चरितार्थ होती हैं, अर्थात् श्रुतियों के द्वारा गम्य तथा बोध्य भगवान् ही हैं। इसी का तात्पर्य गीता के इस पद्यांश में है—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्।

जगत्

जगत् के विषय में वेदस्तुति का स्पष्ट मत है कि त्रिगुणात्मक जगत् मन की कल्पनामात्र है। वस्तुतः सत्य नहीं है। केवल यही नहीं, प्रत्युत परमात्मा और जगत् से पृथक् प्रतीत होनेवाला पुरुष भी कल्पना-मात्र है। सत्य अधिष्ठान पर आश्रित रहने के कारण ही यह जगत् सत्य-सा प्रतीत होता है। यह जगत् आत्मा में ही कल्पित है (स्वकृतं), तथा आत्मा से ही व्याप्त है (अनुप्रविष्टं) और इसीलिए आत्मज्ञानी लोग इसे आत्मरूप मानते हैं तथा उसी रूप से (सुवर्ण की तरह) इसका व्यवहार करते हैं। सुवर्ण से बने हुए गहने भी तो अन्ततोगत्वा सोना ही हैं। अतएव, इस रूप को जाननेवाले पुरुष इसे छोड़ते नहीं : जगत् का भी ठीक यही दशा है (श्लोक २६)।

जगत् की अवास्तविकता सिद्ध करने के लिए एक अन्य हेतु का उपन्यास किया गया है। यह जगत् उत्पत्ति से पहले नहीं था और प्रलय के बाद भी नहीं रहेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि मध्य में भी यह असत् रूप ही है। श्रुतियों में दिये गये उदाहरण इस तथ्यहीनता को स्पष्ट बतला रहे हैं। जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा, लोहे में शस्त्र और सोने में कुण्डल आदि नाममात्र हैं, वास्तव में तो मिट्टी, लोहा और सोना ही हैं; उसी प्रकार परमात्मा में वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या तथा मन की कल्पना है। मूर्ख ही इसे सत्य मानता है, ज्ञानी नहीं। अधिष्ठान की सत्यता से ही आधेय की सत्यता प्रतीत होती है, वस्तुतः नहीं—

> न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनात्
> अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।

अत उपमीयते द्रविण–जाति–विकल्पपथै-
र्वितथमनो–विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥

—श्लोक ३७

भगवान् के ईक्षण-मात्र से माया क्षुब्ध होती है और वह विचित्र कर्मों के फल देने के लिए जगत् की सृष्टि करती है। फलतः, सृष्टि में जो विचित्रता तथा विषमता दृष्टिगोचर होती है, वह कर्मों की विषमता के कारण ही है। जीव नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन करता है और उन कर्मफलों को भोगने के लिए उसे इस सृष्टि के भीतर आना पड़ता है। फलतः, जगत् के जीवों की वर्त्तमान दशा उन्हीं के पूर्व कर्मों के फल से जन्य है। सृष्टि-वैषम्य कर्म-वैषम्य-जन्य है। भगवान् तो परम कारुणिक, एकरस और समदृक् है। उसमें किसी प्रकार के वैषम्य की कल्पना एकदम निराधार तथा अप्रामाणिक है (श्लोक २९)।

प्रलय

जिस समय भगवान् सब सृष्टि को समेटकर सो जाते हैं, उस समय ऐसा कोई भी साधन नहीं रह जाता, जिससे उनके साथ सोया हुआ जीव उन्हें जान सके। प्रलय-काल में सत् नहीं रहता, अर्थात् आकाश आदि स्थूल जगत् का अभाव होता है और न असत् ही रहता है, अर्थात् महत्तत्त्व आदि सूक्ष्म तत्त्व भी उस समय नहीं रहता। इन दोनों के योग से बने हुए न शरीर ही होते हैं और न क्षण, मुहूर्त्त आदि काल के अङ्ग ही रहते हैं। उस दशा में कुछ भी नहीं रहता। फलतः उस दशा में वर्त्तमान भगवान् के रूप को जानने के साधन का अभाव होने से हम उन्हें किसी प्रकार भी नहीं जान सकते (श्लोक २४)।

जीव

जीव के स्वरूप के विषय में भी यहाँ खूब विवेचन किया गया मिलता है। भगवान् शासक है तथा जीव उनके द्वारा शासित। भगवान् नियामक हैं और जीव उनके द्वारा नियम्य। यह तभी सम्भव है, जब जीव भगवान् से उत्पन्न तथा भगवान् की अपेक्षा न्यून हो। जीव भगवान् से उत्पन्न होता है। इस कथन का अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् परिणाम के द्वारा जीव बनाते हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों अजन्मा हैं। प्रकृति में पुरुष और पुरुष में प्रकृति के संयोग के कारण ही जीवों के नाना रूप तथा गुण रख दिये जाते हैं—जल-बुद्बुद के समान। जल (उपादान) तथा वायु (निमित्त कारण) के संयोग से जिस प्रकार 'बुद्बुद' नामक पदार्थ बनता है, जो स्वयं

कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति तथा पुरुष के अध्यास से जीवों का नानात्व गुण तथा रूप कल्पित किया गया है। अन्त में जिस प्रकार समुद्र में नदियाँ समा जाती हैं तथा मधु में समस्त फूलों के रस समा जाते हैं उसी प्रकार सब जीव उपाधि-रहित होकर भगवान् में समा जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवों की भिन्नता और उनका पृथक् अस्तित्व भगवान् के द्वारा नियन्त्रित है। जीव को पृथक्, स्वतन्त्र और वास्तविक मानना अज्ञान के ही कारण है। जीव के स्वरूप का प्रतिपादक यह महत्वपूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

> न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयो-
> रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्।
> त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
> सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः॥
>
> —(श्लोक ३१)

जीव तथा ईश में वस्तुतः ऐक्य ही वर्तमान है, परन्तु संसार-दशा में दोनों में भेद है। जीव मायाबद्ध है, अर्थात् माया के पाश में सर्वदा बद्ध रहता है। इसके विपरीत ईश मायामुक्त होते हैं। जीव होता है अपेतभगः, ऐश्वर्य से हीन; परन्तु ईश होते हैं आत्तभग; ऐश्वर्य से सम्पन्न। जीव माया से अविद्यायुक्त होता है, इसलिए देह और इन्द्रिय आदि का सेवन करता है; उन्हीं को अपना स्वरूप मानता है और आनन्दादि गुणों से तिरोहित होने पर संसार को प्राप्त करता है। अतः, जीव के लिए कर्मकाण्ड की आवश्यकता होती है, परन्तु भगवान् माया को उसी प्रकार छोड़ देते हैं तथा उसका अभिमान नहीं करते, जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुल को छोड़ देता है और उसका अभिमान नहीं रखता। भगवान् नित्यसिद्ध ज्ञान तथा अनन्त ऐश्वर्य से युक्त, अणिमा आदि आठों सिद्धियों से सम्पन्न होने के कारण पूजित है। इस प्रकार वस्तुतः अद्वैत होने पर भी संसारदशा में द्वैत भासता है (श्लोक ३८)। जीव असंख्य, परन्तु नित्य नहीं हैं। वे भगवान् के द्वारा शासित होते हैं। भगवान् शासक तथा नियामक हैं, जीव शासित तथा नियम्य। मति और बुद्धि से परे होने से उसका रूप अत्यन्त कठिन है (श्लोक ३०)।

साधन-मार्ग

भागवत के अनुसार साध्य की प्राप्ति का सरल उपाय कौन-सा है? भागवत के अनुसार भगवान् की सेवा ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। भगवान् से विमुख करनेवाली सबसे बड़ी वस्तु है—काम। यह मानव-हृदय को जटा के समान नाना रस्सियों से बाँधे रहती है। काम की वासना को

दूर करना परम आवश्यक है। फलतः, जिन यतियों ने मन, इन्द्रिय तथा प्राणों को अपने वश में कर रखा है, परन्तु काम के हटाने में समर्थ नहीं हैं, वे अपने हृदय में स्थित भगवान् को नहीं जान सकते। उनकी दशा, भूलने की आदत रखनेवाले उस मनुष्य की तरह होती है, जो अपने ही गले में लटकनेवाली मणिमाला को एकदम भूलकर बाहर खोजता चलता है। अतः, साधकों के लिए काम की वासना का उन्मूलन नितान्त आवश्यक है। इस शुभ कार्य में भागवत गुरु की उपादेयता पर जोर देता है। जिस प्रकार बिना मल्लाह के नाव तूफान में पड़कर डूब जाती है, उसी तरह बिना गुरु का साधक लक्ष्य की प्राप्ति न कर बीच में ही डूब जाता है। भागवत, भक्ति को ही सुगम साधन बतलाता है। भगवान् की आनन्दमयी उपलब्धि के लिए ज्ञानमार्गी तो केवल भूसा कूटनेवाले जैसे होते हैं, जिन्हें उसमें से एक दाना भी नहीं मिलता। अतः भागवत की दृष्टि में श्रेय साधन करनेवाली भक्ति ही चरम साधन है—

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यत्, यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

श्री मद्भागवत : भक्तिशास्त्र का सर्वस्व

श्री मद्भागवत संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो वह सर्वस्व है। यह निगम कल्पतरु का अमृतमय स्वयं गलित फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्वों का वर्णन व्यास ने समाधि दशा में अनुभूत करके किया है। भागवत का प्रभाव वल्लभ संप्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है।

साध्यतत्त्व

श्री मद्भागवत अद्वैत तत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। श्री भगवान् ने अपने तत्त्व के विषय में ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश दिया है :—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

"सृष्टि के पूर्व में ही था—मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूलभाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था।

यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तमुंख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा"। इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीवजगत सब वही है। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा, और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं। वही सब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अविच्छिन्न न होकर अव्यक्त निराकार रूप से रहते हैं—तब निर्गुण कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर सगुण कहलाते हैं। परमार्थभूत ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव के शब्दों द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वहाँ निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्ध सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को विष्णु कहते हैं, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को ब्रह्मा, तमोमिश्रित सत्त्वावछिन्न चैतन्य को रुद्र और तुल्यबल रज-तम से मिश्रित सत्त्वावछिन्न चैतन्य को पुरुष कहते हैं। जगत् की स्थिति, सृष्टि तथा संहार व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं; पुरुष उपादान कारण होता है। ये चारो ब्रह्म के ही सगुण रूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।

परब्रह्म ही जगत के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न अवतार धारण करते हैं। आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, माया सम्बन्ध-रहित हुए भी माया से युक्त रहता है सर्वदा चित्-शक्ति से समन्वित रहता है, उसे पुरुष कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न-भिन्न अवतारों का उदय होता है—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्ट पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदि देवः॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान हैं। भक्ति की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बताया है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत् न प्रतीयेत् चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥

वास्तव के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्र मण्डल में दीख नहीं पड़ता) वही 'माया' है। भगवान्-अचिन्त्य-शक्ति समन्वित हैं। वे एक समय में एक होकर भी अनेक हैं। नारद जी ने द्वारकापुरी में एक समय में ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियों के महलों में विद्यमान भिन्न कार्यों में संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधन तत्त्व

इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम मार्ग बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन ही भक्तितत्त्व का निरूपण है। वेदार्थोप-बृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होने वाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान वैराग्य पुत्रों में प्राण का ही संचार नहीं हुआ प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय भक्ति ही है—

> न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
> न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

परम भक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नहीं होते, वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति के सिवाय अन्य साधन उपहास-मात्र हैं—

> प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।
> न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
> प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्ति-प्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान, कर्म भी भक्ति के उदय होने से सार्थक होते हैं, अतः परम्परया साधक है साक्षा-द्रूपेण नहीं। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम-विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है। कर्मफलों को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके विषदन्त तोड़ना है। श्रेय की मूलस्रोतरूपिणी भक्ति को छोड़कर केवल बोध की प्राप्ति

के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटने वालों का यत्न। अतः भक्ति की उपादेयता मुक्ति विषय में श्रेष्ठ हैं। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—'साधनरूपा भक्ति, साध्यरूपा भक्ति। साधन भक्ति नौ प्रकार की होती है—विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। भागवत में सत् सङ्गति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दोंमें किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य भगवत् पादाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान् के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने वाले भगवच्चरण-चञ्चरीक भक्त शुष्क, नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ठ्यं, न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है जिस प्रकार पक्षियों के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती हैं—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः,
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि व्रज की गोपिकायें थीं जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यासजी ने रासपञ्चाध्यायी में किया है। इस प्रकार भक्ति-शास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य है। अतः भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में अनुपम है। सर्ववेदान्तसार भागवत का कथन यथार्थ है :—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥

भागवती साधना

भागवत में किस साधनापद्धति का किस प्रकार से उल्लेख किया गया है, इसका ठीक-ठीक विवेचन भागवत के पारदृश्वा विवेचक विद्वान् ही साङ्गोपाङ्गरूप में कर सकते हैं, परन्तु फिर भी इस विषय का एक छोटा-सा वर्णन पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है।

हमारे देखने में भागवती साधना का कुछ विस्तृत वर्णन द्वितीय स्कन्ध के आरम्भ में तथा तृतीय स्कन्ध के कपिलगीता वाले अध्यायों में किया गया मिलता है। कपिल की माता देवहूति के सामने भी यही प्रश्न था कि भगवान के पाने का सुलभ मार्ग कौन-सा है। इसी प्रश्न को उन्होंने अपने पुत्र कपिलजी से किया जिसके उत्तर में उन्होंने अपनी माता की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित होकर अनेक ज्ञातव्य बातें कही हैं। परन्तु सबसे अधिक आवश्यकता थी इसकी राजा परीक्षित को। उन्होंने ब्राह्मण का अपमान किया था। सातवें दिन उन्हें अपना भौतिक पिण्ड छोड़ना था। बस, इतने ही स्वल्पकाल में उन्हें अपना कल्याण-साधन करना था। वेचारे बड़े विकल थे, बिल्कुल वेचैन थे। उनके भाग्य से उन्हे उपदेष्टा मिल गये शुकदेव जैसे ब्रह्मज्ञानी। अतः उनसे उन्होंने यही प्रश्न किया—हे महराज, इतने कम समय में क्या कल्याण सम्पन्न हो सकता है? पर शुकदेवजी तो सच्चे साधक की खोज में थे। उन्हें ऐसे साधक के मिलने पर नितान्त प्रसन्नता हुई। शुकदेव जी ने परीक्षित से कहा कि भगवान् से परोक्ष रह कर बहुत से वर्षों से क्या लाभ है? भगवान् से विमुख रह कर दीर्घ जीवन पाने से भला कोई फल सिद्ध हो सकता है? भगवान् के स्वरूप को जानकर उनकी सन्निधि में एक क्षण भी बिताना अधिक लाभदायक होता है। जीवन का उपयोग तो भगवच्चर्चा और भगवद्गुण-कीर्तन में है। यदि न हो सके तो पृथ्वीतल पर दीर्घ जीवन भी भारभूत है। खट्वाङ्गनामक राजर्षि ने इस जीवन की असारता को जानकर अपने सर्वस्व को छोड़कर समस्त भयों को दूर करने वाले अभय हरि को प्राप्त किया। तुम्हें तो अभी सात दिन जीना है। इतने काल में तो बहुत कुछ कल्याणसाधन किया जा सकता है।

इतनी पूर्वपीठिका के अनन्तर शुकदेवजी ने भगवती भागीरथी के तीर पर सर्वस्व छोड़कर बैठने वाले राजा परीक्षित से भागवती साधना का विस्तृत वर्णन किया। अष्टांग योग की आवश्यकता प्रायः प्रत्येक मार्ग में है। इस भक्तिमार्ग में भी वह नितान्त आवश्यक है। उन्होंने कहा कि साधक को चाहिये कि किसी एक आसन में बैठने का अभ्यास करके उस आसन पर पूरा जय प्राप्त कर ले। अनन्तर प्राणों का पूरा आयमन करे। संसार के किसी भी पदार्थ में आसक्ति न रक्खे। अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ले। इतना ही

जाने पर साधक का मन उस अवस्था में पहुंच जाता है, जब उसे एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। अपने मन को जिस स्थान पर लगावेगा, उस स्थान पर वह निश्चयरूप से टिक सकेगा। अभी भगवान् के स्थूल रूप का ध्यान करना चाहिये। भगवान् के विराट् रूप का ध्यान सबसे पहले करना चाहिये। यह जगत् ही तो भगवान् का रूप है। 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः'। इस जगत् के चौदहों लोकों में भगवान् की स्थिति है। पाताल भगवान् का पादमूल है, रसातल पैर का पिछला भाग है, महातल पैर की एड़ी है, तलातल दोनों जंघायें हैं, सुतल जानुप्रदेश है और दोनों उरु वितल तथा अतल लोक हैं। इस प्रकार अधोलोक भगवत्-शरीर के अधोभाग के रूप में हैं। भूमितल जघनस्थल है तथा इससे ऊर्ध्वलोक ऊपर के भाग हैं। सबसे ऊपर सत्यलोक या ब्रह्मलोक भगवान् का मस्तक है इस जगह पर भागवतकार ने भगवान् के विराट् रूप का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। जगत् की जितनी चीजें हैं, वे सब भगवान् का कोई-न कोई अंग या अंश अवश्य हैं। जब यह जगत् भगवान् का ही रूप ठहरा, तब उसके भिन्न-भिन्न अंगों का भगवान् के भिन्न-भिन्न अवयव होना उचित है। यह हुआ भगवान् का स्थविष्ठ -- स्थूलतम स्वरूप। साधक को चाहिये कि इस रूप में इस प्रकार अपना मन लगावे, वह अपने स्थान से किञ्चिन्मात्र भी चलायमान न हो। जब तक भगवान् में भक्ति उत्पन्न न हो जाय, तब तक इस स्थूल रूप का ध्यान नियत रूप से साधक को अपनी नित्यक्रियाओं के अन्त में करना चाहिये। कुछ लोग इसी साधना को श्रेष्ठ समझ कर इसी का उपदेश देते हैं।

पर अन्य आचार्य अपने भीतर ही हृदयाकाश में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना उत्तम बतलाते हैं और वे उसी का उपदेश देते हैं। आसन तथा प्राण पर विजय प्राप्त कर लेने के अनन्तर साधक को चाहिये कि अपने हृदय में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करे। आरम्भ करे भगवान् के पाद से और अन्त करे भगवान् के मृदुल मधुर मुसुकान से। 'पादादि यावद्धसितं गदाभृतः' का नियम भागवतकार बतलाते हैं। नीचे से आरम्भ कर ऊपर के अङ्गों तक जाय और एक अङ्ग का ध्यान निश्चित हो जाय, तब अगले अङ्ग की ओर बढ़े। इस प्रकार करते-करते पूरे स्वरूप का ध्यान दृढ़ रूप से सिद्ध हो जाता है। इस तरह के ध्यान का विशद वर्णन तृतीय स्कन्ध के २८ वें अध्याय में किया गया है। पहले-पहल उस रसिकशिरोमणि के पैर से ध्यान करना आरम्भ करे। भगवान् के चरण-कमल कितने सुन्दर हैं! उनमें वज्र, अङ्कुश, ध्वजा, कमल के चिह्न विद्यमान हैं तथा उनके मनोरम नख इतने उज्ज्वल तथा रक्त हैं कि उनकी प्रभा से मनुष्यों के हृदय का अन्धकार आप-से आप दूर हो जाता है।

श्रीभागीरथी का उद्‌गम इन्हीं से हुआ है। ऐसे चरणों में चित्त को पहले लगावे। जब वह वहाँ स्थिररूप से स्थित होने लगे, तब दोनों जानुओं के ध्यान में चित्त को रमावे। तदनन्तर ललित पीताम्बर से शोभित होने वाले, ओज के निधान भगवान् की जंघाओं पर ध्यान लगावे। तदनन्तर ब्रह्माजी के उत्पत्तिस्थानभूत कमल की उत्पत्ति जिससे हुई, उस नाभि का ध्यान करे। इसी प्रकार वक्षःस्थल, बाहु, कण्ठ, कण्ठस्थ मणि, हस्तस्थित शङ्ख, चक्र, पद्म, गदा आदि का ध्यान करता हुआ भगवान् के मुखारविन्द तक पहुँच जाय। तदनन्तर कुटिल कुन्तल से परिवेष्ठित, उन्नत भ्रू से सुशोभित, मीन की भांति चपल नयनों पर अपनी चित्त-वृत्ति लगावे। मनुष्यों के कल्याण के लिये अवतार धारण करनेवाले भगवान् के कृपा-रस सं सिक्त, तापत्रय-नाशिनी चितवन को अपने ध्यान का विषय बनावे। अन्त में भगवान् के होठों पर विकसित होने वाली मन्द,मुसुकान में अपना चित्त लगा कर बस, वहीं दृढ़ धारणा से टिक जाय। वहाँ से टले नही। वही अन्तिम स्थान ध्यान हुआ। पर इस स्थान पर निश्चित रूप से स्थित होने का प्रधानतम उपाय हुआ भक्तियोग। जब तक हृदय में भगवान् के प्रति भक्ति का सञ्चार न होगा, तब तक जितने उपाय किये जायँगे वे सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होंगे। अष्टांग योग भी तो बिना भक्ति के छूछा ही है— नीरस ही है। भक्ति होने पर ही तो भक्त का प्रत्येक कार्य भगवान् की पूजा का अंग हो जाता है, अतः इस भक्ति का पहले होना सबसे अधिक आवश्यक है।

अतः भागवतकार को पूर्वोक्त प्रकार की ही साधना अभीष्ट है, क्योंकि ध्रुव आदि भक्तों के चरित में इसी प्रकार की साधना का उपयोग किया गया मिलता है। श्रीकृष्ण के चरित से भी इस भागवती साधना का तत्त्व समझा जा सकता है।

(४) श्रीकृष्ण और सुदामा

त्रिभुवन कमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥

आनन्दकन्द वृन्दावन-चन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण का पवित्र चरित्र सब भावों से परिपूर्ण है। जिस दृष्टि से उसे देखा जाय उसी से वह पूरा दीखता है, जिस कसौटी पर उसे कसा जाय वह पूरा उतरता है। वह वृन्दावन-विहारी मुरलीधारी बनवारी किस रस का आश्रय नहीं है, किस भाव का पात्र नहीं है? वह स्नेहमूर्ति कन्हैया प्रेम का अगाध समुद्र है, सख्य का अनन्त सागर है।

भगवान् की अनन्त लीलाओं में सुदामा का प्रसङ्ग भी अपनी एक विचित्र मोहकता धारण किये हुए है। पुराने सहपाठी सुदामा को दरिद्र-दीन-दशा में देख भगवान् के हृदय में करुण रस का जो प्रवाह उमड़ पड़ा, दया की जो

दरिया बहने लगी, भगवान् कृष्णचन्द्र के रहस्यमय चरित्र में वह भक्तों के लिये परम पावन वस्तु है—दुःखी आत्माओं को शान्ति देनेवाली यह एक अति अनुपम कथा है।

सुदामा की कथा

सुदामा एक अत्यन्त दीन ब्राह्मण थे। बालकपन में उसी गुरु के पास विद्याध्ययन करने गये थे जहाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने जेठे भाई बलरामजी के साथ शिक्षा ग्रहण करने के लिये गये थे। वहाँ श्री कृष्णचन्द्र के साथ इनका खूब सङ्ग रहा। इन्होंने गुरुजी की बड़ी सेवा की। गुरुपत्नी की आज्ञा से एक बार सुदामा कृष्णचन्द्र के साथ जंगल से लकड़ी लाने गये। जंगल में जाना था कि आँधी-पानी आगया। अन्धकार इतना सघन छा गया कि अपना हाथ अपनी आँखों नहीं दीखता था। रात भर ये लोग उस अन्धेरी रात में बन में भटकते रहे परन्तु रास्ता मिला ही नहीं। प्रातःकाल सदय-हृदय सान्दीपनि गुरु इन्हें खोजते जंगल में आये और घर लिवा ले गये।

गुरुगृह से लौटने पर सुदामा ने एक सती ब्राह्मण कन्या से विवाह किया। सुदामा की पत्नी थी बड़ी पतिव्रता-अनुपम साध्वी। उसे किसी बात का कष्ट न था, चिन्ता न थी। यदि थी तो केवल अपने पतिदेव की दरिद्रता की। वह जानती थी भगवान् श्री कृष्ण उसके पति के प्राचीन सखा हैं—गुरुकुल के सहाध्यायी है। वह सुदामा जी को इसकी समय-समय पर चेतावनी भी दिया करती थी, परन्तु सुदामा जी इसे तनिक भी कान नहीं करते—कभी ध्यान नहीं देते थे। एक बार उस पतिव्रता ने सुदामा जी से बड़ा आग्रह किया आप द्वारकाजी में श्रीकृष्ण जी से मिलिये, उन्हें अपना दुःख सुनाइये। भगवान् दयासागर हैं, हमारा दुःख अवश्य दूर करेंगे। जरा हमारी इस दीन-हीन दशा की खबर अपने प्यारे सखा कृष्ण को तो देना—'या घरते न गयो कबहूँ पिय टूटो तवा अरु फूटी कठौती'। सुदामा जी केवल भाग्य को भर पेट कोसा करते थे—केवल कहा करते थे कि—

पावैं कहाँ ते अटारी अटा जिनको है लिखी विधि टूटिय छानी।
जो पै दरिद्र ललाट लिखो कहु को त्यहि मेटि सकैगो अयानी॥

परन्तु इस बार उस साध्वी के सच्चे हृदय से निकली प्रार्थना काम कर गयी। सुदामा जी द्वारकाधीश के पास जाने के लिये तैयार हो गये। उपायन के तौर पर इधर-उधर से माँग कर पत्नी ने चावल की पोटली पतिदेव के हवाले की। सुदामा जी पोटली को बगल में दबाये द्वारका के लिये रवाना हुए परन्तु बड़े अचम्भे की बात यह हुई कि जो द्वारका सुदामा की कुटिया से कोसों

दूर थी वह सामने दीखने लगी—उसके सुवर्ण-जटित प्रासाद आँखों को चकाचौंध करने लगे। झट से सुदामा जी द्वारका पहुँच गये।

पूछते—पूछते भगवान् के द्वारे पहुँचे। द्वारपाल को अपना परिचय दिया। भगवान् के दरबार में भला दीन-दुखी को कौन रोक सकता है ? द्वारपाल झट से श्रीकृष्ण के पास सुदामा जी के आगमन की सूचना नरोत्तमदासजी के शब्दों में यों देने गया—

शीश पगा न झँगा तन में प्रभु जाने को आहि बसे केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानहु की नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूँछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥

भगवान् ने अपने पुराने मित्र को पहचान लिया। वे स्वयं आकर महल में लिवा ले गये। रत्नजटित सिंहासन पर बैठाया, अपने हाथों से उनका पाँव पखारा, प्राचीन विद्यार्थी-जीवन की स्मृति दिलायी और भक्ति के साथ लाये हुए भाभी के द्वारा अर्पित चावलों की एक मुट्ठी अपने मुँह में डाली, दूसरी मुट्ठी के समय रुक्मिणी ने उन्हें रोक दिया। सुदामा भगवान् के महल में कई दिनों तक सुख-पूर्वक रहे; श्रीकृष्ण ने बड़े प्रेम से उन्हें विदा किया। सुदामा रास्ते में चले जाते थे और मन-ही-मन कृष्ण की बद्धमुष्टिता पर खीझ ते थे। जब अपने घर पहुँचे तो उन्हें अपनी टूटी मढैया नहीं दीख पड़ी। उसके स्थान पर एक विशालकाय प्रासाद खड़ा पाया। पत्नी ने पति को पहचाना जब वे महल के भीतर गये तब अपना ऐश्वर्य देख मुग्ध हो गये और भगवान् की दानशीलता और भक्तवत्सलता का अवलोकन कर अवाक् हो रहे। बहुत दिनों तक अपनी साध्वी पत्नी के साथ सुखपूर्वक दिन बिता अन्त में भगवान् के चिरन्तन सुखमय लोक में चले गये।

सुदामा की भक्त-मनोहरिणी कथा संक्षेप में यही है जो ऊपर दी गयी है। भगवान् की दयालुता का यह परम सुन्दर निदर्शन है। यह कथा वास्तव में सच्ची है। साथ-ही-साथ यह एक आध्यात्मिक रहस्य की ओर संकेत कर रही है जो विचारशील पाठकों के ध्यान में थोड़े-से मनन से स्वयं आ सकता है।

आध्यात्मिक रहस्य

अब पाठक जरा विचारिये कि यह सुदामा कौन हैं ? उनकी पत्नी कौन हैं ? वे तन्दुल कौन-से हैं ? इत्यादि। यदि अन्तःप्रविष्ट होकर देखा जाय तो सुदामा की कथा में एक आध्यात्मिक रूपक है—भक्त और भगवान् के परस्पर मिलन की एक मधुर कहानी है। इसी रहस्य का किंचित् उद्घाटन थोड़े में किया जायगा।

'दामन' शब्द का अर्थ है—रस्सी, बाँधने की रस्सी। यशोदा मैया के द्वारा बाँधे जाने के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण का एक नाम है—दामोदर। इस प्रकार 'सुदामा' शब्द का अर्थ हुआ रस्सियों के द्वारा अच्छी तरह बाँधा गया पुरुष अर्थात् बद्धजीव, जो सांसारिक मायापाश में आकर ऐसा बँध गया है कि उसे अन्य किसी भी वस्तु की चिन्ता ही नहीं। सुदामा सन्दीपनि-मुनि के पास कृष्ण का सहाध्यायी है। जीव भी आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने वाले ज्ञान के सङ्ग होने पर उस जगदाधार परब्रह्म का चिरन्तन मित्र है—सखा है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।' ज्ञान का आश्रय जब तक जीव को प्राप्त है, तब तक वह अपने असली रूप में है, वह श्रीकृष्ण का—परब्रह्म का—सखा बना हुआ है, परन्तु ज्यों ही दोनों का गुरुकुलवास छूट जाता है—वियोग हो जाता है, जीव संसारी बन जाता है, वह माया के बन्धन में आकर सुदामा बन जाता है। वह अपने सखा को बिल्कुल भूल जाता है। सुदामा की पत्नी बड़ी साध्वी है—जीव भी सात्त्विकी बुद्धि के संग चिरसुखी रहता है। सात्त्विकी बुद्धि जीव को बारम्बार उसके सच्चे मित्र की स्मृति दिलाया करती है। जीव संसार में पड़ कर सब को—अपने सच्चे रूप को—भूल ही जाया करता है, केवल सत्त्वमयी बुद्धि का जब-जब विकास हुआ करता है, वह जीव को अपने प्राचीन स्थान की ओर लौट जाने के लिए—उसे चिरन्तन मित्र परब्रह्म की सन्निधि पाकर अपने समस्त बन्धनों को छुड़ा देने के लिये—बारम्बार याद दिलाया करती है। सुदामा जी सदा अपने कुटिल भाग्य को कोसा करते थे। जीव भी भाग्य को उलाहना देकर किसी प्रकार अपने को सन्तुष्ट किया करता है।

आखिर सुदामा जी पत्नी के द्वारा संगृहीत चावल को लेकर द्वारका चले। चावल सफेद हुआ करता है। चावल से अभिप्राय यहाँ पुण्य से है। पुण्य का सञ्चय भी सात्त्विकी बुद्धि किया करती है। जीव जब जगदीश से मिलने के लिये जाता है तब उसे चाहिए उपायन। उपायन भी किसका? सुकर्मों का—पुण्य का। सुकर्म ही सुदामा जी के तण्डुल हैं। जीव जब तक उदासीन बैठा हुआ है—अकर्मण्य बना हुआ है, उस जगदीश की द्वारका काले कोसों दूर है, परन्तु ज्यों ही वह पुण्य की पोटली बगल में दबाये सुबुद्धि की प्रेरणा से सच्चे भाव से उसकी खोज में चलता है वह द्वारका सामने दीखने लगती है। भला, वह भगवान् दूर थोड़े ही हैं? दूर हैं वह अवश्य, यदि भक्त में सच्ची लगन न हो; परन्तु यदि हम सच्चे स्नेह से अपने अन्तरात्मा को शुद्ध बना कर उसकी खोज में निकलते हैं तो वह क्या दूर हैं? गरदन झुकाई नहीं कि वह दीखने लगे। 'दिल के आइने में है तसवीरे यार। जब कभी गरदन झुकाई देख ली ॥' बाबा तुलसीदास जी भी कह गये हैं—

सनमुख होय जीव मोहि जबहीं। कोटि जन्म अघ नासौं तबहीं॥

जो मनुष्य किसी वस्तु से विमुख है, समीप में होने पर भी वह चीज दूर है, परन्तु सम्मुख होते ही वह वस्तु सामने झलकने लगती है। भक्तजन को चाहिये कि सुकर्मों की पोटली लेकर भगवान् के सम्मुख हों, भगवान् दूर नहीं हैं।

सुदामा जी द्वारका में पहुंच गये, द्वारपाल से कहला भिजवाया, श्रीकृष्ण स्वयं पुरानी पहचान याद कर दौड़े हुए आये। जीव तो भगवदंश ही है, वह तो उसके साथ सदा विहार करनेवाला है। उसके अन्तर्मुख होते ही भगवान् स्वयं उसे लिवा ले जाते हैं। हिन्दी-कवियों ने लिखा है सुदामा की दीन-दशा देख श्रीकृष्ण बहुत रोये—मनों आंसू बहाया। 'देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करिके करुणानिधि रोये।' परन्तु भागवत में लिखा है—

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः॥

अपने प्यारे सखा को इतने दिनों के बाद मिलने से श्रीकृष्ण अत्यन्त आह्लादित हुए—सुदामा जी के अङ्ग स्पर्श से भगवान् आनन्दमग्न हो गये; उनकी आँखों से आंसू बहने लगे। जिस प्रकार भगवान् को पाकर भक्तजन परम निर्वृति को पाते हैं, उसी प्रकार भक्त के संग से भी उस आनन्दमय जगदीश के हृदय में आनन्द की लहरी उठने लगती है। क्या भक्त और भगवान् भिन्न-भिन्न हैं? 'तस्मिन् तज्जने भेदाभावात्' (नारदसूत्र)।

सुदामाजी से श्रीकृष्ण पूछते हैं—कुछ उपायन लाये हो? भक्तजनों के द्वारा अर्पित की गयी थोड़ी भी चीज जो भगवान् बहुत बड़ी समझते हैं—

अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्यैव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

सुदामा जी लज्जित होते हैं कि श्रीपति को भला ये चावल क्या दूं? परन्तु भगवान् लज्जाशील सुदामा की काँख से पोटली निकाल चावल खाने लगते हैं। जीव भी बड़ा लज्जित होता है कि उस जगदीश के सामने अपने सुकर्मों को क्या दिखलाऊँ, परन्तु भगवच्चरण में अर्पित थोड़ा भी कर्म बड़ा महत्व रखता है। भगवान् उसके कियदंश से ही भक्तजन के मनोरथ परिपूर्ण करने में समर्थ हैं—सर्वस्व को स्वीकार कर समग्र त्रैलोक्य का आधिपत्य—स्वीय पद भी देने के लिये तैयार हो जाते हैं, परन्तु श्री—भगवान् की ऐश्वर्य शक्ति-ऐसा करने नहीं देती। अस्तु, सुदामा को चाहिये क्या? वह तो इतने से कृतकृत्य हो

गया और उसने भगवल्लोक को प्राप्त कर लिया। भक्त को भी चाहिये क्या ? भगवान् की सन्निधि में आकर अपने सञ्चित कर्मों को—'पत्रं पुष्पं' को—उन्हें अर्पण कर दिया। सुदामा की भाँति जीव कुछ देर तक संशय में रहता है कि अर्पित वस्तु को जगदीश ने स्वीकार किया या नहीं, परन्तु जब जीव अपनी कुटिया—भौतिक शरीर को देखता है, तब उसे सर्वत्र चमकती हुई पाता है, जन्म-जन्म की मलिनता धुल जाती है, वह पवित्र भवन बन जाता है, जिसमें वह अपनी सुबुद्धि के साथ निवास करता हुआ विषयों से विरक्त रह परम सौख्य का अनुभव करता है। भगवान् की अनुकम्पा का फल देर से थोड़े ही मिलता है! भक्तजन इसी शरीर में उनका साक्षात् अनुभव करते हैं।

साधना करने वालों को सुदामा बनना चाहिये। हम अपने-अपने तण्डुल लेकर भगवान् के सामने चलें, वह करुणावरुणालय उसे अवश्य करेंगे, हमारा दुःख दूर कर देंगे, मायापाश से हमें अवश्य छुड़ा देंगे, परन्तु हम यदि सच्चे भाव से अपनी प्रत्येक इन्द्रिय को उसी की सेवा में लगा दें। भागवत के इन पद्यरत्नों को स्मरण कीजिये—

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च।
स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः॥
शिरस्तु तस्योभयलिंगमानमेत् तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम्॥

भगवान् के प्रति सर्वथा समर्पण में ही जीव का परम कल्याण है। साधकों की समस्त इन्द्रियां यदि उस मंगल-मूर्ति की आराधना में लगा दी जाँय, तो निःसन्देह ही उनका कल्याण होगा। पुराणों के दार्शनिक सिद्धान्तों का इसी में पर्यवसान है।

(५) श्रीमद्भागवत में योगचर्या

भागवत का योग पौराणिक योग का एक अंशमात्र है तथा योगशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से उसका स्थान औपनिषद योग तथा पातञ्जल योग के मध्य के काल में आता है। भागवत में भक्ति के साथ-साथ अष्टाङ्गयोग का भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकार से किया गया मिलता है। कई स्थलों पर योग-साधन की क्रियाओं का अप्रत्यक्ष रूप से संकेत मात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थलों पर योग का प्रत्यक्षरूप से विशद विवेचन किया गया है। योग के अप्रत्यक्ष संकेत प्रायः दो प्रसङ्गों में किये गये मिलते हैं। किसी विशेष व्यक्ति की तपश्चर्या के वर्णन के अवसर पर योग का आश्रय लिये जाने का संकेत मिलता है तथा किसी महान् व्यक्ति के इस भौतिक शरीर के छोड़ने का जहां

वर्णन है वहां भी योगमार्ग का आलम्बन कर प्राणत्याग की घटना का संक्षिप्त परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषों के तपश्चरण तथा शरीर-त्याग के दोनों अवसरों पर विशेषरूप से योग की ओर संकेत किया गया मिलता है।

पहले योग-विषय में अप्रत्यक्ष निर्देशों की बात कही जायगी। ऐसे प्रसंग भागवत के प्रथम स्कन्ध में कई बार आये हैं[1]। नारदजी ने अपने जीवन-चरित से एक ऐसे प्रसङ्ग का उल्लेख किया है—

(१) जब वह बालक थे तब उन्हें अध्यात्मवेत्ता मुनियों के संसर्ग में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लड़कपन में ही उनकी माता का देहपात हो गया, तब नारदजी ने उत्तर दिशा में जाकर मुनियों के मुख से सुने गये भगवान् का साक्षात्कार करने का निश्चय किया। तब निर्जन स्थान में उन्होंने भगवान् के चरणकमलों में अपना मन लगा कर ध्यान धरा जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसङ्ग में 'मनःप्रणिधान' जैसे पारिभाषिक शब्द का उल्लेख मिलता है[2]।

(२) नारदजी के उपदेश से व्यासजी ने भगवान् की विविध लीलाओं के वर्णन करने का विचार किया। तदनुसार उन्होंने सरस्वती नदी के पश्चिम तट पर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रम में आसन मार कर भगवान् में अपना मन लगा भक्तिपूर्वक ध्यान धरा। उनका निर्मल मन इतने अच्छे ढंग से समाहित हुआ कि उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया[3]। आसन तथा मनःप्रणिधान का उल्लेख स्पष्ट ही है।

(३) भीष्म पितामह के देहत्याग के अवसर पर व्यासजी ने ऋषि-मुनियों के अतिरिक्त पाण्डवों के साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को भी उस स्थान पर ला एकत्र किया है। अन्तिम अवसर पर सब लोग भीष्म को देखने को आये, श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्म सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्होंने श्रीकृष्ण की ललित स्तुति की तथा अन्त समय में भगवान् में मन, वचन, दृष्टि की वृत्तियों से अपनी आत्मा को लगा कर अन्तःश्वास लिया तथा शान्त हो गये।[4] इस प्रसङ्ग में भीष्म ने अपने शरीर को योगक्रिया से छोड़ा, यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वास को भीतर खींच कर ब्रह्मरन्ध्र से प्राण-त्याग करना योग की महत्त्व पूर्ण क्रिया समझी जाती है।

---

१. श्रीमद्भागवत १।६।१६,१७
२. श्रीमद्भागवत १।६।२०
३ श्रीमद्भागवत १।७।३४
४. श्रीमद्भागवत १।९।४३

(४) देवहूति सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल मुनि की पूजनीया माता थीं। बहुत आग्रह करने पर कपिल ने उन्हें योग की शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपना देहत्याग समाधि के द्वारा किया।[1]

(५) चतुर्थ स्कन्ध में सती के शरीरदाह की कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये शिवजी के निरादर के कारण सती ने अपने शरीर को जला दिया था। गोसाईंजी 'जोग अगिन तनु जारा' लिखकर योगाग्नि में सती के भस्म होने की बात लिखकर चुप हैं, परन्तु व्यासजी ने एक श्लोक में उसकी समग्र योगक्रिया का यथार्थ वर्णन किया है।[2] इस पद्य की शुकदेवकृत सिद्धान्त-प्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवत चन्द्रिका-व्याख्या में बड़ी मार्मिक व्याख्या की गयी है। सती ने पहले आसनजय किया—आसन मारकर इस प्रकार बैठ गयीं कि प्राण-सञ्चारजनित अङ्ग-सञ्चालन बिलकुल बन्द हो गया। तब प्राण और अपान का निरोध कर एकवृत्ति बना नाभिचक्र (मणिपूर) में रखा। अनन्तर नाभिचक्र से उदानवायु को उठाकर हृदय (अनाहत) में ले आयीं; निश्चय बुद्धि के साथ वहाँ से भी वायु को कण्ठमार्ग (विशुद्धिचक्र) से भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) में ले आयीं। उदान को वहीं टिकाकर सती ने अपने अङ्गों में वायु तथा अग्नि की धारणा धारण की। परिणाम स्पष्ट ही हुआ। शरीर एकदम जल उठा। इस वर्णन में शरीर के विभिन्न चक्रों तथा तद्द्वारा वायु को ऊपर ले जाने की क्रिया का उल्लेख नितान्त स्पष्ट है।

(६) नारदजी ने ध्रुव को आसन मार प्राणायाम के द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मन के मल को दूर कर समाहित मन से भगवान् के ध्यान करने का उपदेश दिया था।[3] ध्रुव ने उसी मार्ग का अवलम्बन किया तथा अल्प समय में ही वह भगवान् का साक्षात्कार करने में समर्थ हुआ।[4] ध्रुव को नारद ने अष्टाङ्गयोग का ही उपदेश दिया था, इसका पूरा पता 'कृत्वोचितानि' पद्य की भागवत-चन्द्रिका के देखने से लग सकता है। 'उचितानि कृत्वा' में यम-नियम का, 'कल्पितासनः' में आसन का, 'मलं व्युदस्य' में प्राणायाम तथा प्रत्याहार का, 'ध्यायेत्' में ध्यान के धारणापूर्वक होने के कारण तथा ध्यान का विधान किया गया है अर्थात् पूरे अष्टाङ्गयोग का उपदेश है।

---

१. श्रीमद्भागवत ३।३३।२७
२. " ४।४।२५, २६
३. " ४।८।४४
४. " ४।८।७७

(७) दधीचि ऋषि से देवताओं ने वज्र बनाने के लिये उनकी हड्डियाँ माँगी तब लोकोपकार की उन्नत भावना से प्रेरित होकर ऋषि ने उनकी प्रार्थना को अंगीकार किया तथा इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि का नियमन कर परम योग का आश्रय लिया। उस समय उन्हें खबर ही न लगी कि उनका शरीरपात कब हो गया।[1]

(८) वृत्र ने भी अपनी मृत्यु के समय भगवान् के चरण कमलों में मन लगाकर समाधि के द्वारा अपने प्राण छोड़े।[2]

(९) अदिति ने 'पयोव्रत' नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान् की प्रसन्नता के लिये किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने अदिति के उदर से जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। महर्षि कश्यप को इस अद्भुत घटना का ज्ञान समाधियोग से विना किसी के जनाये ही हो गया।[3]

(१०) श्रीकृष्ण के जीवनचरित में अनेक प्रसङ्ग भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित हैं जिनमें योग का आश्रय लेकर उन्होंने अत्यन्त आश्चर्यजनक अलौकिक घटनाओं को घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान् के पूर्णावतार ठहरे-'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। अतः अलौकिक घटनाओं को उत्पन्न करना उनकी शक्ति के एक कण का कार्य है, परन्तु इन सब अद्भुत कार्यों की उत्पत्ति श्रीकृष्ण ने अपने योगवल से की थी, इसका उल्लेख बारम्बार मिलता है। वह अनेक बार 'योगी' तथा योगियों में श्रेष्ठ 'योगेश्वरेश्वरः' बतलाये गये हैं। ब्रह्मा ने ग्वालों तथा गौओं को जब पर्वत की कन्दरा में चुराकर रख छोड़ा था. तब श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को ही उतने ही गोपों तथा गौओं में परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था[4] वह योग की 'कायव्यूह' सिद्धि का उज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्ण ने प्रवल दावाग्नि से गोपों की जो रक्षा की थी, उसमें उनका 'योगवीर्य' ही प्रधान कारण था।[5] रासलीला के समय में वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण ने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं उनमें उनका योगमाया का आश्रय लेना भी एक कारण था।[6] जब यादवों के भार से भी व्यथित इस भूमण्डल को श्रीकृष्ण ने भार-विहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोक में जाने का विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम

---

१. श्रीमद्भागवत ६।१०।१२
२. ,, ६।११।२१
३. ,, ८।१७।२२
४. ,, १०।१३।१९
५. ,, १०।१९।१४
६. ,, १०।२९।१

रमणीय शरीर को आग्नेयी योगधारणा से बिना जलाये ज्यों-के-त्यों अपने शरीर के साथ अपने लोक में चले गये[1]। 'साधारण योगी अग्नि-धारण से अपने शरीर को भस्म कर देता है। श्रीकृष्ण ने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने शरीर को बिना भस्म किये सशरीर ही अपने धाम में चले गये[2]। इस प्रकार श्रीकृष्ण के जीवन चरित को आदि से अन्त तक व्यासजी ने योगसिद्धियों से परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

योग का प्रत्यक्ष वर्णन

भागवत के तीन स्कन्धों में योग का विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्ध के अध्याय १ तथा २ में; तीसरे स्कन्ध के २५ वें तथा २८ वें अध्यायोंमें कपिलजी का अपनी माता देवहूति के प्रति योग का उपदेश, और फिर एकादश स्कन्ध के अध्याय १३ में सनकादिकों को हंसरूप-धारी भगवान् के द्वारा योग का वर्णन, अ० १४ में ध्यानयोग का विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियों का वर्णन, अ० १९ में यमनियमादि का वर्णन, अ० २८-२९ में यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोग के साथ अष्टाङ्गयोग का।

योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें यम तथा नियम का संक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्ध के अध्याय १९ में यत्किंचित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रों में तो यम तथा नियम केवल पाँच प्रकार के ही बतलाये गये हैं, परन्तु भागवत में उनमें से प्रत्येक के बारह भेद माने गये हैं।

यम के द्वादश भेद[3]—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४)

---

१. संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥
लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥

—(श्रीमद्भागवत ११।३१।५-६)

२. उक्त श्लोक की व्याख्या में मान्य टीकाकारों में भी मतभेद दिखायी पड़ता है। श्रीधर स्वामी के 'अदग्ध्वा' पदच्छेद को मानकर वीर-राघव, विजयध्वज, जीव गोस्वामी आदि सब टीकाकारों ने एक समान ही अर्थ किया है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशुकदेव ने अपने सिद्धान्त-प्रदीप में 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'स्ववियोगाग्निना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विद्युत् के अदृश्य होने की तरह भगवत्तनु के अन्तर्धान होने की बात लिखी है।

३. श्रीमदभागवत ११।१९।३३

असङ्ग, (५) ह्री, (६) असंचय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा, (१२) अभय।

नियम के द्वादश भेद[1]—(१) शौच—बाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम, (६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन।

इन यमों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवत का छठाँ 'असंचय') पातञ्जल दर्शन में भी हैं, शेष सात नये हैं। नियमों में उसी भांति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवत का आठवां 'भगवदर्चन') पातञ्जल-दर्शन में भी हैं, शेष नये हैं।

आसन—यह योग का तीसरा अंग है। शुद्ध, पवित्र तथा एकांत स्थान में आसन लगाना चाहिये। जहां कहीं हल्ला नहीं हो, निर्जनता के कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगाने के लिये चुनना चाहिये। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिये। इसका 'कल्पितासन' शब्द के द्वारा भागवत में स्थान-स्थान पर संकेत है। योग में अनेक आसन बतलाये गये हैं। स्वस्तिकासन से बैठे तथा उस समय अपने शरीर को बिल्कुल सीधा बना रक्खे—

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने॥

—(श्रीमद्भाग० २।१।१६)

'घर से निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थों के जल में स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थान में विधिपूर्वक बिछाये हुए आसन पर आसीन हो।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत्॥

—(३।२८।८)

'शुचि देश में आसन लगा कर आसन को जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगा कर सीधा शरीर करके अभ्यास करे।'

इस श्लोक में श्रीधरस्वामी के अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है। अन्य टीकाकारों ने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासन से सुखपूर्वक बैठे; ऐसा अर्थ किया है। अतः भागवत में किसी एक आसन के प्रति आदर दिखाया गया नहीं मालूम पड़ता। स्थान-स्थान पर टीकाकारों के संकेत से पद्म अथवा सिद्ध आसनों की ओर निर्देश जान पड़ता है।

---

१. श्रीमद्भागवत ११।१९।३४

प्राणायाम—प्राणों का आयाम योग का चौथा अङ्ग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करने का उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।

—(३।२८।९)

प्राणायाम पुराणों में दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ। अगर्भ प्राणायाम वह है जिसमें जप तथा ध्यान के बिना ही, मात्रा के अनुसार, प्राणायाम किया जाय। सगर्भ प्राणायाम में जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिये। इन दोनों में सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणों ने उसीके करने का उपदेश दिया है। शिवपुरण की वायवीय संहिता के उत्तर खण्ड के अध्याय सैंतीस में इन दोनों के भेद तथा उपयोग का अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणयामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात्॥ ३३॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकार का कहा गया है, जप और ध्यान के बिना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यान के सहित जो है वह सगर्भ है।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम्॥ ३४॥

'अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम का गुण सौगुना है। इस लिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं।'

विष्णुपुराण में अगर्भ को **अबीज** तथा सगर्भ को **सबीज** प्राणायाम कहा गया है[1]। श्रीमद्भागवत में भी इसी सगर्भ प्राणायाम का विधान बतलाया गया है। प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-म् से ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकार की मन में आवृत्ति करता जाय। ॐकार को बिना भुलाये अपने श्वास को जीते[2]—

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद् ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्॥

—(श्रीमद्भाग० २।१।१७)

'इस तीन अक्षर वाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्र का मन से जप करे। इस ब्रह्म बीज को बिना भुलाये श्वास को जीत कर मन को एकाग्र करे।'

---

१. विष्णुपुराण षष्ठ अंश ७। ४०।
२. श्रीमद्भागवत ११। २४। ३४।

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायाम के अभ्यास से श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मन से आवरक मल-रज तथा तम—का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार आग में तपाये लोहे से मलिनता दूर हो जाती है—

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम्॥
—(३।२८।१०)

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचक के क्रम से प्राणायाम करने का विधान बतलाया गया है, परन्तु भागवत के एकादश स्कन्ध में 'विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः' (१४।३३) 'प्रतिकूलेन वा चित्तम्' (३।२८।९) कह कर इससे उलटे क्रम से प्राणायाम करने की भी विधि शास्त्रीय मानी गयी है। यहां 'विपर्ययेणापि' तथा 'प्रतिकूलेन' का अर्थ श्रीधरस्वामी ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियम का उलटा क्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक। इसका आशय यह है कि पहले ही रेचक करे, बाद को कुम्भक और अन्त में पूरक। कुम्भक दो प्रकार का होता है—अन्तः कुम्भक तथा बहिःकुम्भक। भागवत में इन दोनों का वर्णन है तथा दोनों में किसी एक के द्वारा चित्त को स्थिर करने का उपदेश है। दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाड़ी से पूरक करे तथा दाहिनी से रेचक करे अथवा इसका उलटा दक्षिण नाड़ी से वायु भर कर वाम से रेचक करे। दोनों ही अर्थ योगाभ्यासियों को सम्मत हैं। प्राणायाम को तीनों काल में—प्रातः, मध्याह्न तथा सायं—करना चाहिये और हर वार दस प्राणायाम करना चाहिये। यदि इस नियम से प्राणायाम किया जाय तो एक मास के पूर्व ही साधक पवन को वश में कर लेता है—

दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥
—(श्रीमद्भा० ११।१४।३५)

प्रत्याहार—इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वास को जीत कर साधक अपनी इन्द्रियों को उनके तत्तद्विषयों से खींचे। इस कार्य में सहायता देगा निश्चय बुद्धि वाला मन। मन के द्वारा निश्चय बुद्धि की सहायता से मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींच कर उन्हें एक स्थान पर रखने का यत्न करे। यह हुआ प्रत्याहार।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः।
—(श्रीमद्भाग० २।१।१८)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मयः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥
—(श्रीमद्भाग० ११।१४।४२)

धारणा—मन को एक वस्तु में टिकाने का नाम हुआ धारणा। भागवत में दो प्रकार की धारणा बतलायी गयी है। वे ही धारणाएँ अन्य पुराणों में भी नामभेद से बतलायी गयी हैं। भगवान् के दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। इन्हीं को विष्णुपुराण में (१) मूर्त अथवा 'विश्व' तथा (२) अमूर्त अथवा 'सत्' रूप बतलाया गया है।[1] भगवान् के इन्हीं दोनों रूपों का धारणा तथा ध्यान करने चाहिये। अतः भागवतविहितधारणा के दो भेद हुए—

(१) वैराजधारणा तथा (२) अन्तर्यामिधारणा।

सबसे पहले भगवान् के स्थूल रूप में ही धारणा तथा ध्यान लगावे। २ स्कन्ध के पहले ही अध्याय में भगवान् के विराट् रूप का सुन्दर तथा सांग वर्णन किया गया है। स्थूल होने के कारण मूर्त रूप में मन आसानी से लगाया जा सकता है। इस धारणा का नाम हुआ **वैराजधारणा**। जब यह धारणा साधक के हाथ में आ जाय, तब अमूर्त रूप की धारणा करनी चाहिये। इस दूसरी धारणा—**अन्तर्यामि-धारणा** का अतीव सुन्दर वर्णन भागवत के अनेक स्थलों पर किया गया है, यथा दूसरे स्कन्ध का दूसरा अध्याय, तीसरे स्कन्ध का अट्ठाईसवाँ अध्याय तथा ग्यारहवें स्कन्ध का चौदहवाँ अध्याय। इन वर्णनों का आशय[2] है कि अपने शरीर के भीतर ऊर्ध्वनाल वाले अधोमुख हृत्पुण्डरीक को ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदल वाला तथा कर्णिकायुक्त ध्यान धरे। कर्णिका में क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के मण्डल को रक्खे। इस अग्नि के भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्र वनमालाधारी की मनमोहिनी मूरति का ध्यान धरे। भगवान् के इस सुहावने रूप का जैसा वर्णन भागवत में मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

किसी वस्तु विशेष में अनुस्यूत रूप से मन धारणा धारण करे। प्रत्यय की एकतानता हो, तो उसे ध्यान कहते हैं—'तत्रैकतानता ध्यानम्'। भागवत में ध्यान के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। सारांश यही है कि जब हृत्कर्णिका में भगवान् के समग्र शरीर की धारणा निश्चल तथा ठीक हो जाय, तब प्रत्येक अंग का ध्यान करना चाहिये। अंगों का क्रम 'पादादि यावत् हसितं गदाभृतः' (चरणों से लेकर हँसते हुए मुख तक) है। इनका वर्णन तीसरे स्कन्ध के अठाईसवें अध्याय में देखने ही योग्य है। भगवान् के पैर के ध्यान से आरम्भ कर ऊपर बढ़ता जाय और अन्त में मुख की मन्द मुसुकान के ऊपर अपना ध्यान जमा दे—

---

१ विष्णुपुराण अं० ६ अ० ७।

२. श्रीमद्भागवत ११।१४।३६–३७

सञ्चिन्तयेत् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥

—(३।२८।२१)

'उत्तम प्रकार से भगवान् के उस चरण-कमल का ध्यान करे जो चरण-कमल वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के चिह्नों से युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखों की ज्योत्स्ना से सत्पुरुषों के हृदय के अन्धकार को दूर किया है।'

× × ×

समाधि—ध्यान के बाद ही समाधि का स्थान है। उस समय भक्ति से द्रवीभूत हृदय, आनन्द से रोमांचित होकर, उत्कण्ठा से आँसुओं की धारा में नहाने वाला भगवाद् का भक्त अपने चित्त को ध्येय पदार्थ से उसी भाँति अलग कर देता है, जिस प्रकार मछली के मारे जाने पर मछुआ बडिश (काँटे) को अलग कर देता है—

'चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते'।

इस समय निर्विषय मन अर्चि की तरह गुणप्रवाह से रहित होकर भगवान् में लय प्राप्त कर लेता है—ब्रह्माकार में परिणत हो जाता है (भाग० ३।२८। ३४-३८)।

'इस प्रकार भगवान् श्रीहरि में जिसका पूर्ण प्रेम-भाव हो गया है, जिसका हृदय भक्ति से द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्द से जो पुलकित हो उठा है, जो बारंबार उत्कण्ठा से उप्पन्न हुई अश्रुधारा में नहाता रहता है, वह उस चित्तरूप बडिश (मछली पकड़ने के काँटे) को भी पीछे धीरे-धीरे छोड़ देता है। संसार का आश्रय जिसने छोड़ दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मन वत्ती जल जाने पर दीपशिखा के महज्योति में मिलने के समान निर्वाणपद को प्राप्त होता है। त्रिगुण का प्रवाह जिससे हट गया, ऐसा वह पुरुष अपने सिवा और कोई व्यवधान नहीं देखता हुआ अखण्ड आत्म-स्वरूप को प्राप्त होता है। वह पुरुष मन की इस चरम-निवृत्ति से सुख दुःख के बाहर उस महिमा में लीन हुआ करता है और आत्म-स्थिति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ ऐसा पुरुष यद्यपि अपने आपको कर्ता नहीं मानता तथापि सुख दुःख का जो मूल कारण है वह अपने अन्दर देखता है।'

—(भाग० ३।२८।३४)

इस योग की यह बड़ी विशेषता मालूम पड़ती है कि यह अष्टाङ्गयोग भक्ति के साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी केवल शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान् की उत्तम भक्ति से आप्लाव्यमान हृदय वाला परम भागवत है। बिना भक्ति के लोगविहित समाधि की निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। व्यास जी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा कि योग का उद्देश्य 'कायाकल्प' नहीं है— शरीर को केवल दृढ़ बनाना नहीं है, प्रत्युत उसका प्रधान ध्येय श्रीभगवान् में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये॥
नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥

—(श्रीमद्भागवत ११।२८।४१-४३)

श्रीमद्भागवत का योग के विषय में यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियों के लिये जगदाधार भगवान् में भक्ति के द्वारा चित्त लगाने के अतिरिक्त ब्रह्मप्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्म-सिद्धये॥

—(श्रीमद्भा० ३।२५।१९)

'अखिल आत्म-स्वरूप भगवान् में लगी हुई भक्ति के समान शिवः पन्थाः' कल्याणकारी मार्ग, योगियों के लिये ब्रह्म प्राप्ति में और कोई नहीं है।'

एकादश परिच्छेद

पुराणों का देश और काल

पुराणों का निर्माण किस स्थल पर हुआ और कब हुआ ? यह समस्या पौराणिक वैदुषी के लिए एक जीती जागती चुनौती है। साम्प्रदायिक मान्यता तो यह है कि महर्षि वेदव्यास ने प्राची सरस्वती के तीरस्थ अपने आश्रम में बैठकर ध्यानस्थ होकर समग्र पुराणों का प्रणयन किया—फलतः पुराणों के देश में ऐक्य के समान उनके काल में भी ऐक्य है। परन्तु ऐतिहासिक पद्धति के विद्वानों को यह सिद्धान्त कथमपि रुचिकर नहीं है। पुराणों ने इदमित्थं रूप से अपने निर्माण-क्षेत्र या प्रणयनस्थल का निःसन्दिग्ध रूप से निर्देश नहीं किया है, केवल विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र पर विभिन्न पुराणों को आस्था है, उसे ही वे भारतवर्ष में प्रकृष्ट क्षेत्र या तीर्थ मानते हैं। इस प्रकार की आस्था गाढ़ परिचयमूलक ही हो सकती है। पुराण का वह रचयिता उस तीर्थविशेष से या प्रान्त-विशेष से विशेष परिचय रखता है और इसीलिए वह उस स्थान पर इतना आग्रह दिखलाता है तथा इतनी श्रद्धा प्रदर्शित करता है। इसी पद्धति से पुराण के देश का कुछ संकेत किया जा सकता है। नितान्त निर्णय तो एकदम असम्भव नहीं, तो दुःसम्भव तो अवश्य है। इसी प्रकार की सूचनायें एकत्र कर पुराण के देश का यहाँ निर्देश प्रस्तुत किया जा रहा है।

काल का भी निर्णय एक विषम पहेली है। पुराणों की रचना का कालनिर्णय एक विषम समस्या हैं जिसका समाधान नितान्त कठिन है। इसका कारण अवान्तर शताब्दियों में पुराणों का संस्कार तथा प्रतिसंस्कार माना जाना चाहिये। मूलभूत पुराणों में कालान्तर में यत्र तत्र स्फुट श्लोक ही नहीं जोड़े गये, प्रत्युत अध्याय का अध्याय जोड़ा गया है। अनेक पुराणों में प्रतिसंस्कार की मात्रा ने मूलस्वरूप को सर्वात्मना आच्छादित कर लिया हैं। उनके मूलरूप को खोज निकालना बहुत अधिक गम्भीर अनुशीलन चाहता हैं। किन्हीं पुराणों में तो मूलरूप की आविष्कृति सम्भावना से परे की बात हो गई है। ऐसी स्थिति में पुराणों के मूलस्वरूप का समय निर्धारण नितान्त असम्भव नहीं, तो दुःसम्भव अवश्य है। सच तो यह हैं कि पुराणों के अध्यायों का ही नहीं, प्रत्युत उनमें निर्दिष्ट श्लोकों का भी अलग अलग समय का निरूपण किया जाना चाहिये। अतएव पुराणों के आविर्भावकाल के विषय में इदमित्थं रूप से कहना कठिन है। केवल तारतम्य

परीक्षा के द्वारा दो पुराणों के बीच में किसी को इतर पुराणापेक्षया अर्वाचीन अथवा प्राचीन माना जा सकता है।

वस्तुस्थिति ऐसी ही है। तथापि कतिपय सिद्धान्त का संक्षिप्त निर्देश यहाँ किया जा रहा है जो इस विवाद-विषय का कथञ्चित् समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं।

कालनिर्णय के कतिपय नियामक साधन

(क) आवृत्त अंश वाले पुराण अनावृत्त अंश वाले पुराणों की अपेक्षा नूनं प्राचीनतर है। इस तथ्य का कारण भी अनिर्देश्य नहीं है। पहिले दिखलाया गया है कि पुराण-संहिता का मूल परिमाण केवल चार सहस्र श्लोक ही है। इसका विकाश कालान्तर में अष्टादश पुराणों के रूप में सम्पन्न हुआ। फलतः कुछ प्राचीनतम सामग्री (श्लोकात्मक ही नहीं, अपितु अध्यायात्मक भी) कई पुराणो में आवृत्त होती गई है। इसके विपरीत अनेक पुराण किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की मान्यता को अग्रसर करने के उद्देश्य से निर्मित हुए हैं। फलतः ये अभिनव रचनायें हैं जिनका क्षेत्र नितान्त सीमित है। इसलिए उनके श्लोक अथवा अध्याय कहीं भी आवृत्त नहीं हुए। इस कसौटी पर कसने से विष्णु पुराण श्रीमद्भागवत की अपेक्षा प्राचीनतर सिद्ध होता है। विष्णु पुराण के अनेक अध्याय या तदंश मार्कण्डेय पुराण में तथा हरिवंश में एकाकार हैं। प्राकृत-वैकृतरूप नवसर्गों के वर्णन वाले श्लोक दोनों में एक ही हैं। विष्णु पुराण प्रथम अंश पञ्चम अध्याय चतुर्थ श्लोक से आरम्भ कर २६ श्लोक तक का अंश मार्कण्डेय अ० ४७ के १४ श्लो० से लेकर २७ तक एक ही है। इसी प्रकार विष्णु० के इसी अध्याय के २८ श्लोक से आरम्भ कर अध्यायान्त भाग मार्कण्डेय का ४८ वाँ अध्याय है जिसमें देवादि स्थावरान्त सृष्टि का विवरण है। इसके विपरीत, श्रीमद्भागवत का कोई भी विशिष्ट अंश किसी भी पुराण में आवृत्त नहीं हुआ है। इसका एक छोटा अपवाद अवश्य है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध तृतीय अध्याय के २१ श्लोक (६–२६ तक) गरुड के पूर्वार्ध के प्रथम अध्याय में आवृत्त या उद्धृत हैं (गरुड १।१४—१।३४) यह अंश विष्णु के अवतारों का क्रमशः वर्णन करता है। परन्तु इससे हमारे मूल सिद्धान्त का विपर्यास नहीं होता कि विष्णु पुराण की अपेक्षा श्रीमद्भागवत अर्वाचीन है। इस तथ्य का पोषक एक अन्य प्रमाण भी अनुसन्धेय है। श्रीमद्भागवत वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत भागवत सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट पुराण है जिसमें तत्सम्प्रदाय के मान्य तथ्य बड़ी मार्मिकता से उद्घाटित किये गये हैं। विष्णु पुराण किसी भी सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त न होकर सामान्यतः विष्णु-माहात्म्य का प्रतिपादक

एक महत्त्वपूर्ण पुराण है। इसीलिए मध्ययुगीय समग्र वैष्णव सम्प्रदायों का यह उपजीव्य ग्रन्थ रहा है। जिस प्रकार श्रीवैष्णवों तथा माध्वों ने इससे स्वकीय अनेक सिद्धान्तों का ग्रहण तथा संपोषण किया, उसी प्रकार गौडीय वैष्णवों ने भी अपने अनेक दार्शनिक तत्त्वों का आधार इसे ही बनाया। फलतः इन दोनों साक्ष्य पर दोनों पुराणों के कालनिर्णय का तारतम्य भली-भाँति मिलाया जा सकता है। आवृत्त अध्यायों की अधिकता होने के कारण ही वायु तथा ब्रह्माण्ड प्राचीन पुराणों में गिने जाते हैं।

(२) कभी कभी किसी विशिष्ट शब्द के विकृत परिवर्तन के हेतु भी पुराणों का कालतारतम्य निर्णीत किया जा सकता है। एक प्रसिद्ध दृष्टान्त से इसे समझना चाहिए। आभीर जाति का वर्णन महाभारत तथा पुराणों में अनेकत्र उपलब्ध होता है। महाभारत के मौशलपर्व में ७ तथा ८ अ० इस विषय में विशेषरूपेण द्रष्टव्य हैं। आभीरों का हथियार कोई धातुज शस्त्र न होकर लाठी तथा ढेला ही था। वे ग्राम में ही रहते थे पञ्चनद (पंजाब) के धन्य-धान्यपूर्ण क्षेत्र में। गोपालन आभीरों का प्रधान व्यवसाय था। इनकी संख्या बहुत ही अधिक थी। फलतः श्रीकृष्ण की स्त्रियों को उसी मार्ग से लौटाते समय आभीरों के हाथों से अर्जुन को पराजित होना पड़ा था। वेदव्यासजी के आश्रम पहुँचने पर उन्होंने अर्जुन से हतप्रभ होने के कारण की जिज्ञासा की। इसी प्रसङ्ग में एक गूढार्थ श्लोक आता है—

नखकेश दशा कुम्भ वारिणा किं समुक्षितः।
आवीरजानुगमनं ब्राह्मणो वा हतस्त्वया।
युद्धे पराजितो वाति गतश्रीरिव लक्ष्यते॥

— मौशल पर्व ८।५—६

किसी भी व्यक्ति को हतश्री बनाने वाले ऊपर निर्दिष्ट सात कारणों में से 'आवीरजानुगमनं' अन्यतम कारण है। 'आवीरजा' का अर्थ नीलकण्ठ ने 'रजस्वला' देकर छुट्टी ले ली। इस शब्द की पूरी व्याख्या इस प्रकार होगी—आविर् (भूतं) रजः यस्याः सा आवीरजा[1] तस्या अनुगमनं मैथुनम्। रजस्वला से तीन दिनों से पूर्व अनुगमन करना धर्मशास्त्र से निषिद्ध है। उसका आचरण-कर्ता नियमेन हतश्री होता है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

विष्णुपुराण के पंचम अंश (३८ अध्याय) में यही प्रसंग इसी रूप में आया है जहां मौशलपर्व के श्लोकों की छाया है तथा कहीं-कहीं व्याख्या भी की गई है। ऊपर निर्दिष्ट श्लोक का रूप यहां इस प्रकार है—

---

१. 'आविर् + रजः' इत्यत्र 'रोरि' इति रेफलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति सूत्रेण लोपपूर्वकस्य इकारस्य दीर्घे आवीरजेति सिध्यति।

अवीरजोऽनुगमनं ब्रह्महत्या कृताऽथवा
दृढाशाभङ्गदुःखीव भ्रष्टच्छायोऽसि साम्प्रतम् ।

—विष्णु ५।३८।३७

दोनों श्लोकों को मिलाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विष्णुपुराण के समय 'आवीरजा' शब्द अप्रसिद्ध होने से विस्मृतप्राय हो गया। फलतः महाभारत का वह शब्द 'अवीरजोऽनुगमनं' के रूप में आया जहाँ इसका अर्थ होता है—भेड़ों की धूलि का अनुगमन जो किसी प्रकार धर्मशास्त्र की दृष्टि से निषिद्ध भले ही हो, परन्तु मूलशब्द का विकृतरूप अवश्यमेव है। ब्रह्मपुराण के २१२ अ० में ठीक यही वर्णन विष्णुपुराण के समान श्लोकों में ही है, परन्तु उक्त श्लोक का परिवर्तित रूप इस प्रकार है :—

अजारजोऽनुगमनं ब्रह्महत्याऽथवा कृता
जयाशाभङ्गदुःखीव भ्रष्टच्छायोऽसि साम्प्रतम् ॥

—ब्रह्म० २१२।३७

विष्णुपुराण का 'अवीरजोऽनुगमनं' शब्द यहां लेखक को खटका और उसने झट से उसे बोधगम्यरूप में परिवर्तित कर दिया—अजारजोऽनुगमनम् ।

निष्कर्ष—इस विशिष्ट शब्द के अर्थानुसन्धान करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कठिन मूल शब्द से बोधगम्य अर्थ निकालने के प्रयास में लेखकों ने उसे पूरे तौर पर बदल ही डाला है। जिन अंशों में यह श्लोक उपलब्ध होता है उनके काल के विषय में हम कह सकते हैं कि मौशलपर्व सबसे प्राचीन है। विष्णुपुराण उससे कालक्रम में हट कर है तथा ब्रह्मपुराण तो विष्णु से भी अवान्तरकालीन है।

(ग) पुराणों में निर्दिष्ट चरित्रों का तुलनात्मक समीक्षण भी उनके काल-निर्णय का एक साधन माना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित की ही मीमांसा इस विषय में दृष्टान्तरूप से ली जा सकती है। यह चरित मूल में तो एकाकार ही है, परन्तु घटनाओं के विन्यास से इसका क्रमविकाश भी अनुसन्धेय है। जितना कम विस्तार होगा किसी पुराण में, वह उतना ही प्राचीन होगा। मान्यता यह है कि प्राचीनपुराणों में कृष्णचरित की स्थूल कतिपय घटनायें ही उल्लिखित हैं और अवान्तरकाल में श्रीकृष्ण के माहात्म्य तथा आकर्षण की अभिवृद्धि होने से उस चरित में नयी-नयी घटनायें जोड़कर उसे परिपुष्ट किया गया है। इस मान्यता को ध्यान में रखने पर उस कथा के वर्णनपरक पुराणों का कालनिर्णय भलीभाँति किया जा सकता है। उदाहरणार्थ विष्णुपुराण के पञ्चम अंश में श्रीकृष्ण का चरित केवल ३८ अध्यायों में

वर्णित है। इसमें किसी प्रकार के अलंकृत परिबृंहण का उद्योग ग्रन्थकार की ओर से नहीं किया गया। रासलीला का प्रसंग भी संक्षिप्त शब्दों में ही यहां दिया गया है (५।१३।१३–६४)। अब हरिवंश में दिये गये श्रीकृष्ण चरित की इससे तुलना कीजिये। हरिवंश नयी-नयी घटनाओं को जोड़कर उसे परिबृंहित करता है। हल्लीसक नृत्य का वर्णन अभिनव है। फलतः यहां उस चरित का विकास स्पष्टतः लक्षित होता है। श्रीमद्भागवत में उस चरित में और भी नयी-नयी बातों का समावेश लक्षित होता है। विशेषतः गोपियों का प्रसंग, उद्धव द्वारा संदेश भेजने तथा गोपियों के समझाने का प्रसंग यह सब श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण वर्णन का प्राण है। तथ्य यह है कि भागवत ने उस चरित में विलक्षण माधुरी तथा सौन्दर्य की सृष्टि की है। विष्णुपुराण में वह केवल ऐतिहासिक चरित के समान ही केवल घटना-प्रधान नीरस है। भागवत में वह चरित घटना-प्रधान न होकर रस-प्रधान हो गया है। यही उसके विकास की दिशा है। इन तीनों ग्रन्थों में अभी राधा के चरित की सूक्ष्म सूचना होने पर भी उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं है। यह अभिव्यक्ति ब्रह्मवैवर्त में स्फुटतर हो जाती है। यहां राधा का प्रभुत्व तथा माहात्म्य श्रीकृष्ण की अपेक्षा भी अधिक सारवान् प्रतीत होता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण चरित के विकास क्रम को लक्ष्य कर इन चार पुराणों का काल-क्रम सिद्ध होता है—विष्णुपुराण (सब से प्राचीन)—हरिवंश—श्रीमद्भागवत—ब्रह्मवैवर्त (अवरोह क्रम से) फलतः विष्णुपुराण इस पुराण-चतुष्टयी में प्राचीनतम है तथा ब्रह्मवैवर्त नवीनतम। अन्य प्रख्यात चरितों के भी विकासक्रम का समीक्षण इसी प्रकार उपादेय और उपयोगी माना जा सकता है।

(घ) पुराणों का अन्तरङ्ग परीक्षण भी उनके समय निर्माण के लिए विशिष्ट सामग्री प्रस्तुत करता है। अनेक पुराणों ने विशेषतः विश्वकोश की समता वाले पुराणों ने अपनी विविध सामग्री का संकलन विभिन्न प्रामाणिक तत्तत् शास्त्रीय ग्रन्थों से किया है, कहीं बिना नामोल्लेख किये ही और कहीं पर नामोल्लेख के साथ। फलतः इन मूलग्रन्थों के साक्ष्य पर इन पुराणों का काल-निर्देश सुचारु रूप से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—अग्नि० का काव्य-विवेचन (३३७ अ०, ३४६–३४७ अ०) दण्डी के काव्यादर्श पर अधिकतर आश्रित है। फलतः उस अंश की दण्डी से उत्तरकालीन होना निश्चित है। गरुडपुराण ने कितने ही अध्यायों (९३–१०६ अ०) में याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर धर्मशास्त्रीय विषयों का विवरण प्रस्तुत किया है। फलतः यह भाग द्वितीय-तृतीय शती के अनन्तर का है जब याज्ञवल्क्य स्मृति का निर्माण हुआ। इसी प्रकार शिवपुराण में दो शिवसूत्रों का तथा उनके ऊपर

निर्मित वार्तिक ग्रन्थ का नाम्ना निर्देश किया है। फलतः शिवपुराण की रचना शिवसूत्रों के तथा वार्तिक की रचना के अनन्तर हुई। शिवसूत्रों के रचयिता वसुगुप्त का समय ८००–८२५ ई० तथा उनके वार्तिककार भास्कर का समय ८५० ई० है। इन ग्रन्थों के स्पष्ट उल्लेख से शिवपुराण नवम शती से प्राचीन नहीं हो सकता। उधर अलबरूनी (१०३० ई०) ने पुराणों की सूची में शिवपुराण को उसमें अन्यतम स्थान दिया है। इन दोनों के बीच में आविर्भूत होने से शिवपुराण का समय दशम शती का अन्त मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है।

(ङ) बहिरंग साक्ष्य के ऊपर भी पुराणों का काल निरूपण किया जा सकता है। महाभारत ने **'वायुप्रोक्त पुराण'** का स्पष्ट निर्देश किया है (वनपर्व १९१ अ०, १६ श्लो०) तथा उसे अतीतानगत विषयों का प्रतिपादक भी स्वीकृत किया है। यह स्पष्टतः आजकल प्रचलित वायुपुराण का संकेत करता है जिसमें अतीत काल की घटनाओं के वर्णन के संग अनागत = भविष्य काल के राजादिकों के वृत्त भी वर्णित हैं। बाणभट्ट ने हर्षचरित में वायुपुराण के स्वरूप का तथा लोक-प्रचलित प्रवचन का भी उल्लेख किया है। इससे स्पष्टतः हर्षचरित (सप्तमशती का पूर्वार्ध) तथा महाभारत (लगभग द्वितीय शती) से प्राक्कालीन होने के कारण वायुपुराण का समय द्वितीय शती से पूर्व ही मानना चाहिए। सप्तमशती से तो वह कथमपि पीछे नहीं लाया जा सकता[1]।

धर्मशास्त्रीय निबन्धों में पुराणों के वचन उद्धृत किये गये हैं तत्तत् विषय की पुष्टि में प्रमाण देने के लिए। इससे भी उनके समय का निरूपण किया जा सकता है। अरब यात्री अलबरूनी ने अपने समय में (११ शती का पूर्वार्ध) उपलब्ध पुराणों की सूची दी है जिसमें उन पुराणों की प्राक्कालीनता स्वयं ही अनुमेय है। इन निबन्धकारों में जयचन्द्र (१२ शती का उत्तरार्ध) के सभापण्डित लक्ष्मीधर भट्ट का अनेक खण्डों में विभक्त 'कृत्यकल्पतरु' प्राचीन निबन्ध माना जाता है— द्वादशशती की रचना। इसमें उद्धृत होने वाले पुराणों की इससे पूर्वकालीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इतना ही नहीं, इन निबन्धकारों ने पुराणों के विषयों में बड़े सुन्दर विवेचन भी किये हैं जिनसे उस युग की प्रवृत्ति का पूरा परिचय लगता है।

बल्लालसेन ने अपने प्रख्यात निबन्ध **दानसागर** में पुराणों के विषय में बड़ी मार्मिक समीक्षा की है। इससे भी उनके रूप का, श्लोक परिमाण का तथा

---

१. इस विषय में विशेष द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ के पृष्ठ १०१–१०३ जहाँ वायु० के समय का निरूपण विस्तार से किया गया है।

रचनाकाल का परिचय आलोचकों को मिल ही जाता है। बल्लालसेन के द्वारा स्पष्ट संकेतित होने से ही अष्टादश पुराणों में श्रीमद्भागवत को ही पुराण मानना पड़ता है तथा देवीभागवत को उपपुराण। बल्लालसेन की समीक्षा से पुराणों का स्वरूप का तथा उनके प्रामाण्य-अप्रामाण्य का पूरा परिचय परीक्षक को मिल जाता[1] है।

(च) कलिराजाओं के वृत्तवर्णन के आधार पर भी पुराणों का काल निर्देश किया जा सकता है। पार्जीटर ने इस विषय का तुलनात्मक अध्ययन कर भविष्य पुराण के कलिराजाओं के वृत्त को मूलभूत तथा प्राचीनतम माना है। इसी का उपबृंहण कालान्तर में मत्स्य, वायु तथा ब्रह्माण्ड के भविष्य वर्णन में अर्थात् कलियुग के शासकों के विषय में उपलब्ध होता है। विष्णु तथा श्रीमद्भागवत में उपलब्ध यह विवरण भविष्य के ही आधार पर है, परन्तु अवान्तरकालीन संक्षिप्त विवरण है।

भविष्य में इस ऐतिहासिक वृत्त का संकलन आन्ध्र नरेश यज्ञश्री के समय में द्वितीयशती के अन्त में किया गया। यह विवरण कालान्तर में अन्य पुराणों में गृहीत हुआ, तब उसे परिबृंहित करने तथा अपने काल तक लाने का प्रयास किया गया। जब भविष्य-पुराणीय विवरण मत्स्यपुराण में गृहीत हुआ, तब उसमें २६० ईस्वी तक का वृत्त आन्ध्र वंश के अन्त तक का निश्चित रूपेण जोड़ दिया। आगे बढ़कर वायु तथा ब्रह्माण्ड में ग्रहण के अवसर पर वही विवरण गुप्त साम्राज्य के आरम्भिक उदय तक, अर्थात् ३३५ ईस्वी तक बढ़ा दिया तथा संक्षिप्त रूप प्रस्तुत होने पर विष्णु तथा भागवत में यही विवरण गृहीत हुआ। पुराणों में कलिराजाओं के ऐतिहासिक वृत्त के स्वीकरण की यही सामान्य रूपरेखा है। इसे विशेष रूप से समझा जा सकता है।

मत्स्य पुराण (२७३।१७-२६) में आन्ध्र, गर्दभिल्ल, शक, मुरुण्ड, यवन, म्लेच्छ, आभीर तथा किलकिलों का वर्णन मिलता है। भारतवर्ष में इन विदेशीय जातियों का शासन कुषाण राज्य के ध्वंस होने पर द्वितीय-तृतीय शती के बाद हुआ—यह तो इतिहासविदों को ज्ञात ही है। आन्ध्र राज्य की समाप्ति २३६ ईस्वी में हुई—तब तक आन्ध्र नरेशों का पूरा वृत्त मत्स्यपुराण में गृहीत हुआ है। मत्स्य इसके आगे नहीं बढ़ता। आन्ध्रनरेश का विश्वसनीय इतिहास प्रस्तुत करना मत्स्यपुराण की अपनी विशिष्टता है। वायु तथा ब्रह्माण्ड बिस्तार से तथा विष्णु और भागवत संक्षेप में ही गुप्तों के

---

१. इसका परिचय पूर्णरूप से इसी ग्रन्थ के अध्याय तीन में तथा पृष्ठ १२०-१२४ पर दिया गया है।

शासनक्षेत्र का वर्णन करते हैं जब वह वंश प्रयाग, साकेत (अयोध्या), तथा मगध के ऊपर शासन कर रहा था। गुप्तवंश के महाराज चन्द्रगुप्त प्रथम (समय, ३२० ई०—३२६ ई०) के राज्य विस्तार का यह संकेत करता है। प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्र गुप्त के दिग्विजय का विस्तृत विवरण है। भारतवर्ष के समग्र प्रान्त गुप्तराज्य के अन्तर्गत इस समय तक आ गये थे—इसका परिचय यहाँ मिलता है। यदि पुराण समुद्रगुप्त के इस दिग्विजय से परिचित होते, तो वे प्रयाग—अयोध्या—मगध तक ही गुप्तराज्य को सीमित बतलाने की धृष्टता नहीं करते। फलतः यह वर्णन ३३० ईस्वी से प्रथम, समुद्र गुप्त के दिग्विजय से पूर्व ही गुप्तों का संकेत करता है।

इस ऐतिहासिक वृत्त के वर्णन से समय का निर्देश किया जा सकता है—(क) भविष्य का रचना काल द्वितीय शती का अन्त है; (ख) मत्स्य-पुराण का निर्माण तृतीय शती के आरम्भ अथवा २३६ ईस्वी तक हो चुका था; (ग) वायु तथा ब्रह्माण्ड गुप्तराज्य के आरम्भ काल तक समाप्त हो चुका था; (घ) विष्णु पुराण का कलिवृत्त प्रकरण भी इसी युग का संकेत करता है (ङ) श्रीमद्भागवत भी, जैसा अन्य पोषक प्रमाण से सिद्ध होता है, गुप्तकाल की ही रचना है। कुछ भाग पीछे के भले हों, परन्तु षष्ठशती से पूर्व यह समाप्त हो चुका था।

इन निर्णायक साधकों के द्वारा पुराणों का कालक्रम से विभाजन हो सकता है। जब हम कहते हैं कि अमुक पुराण प्राचीन है, तब हम किसी पुराण की अपेक्षा ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं। पुराणों की तीन श्रेणियाँ हैं—(क) प्राचीन प्रथम शती से लेकर ४०० ईस्वी तक। इसके अन्तर्गत हम वायु, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, मत्स्य तथा विष्णु को रखते हैं। (ख) मध्यकालीय—इस श्रेणी में हम श्रीमद्भागवत, कूर्म, स्कन्द, पद्मपुराण को रखते हैं (५०० ई०—९०० ई०) तथा (ग) अर्वाचीन—इस श्रेणी में हम ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, लिङ्ग आदि (९०० ई०—१००० ई०) को रखते हैं। यह तो हुई सामान्य विवेचना। अब हम प्रत्येक पुराण के देशकाल का निर्णय करने का आगे प्रयत्न कर रहे हैं। वायु तथा विष्णु को लेखक सर्वपुराणों में प्राचीनतम मानने के पक्ष में है। इस विषय में विशिष्ट प्रमाण आगे उपन्यस्त किये गये हैं।

(१) ब्रह्मपुराण

ब्रह्मपुराण ही अष्टादश पुराणों में अग्रिम तथा प्रथम माना गया है। इसके देश के विचार प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि यह पुराण पृथ्वीतल में सर्वश्रेष्ठ देश भारतवर्ष को मानता है तथा उस भारत में भी सर्वश्रेष्ठ तीर्थ दण्डकारण्य है। दण्डकारण्य के भीतर ही होकर गौतमी या गोदावरी नदी प्रवाहित होती है जो

नदियों में मुख्य है। इस नदी के तीरस्थ तीर्थों का ही सूक्ष्म विवरण पूरे १०६ अध्यायों में (प्र० ६९ अ०-१७५ अ०) ब्रह्मपुराण करता है। इस विवरण से पुराणकार का दण्डकारण्य तथा विशेषतः गोदावरी-प्रदेश पर विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। अतः इन अध्यायों का रचना-देश निश्चित रूप से गौतमी (या गोदावरी) प्रदेश ही प्रतीत होता है। एतद्-विषयक दो तीन श्लोक प्रमाण में उद्धृत किये जाते हैं:—

पृथिव्यां भारतं वर्षं दण्डकं तत्र पुण्यदम्।
तस्मिन् क्षेत्रे कृतं कर्म भुक्ति-मुक्तिप्रदं नृणाम् ॥ १८ ॥
तीर्थानां गौतमी गङ्गा श्रेष्ठा मुक्तिप्रदा नृणाम्।
तत्र यज्ञेन दानेन भोगान् मुक्तिमवाप्स्यति ॥ १९ ॥

—८८ अ०

यह गौतमी नदी दण्डकारण्य की नदियों में सर्वश्रेष्ठ है—

श्रूयते दण्डकारण्ये सरित् श्रेष्ठास्ति गौतमी।
अशेषाघप्रशमनी सर्वाभीष्टप्रदायिनी ॥ ६२ ॥

—१२९ अ०

फलतः ब्रह्मपुराण का अत्यधिक भाग गोदावरी प्रदेश की रचना प्रतीत होता है, परन्तु इसका आदिम भाग (आरम्भ से लेकर ६९ अ०), तक उत्कल देश में प्रणीत जान पड़ता है। क्योंकि २८ अ० से ६९ अ० तक ४१ अध्यायों में पुरुषोत्तम क्षेत्र (जगन्नाथ क्षेत्र) के छोटे छोटे तीर्थों का भी माहात्म्य सर्वोपरि श्रेष्ठ बतलाया गया है। ६९ अ० में पुरुषोत्तम क्षेत्र ही समस्त तीर्थों में मूर्धन्य स्वीकार किया गया है। २८ अ०में कोणादित्य (आधुनिक नाम कोणार्क) की महती प्रशंसा है और तत्प्रतिष्ठित भगवान् भास्कर के स्वरूप तथा पूजा के विषय में छः अध्याय (२९ अ०-३४ अ०) प्रयुक्त किये गये हैं। ६६ अ० में गुडिवा यात्रा के दर्शन का विशिष्ट फल दिया गया है[1]। 'गुडिवा' या 'गुण्डिवा' का शुद्ध रूप गुण्डिचा है। जगन्नाथ अपने अग्रज संकर्षण तथा भगिनी सुभद्रा के साथ आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को रथ के ऊपर चढ़कर जो यात्रा करते हैं, वही रथ-यात्रा गुण्डिचा[2] यात्रा के नाम से उत्कल में प्रसिद्ध है। इस स्थानीय

१. गुण्डिवामण्डपं यान्तं ये पश्यन्ति रथे स्थितम्।
कृष्णं बलं सुभद्रां च ते यान्ति भवनं हरेः ॥ १ ॥
गुण्डिवा नाम यात्रा मे सर्वकामफलप्रदा ॥ ८ ॥

—ब्रह्मा० अ० ६६

२. 'गुण्डिचा' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में उड़िया भाषा के विद्वान् भी एकमत नहीं हैं। बहुत से मान्य भाषाविदों की धारणा है कि यह शब्द आर्य

उड़िया शब्द के प्रयोग से ग्रन्थकार का इस प्रदेश से गाढ़ परिचय रखना स्वतः सिद्ध होता है। फलतः लेखक की दृष्टि में ब्रह्मपुराण के आरम्भिक अंश की रचना का देश उत्कल माना जा सकता है।

इस पुराण में २४५ अध्याय हैं तथा १३७८३ श्लोक (आनन्दाश्रम संस्करण में) हैं। इस पुराण में तीर्थों का माहात्म्य बड़े विस्तार से वर्णित है और माहात्म्य प्रसंग में ही तीर्थ-सम्बन्धिनी प्राचीन कथा का भी समुल्लेख रुचिरता से किया गया है। डा० हाजरा का कथन है कि जीमूतवाहन, बल्लालसेन तथा देवण्णभट्ट द्वारा उद्धृत ब्रह्मपुराणीय श्लोक प्रचलित ब्रह्मपुराण में उपलब्ध नहीं होते। इस पुराण ने महाभारत के ही नहीं, प्रत्युत विष्णु, वायु तथा मार्कण्डेय के अनेक अध्यायों को अक्षरशः अपने मे सम्मिलित कर दिया है। इसलिए यह ब्रह्मपुराण मूलपुराण न होकर कालान्तर में विरचित प्रक्षेप-विशिष्ट पुराण है। इन प्रक्षेपों की छानबीन की जा सकती है। यह पुराण मूल रूप से १७५ अ० में ही समाप्त हो जाता है जहाँ गौतमी गङ्गा का विशद माहात्म्य अपने पर्यवसान पर पहुंच जाता है। उसी अध्याय के अन्त में (८८–९० श्लोक) इस पुराण के श्रवण तथा दान का माहात्म्य वर्णित है जो निश्चित रूप से पुराण के अन्त में ही किया जाता है। फलतः १७६ अ० से लेकर अन्तिम २४५ अ० पीछे से जोड़ा हुआ अंश है। निबन्धकारों में इसकी लोकप्रियता पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। कल्पतरु ने कम से कम पन्द्रह सौ श्लोक इसके उद्धृत किये हैं जिनमें से केवल नव श्लोकों का पता उसके सम्पादक को लग सका है। श्राद्ध के विषय में सैकड़ों श्लोक यहाँ उद्धृत हैं। कल्पतरु में इसी पुराण से सर्वापेक्षा अधिकतम श्लोक उद्धृत हैं। वायु तथा मत्स्य का नम्बर तो इसके बाद आता है। परन्तु इन श्लोकों की प्रचलित पुराण में उपलब्धि न होने से इसके वर्तमान रूपको अधिकतर प्रक्षेप-विशिष्ट मानना कथमपि अन्याय्य नहीं है। प्रचलित ब्रह्मपुराण के अनेक तीर्थ-विषयक श्लोक (४६ अ० से आगे वाले अंश के) तीर्थचिन्तामणि में उद्धृत हैं। इसके लेखक वाचस्पति का समय १४२५ ई०–१४९० ई० अर्थात् १५वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। फलतः प्रचलित ब्रह्म की रचना का काल इससे पूर्व १३ शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

(२) पद्मपुराण

इसकी दो वाचनायें विद्यमान हैं (१) उत्तर भारतीय वाचना, (२) दक्षिण भारतीय वाचना। प्रथम के अनुसार यह पांच खण्डों में विभक्त है और दूसरी वाचना

भाषा का न होकर कोलभीलों की भाषा का कोई स्थानीय शब्द है। जगन्नाथ जी का वर्तमान मन्दिर १५ वीं शती से प्राचीन भले ही न हो, परन्तु उनकी पूजा तो बहुत प्राचीन है।

के अनुसार, जो आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज में तथा वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित है, छ: खण्डों में विभक्त हैं—जिनके नाम हैं—आदि, भूमि, ब्रह्म, पाताल, सृष्टि और उत्तर खण्ड। यह निश्चयेन उत्तरकालीन वाचना है। पूर्वकालीन वाचना वंगीय हस्तलेखों के आधार पर पाँच खण्डों में विभक्त है— सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल तथा उत्तर[1]खण्ड। मत्स्य तथा पद्म के सैकडों श्लोक दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं। हेमाद्रि ने पद्म से लम्बे उद्धरण इन श्लोकों का अपने ग्रन्थ में दिया है, जब दूसरे निबन्धकारों ने इन्हीं श्लोकों को मत्स्य पुराण का वचन मान कर उद्धृत किया है। इन दोनों में से कौन किसका अधमर्ण है? मत्स्य में धर्मशास्त्रीय विषयों का प्राचुर्य है तथा निबन्धों में उसके उद्धरणों का आधिक्य है। फलत: काणे महोदय की सम्मति में पद्म ही मत्स्य के श्लोकों को अपने में उद्धृत करने वाला अधमर्ण प्रतीत होता है। आनन्दाश्रम से प्रकाशित पद्मपुराण में अध्यायों की संख्या ६२८ हैं तथा श्लोकों की ४८, ४५२ जो नारद पुराण में निर्दिष्ट संख्या से बहुत घट कर न्यून है। निबन्ध में कल्पतरु ने पद्मपुराण से नाना विषयों के श्लोक प्रामाण्य में उदधृत किया है। इस भारी भरकम पुराण का मूलरूप क्या था? इस प्रश्न का उत्तर देना नितान्त कठिन है। विद्वानों ने इसकी अन्तर्गत कथाओं का समीक्षण कर उनमें अनेक को अत्यन्त प्राचीन बतलाया है। डाक्टर लूडर्स का कथन है कि पद्मपुराणान्तर्गत (पातालखण्ड में) ऋष्य श्रृंग की कथा महाभारत में उपलब्ध वन पर्व (११० अ०—११२ अ०) में वर्णित उस कथा से प्राचीनतर है। अन्य विद्वान् पद्म पुराण में वर्णित तीर्थयात्रा प्रकरण को महाभारत (वन पर्व) में वर्णित तीर्थयात्रा प्रसंग से प्राचीनतर मानते हैं।

पद्मपुराण तथा कालिदास में परस्पर सम्बन्ध क्या था? वंगीय हस्तलेखों में उपलब्ध वाचना के अनुसार पद्मपुराण के स्वर्ग खण्ड (तृतीय खण्ड) में शकुन्तला का उपाख्यान वर्णित है जो महाभारतीय उपाख्यान से न मिल कर कालिदास के 'अभिज्ञान शकुन्तल' नाटक से अपूर्व समता रखता है। डा० विन्टरनित्स तथा डा० हरदत्त शर्मा इस प्रसंग में कालिदास को पद्मपुराण का अधमर्ण स्वीकार करते हैं[2] अर्थात् कालिदास ने यह कथावस्तु पद्मपुराण से गृहीत

---

१. इन खण्डों के विषय का संक्षेप देखिए—

ज्वालाप्रसाद मिश्र: अष्टादश पुराण दर्पण पृ० ७५-९६ डा० विन्टरनित्स: हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर। —प्रथम भाग पृष्ठ ५३६-५४४।

२. द्रष्टव्य डा० हरदत्त शर्मा: पद्मपुराण एण्ड कालिदास, कलकत्ता १९२५ (कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज, सं० १७)

डा० विन्टरनित्स: हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर पृ० ५४०।

की है—यही तथ्य मानते हैं। इस विषय में लेखक का मन्तव्य है कि किसी भी पौराणिक कथानक में नायिका के साथ उसकी संगिनी के रूप में एक ही सखी का होना पर्याप्त है; दो सखियों की आवश्यकता क्यों? अतः दो सखियों का यहां होना सर्वथा अस्वाभाविक है, पुराण की शैली से सर्वथा विरुद्ध तथा असंगत। अतः पद्मपुराण को ही इस विषय में कालिदास का अधमर्ण मानना सर्वथा न्याय्य तथा समुचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार कालिदास के अभिज्ञान शकुन्तल पर आश्रित होने से स्वर्गखण्ड का तथा सम्पूर्ण पद्मपुराण की रचना का काल पञ्चम शती से अर्वाचीन ही मानना उचित है। यह प्रचलित पद्मपुराण का निर्माण काल है। मूल पद्म-पुराण को इससे प्राचीन होना चाहिये।

नागरी में मुद्रित उत्तरखण्ड[1] तथा वंगीय हस्तलेखों में प्राप्त अमुद्रित वंगीय वाचनानुसार उत्तरखण्ड में महान् पार्थक्य है। यह पार्थक्य परिमाण के संग-साथ में निर्माणकाल के विषय में भी है। मुद्रित उत्तरखण्ड में २८२ अध्याय हैं और वंगीय हस्तलेखों में केवल १७२ अध्याय हैं। 'उत्तरखण्ड' स्वयं इस तथ्य का द्योतक है कि यह खण्ड मूलपुराण में पीछे से जोड़ा गया है, परन्तु कितना पीछे? इसका उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। वंगीय कोश वाला उत्तरखण्ड तो मुद्रित उत्तरखण्ड से भी अवान्तरकालीन है। यह श्रीमद्भागवत का तथा राधा का ही उल्लेख नहीं करता, प्रत्युत रामानुज मत का भी उल्लेख करता है। अतः यह श्री रामानुज से प्राचीन नहीं हो सकता। इस खण्ड में द्रविड देश के एक वैष्णव राजा की कथा दी गई है जिसने पाषण्डियों अर्थात् शैवों के मिथ्या उपदेशों के प्रभाव में आकर अपने राज्य से विष्णु मूर्तियों को फेंक दिया, वैष्णव मन्दिरों को बन्द कर दिया और प्रजा को शैव होने के लिए बाध्य किया। श्री अशोक चैटर्जी का कथन है कि यह कुलोत्तुङ्ग द्वितीय का संकेत करता है जो शैवों के प्रभाव से उग्र शैव बन गया था। उसे राज्यसिंहासन पाने का समय ११३३ ईस्वी है जिससे इस खण्ड को उत्तरकालीन होना चाहिये। हित-हरिवंश के द्वारा १५८५ ई० में प्रतिष्ठित राधावल्लभी सम्प्रदाय में राधा का ही प्रामुख्य है जिसका प्रभाव उक्त लेखक इस खण्ड पर मानते हैं। फलतः उनकी दृष्टि में यह उत्तरखण्ड १६ वीं शती के पश्चात् की रचना है।[2]

---

१. 'उत्तरखण्ड' के स्वरूप तथा विषयों के लिए द्रष्टव्य पुराणम् (भाग तृतीय, १९६१) पृष्ठ ४७–६०।

२. द्रष्टव्य Some observations on the Date of the Bengali Recension of the Uttara-Khanda of the Padma Purana—Purana Bulletin (All India Kashiraja Trust) —भाग ५ पृष्ठ १२२–१२६

(३) विष्णुपुराण

पुराण साहित्य में विष्णुपुराण का गौरव सातिशय महनीय है। नारदीय पुराण में इसका विस्तार २४ सहस्र श्लोकों का बतलाया गया है, बल्लालसेन ने भी इसके २३ हजार श्लोकों वाले सम्प्रदाय का उल्लेख किया है; विभिन्न टीकाकारों ने भी इसके विभिन्न श्लोक-परिमाणों का स्पष्ट संकेत किया है, परन्तु यह आजकल छः सहस्र श्लोकों का ही उपलब्ध होता है। और इसी संस्करण के ऊपर तीनों व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं—श्रीधर स्वामी की, विष्णुचित्त की (विष्णुचित्तीय) तथा रत्नगर्भ भट्टाचार्य की (वैष्णवाकूतचन्द्रिका)। इन व्याख्याओं की सम्पत्ति से ही इसका माहात्म्य नहीं प्रकट होता, प्रत्युत वैष्णव मत के समधिक दार्शनिक तथ्यों से मण्डित होने से भी इसका गौरव है। छोटा होने पर भी विषयप्रतिपादन में महनीय है, क्योंकि इसमें पुराण के पांचों लक्षण बड़ी सुन्दरता से उपन्यस्त हैं। इसके वक्ता पराशरजी हैं जिन्होंने मैत्रेय को इस पुराण का प्रवचन किया।

ब्रह्माण्ड के सात श्लोकों (३।६८।९७–१०३) में से पाँच श्लोक (ययाति के तृष्णा-विषयक वचन) विष्णु (४।१०।२३–२७) में भी वे ही हैं जो ब्रह्मपुराण (१२।४०-४६) में भी मिलते हैं। इन सबों का मूल स्थान संभवतः महाभारत का आदि पर्व है (७५।४४)। याज्ञवल्क्य (३।६) पर मिताक्षरा विष्णु० से लगभग १४ श्लोक नारायण बलि के विषय में उद्धृत करती है। कल्पतरु, अपरार्क तथा स्मृति चन्द्रिका ने कई सौ श्लोकों को उद्धृत किया है। काव्यप्रकाश में विष्णुपुराण के दो श्लोक[1] उद्धृत हैं जिसमें किसी गोपकन्यका द्वारा श्रीकृष्ण की गाढ़ अनुरक्ति के कारण मोक्षप्राप्ति का वर्णन है। विष्णुपुराण मध्ययुगीय वैष्णव सम्प्रदायों का समभावेन उपजीव्य ग्रन्थ है। श्रीरामानुज, श्री मध्वाचार्य तथा श्री चैतन्य ने अपने अनेक विशिष्ट मतों का आधार विष्णुपुराण में निर्दिष्ट तथ्यों को बनाया है।

विष्णुपुराण का समय

विष्णुपुराण के आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानों में विभिन्न मत हैं, परन्तु कुछ ऐसे नियामक साधन हैं जिनका अवलम्बन करने से हम समय का निर्देश भली-भांति कर सकते हैं—

(क) कृष्णकथा की दृष्टि से—भागवत तथा विष्णु की तुलना का परिणाम इस परिच्छेद के आरम्भ में ही दे दिया गया है। दोनों में

---

१. तद् प्राप्ति तथा चिन्तयन्ती० विष्णु के ५।१३।२१-२२ श्लोक हैं जो काव्यप्रकाश के चतुर्थ में रसध्वनि के उदाहरण हैं।

पार्थक्य यह है कि विष्णु जहाँ ध्रुव, वेन, पृथु प्रह्लाद, जडभरत के चरित को संक्षेप में ही विवृत करता है, वहाँ भागवत उनका विस्तार दिखलाता है। कृष्ण लीला के विषय में ही यही वैशिष्ट्य लक्ष्य है। फलतः विष्णु भागवत से प्राचीन है।

(ख) ज्योतिष विषयक तथ्यों के आधार पर भी विष्णु का समय निर्णीत है। विष्णु (२।९।१६) में नक्षत्रों का आरम्भ कृत्तिका से करता है[1] और वराह मिहिर (लगभग ५५० ई०) के साक्ष्य पर हम जानते हैं कि उनसे प्राचीन-काल में नक्षत्रों का जो आरम्भ वृत्तिका से होता था, वह उनके समय में अश्विनी से हो गया। फलतः कृत्तिकादि ऋक्ष का प्रतिपादक विष्णु नियमेन ५०० ईस्वी से प्राचीन है। इसी प्रकार राशि का भी उल्लेख विष्णु में अनेकत्र है (३।८।२८[2], २।८।३०, २।८।४१—४२, २।८।६२-६३)। ज्योतिर्विदों की मान्यता है कि सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य स्मृति में राशियों का समुल्लेख उपलब्ध है और इस ग्रन्थ का रचना काल है द्वितीय शती। फलतः विष्णु पुराण द्वितीय शती से प्राचीन नहीं हो सकता[3]।

(ग) वाचस्पतिमिश्र (८४१ ई०) ने योगभाष्य की अपनी टीका तत्त्ववैशारदी में २।३२; २।५२; २५४ में विष्णु पुराण के श्लोकों को उद्धृत किया है तथा १।१९, १।२५, ४।१३ में वायुपुराण के वचन उद्धृत किये हैं। 'स्वाध्यायाद् योगमासीत' इस भाष्य की टीका में वे लिखते हैं—अत्रैव वैयसिकों गाथामुदाहरति अर्थात् वाचस्पति की दृष्टि में व्यासभाष्य में उद्धृत 'स्वाध्यायाद् योगमासीत्' व्यास का वचन है। और यही श्लोक विष्णु पुराण के षष्ठ अंश ६ अ० के द्वितीय श्लोक के रूप में मिलता है। योगभाष्य का एक-वचन (३।१३—तदेतद् त्रैलोक्यं आदि) न्यायभाष्य में उपलब्ध है (१।२।६) जिससे योगभाष्य का समय वात्स्यायन के न्यायभाष्य के समय (द्वितीय-तृतीय शती) से प्राचीनतर होना चाहिए। योगभाष्य में वाचस्पति मिश्र के साक्ष्य पर उद्धृत होने के कारण विष्णु पुराण को प्रथमशती से पूर्व मानना सर्वथा

१, कृत्तिकादिषु ऋक्षेषु विषमेषु च यद्दिवः
दृष्टार्कं पतितं ज्ञेयं तद् गाङ्गं दिग्गजोज्झितम्।

—विष्णु २।९।१६.

२. अयनस्योत्तरस्यादौ मकरं याति भास्करः
ततः कुम्भं च मीनं च राशे राश्यन्तरं द्विज ॥

—विष्णु २।८।२८

३. द्रष्टव्य Dr. Hazara का लेख 'The date of Vishnu purana (भण्डारकर पत्रिका भाग १८ (१९३६-३७ में)

उचित प्रतीत होता है। ऊपर कलियुग के राजाओं के वर्णन-प्रसङ्ग में विष्णु गुप्तों के आरम्भिक इतिहास से परिचय रखता है जब वे साकेत (अयोध्या), प्रयाग तथा मगध पर राज्य करते थे। यह निर्देश चन्द्रगुप्त प्रथम (३२० ई०-३२६ ई०) के राज्यकाल में गुप्त राज्य की सीमा का द्योतक माना जाता है। फलतः विष्णु पुराण का समय १०० ई०—३०० ई० तक मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

(घ) विष्णुपुराण की प्राचीनता के विषय में तमिल साहित्य के एक विशिष्ट काव्यग्रन्थ से बड़ा ही दिव्य प्रकाश पड़ता है। ग्रन्थ का नाम है—मणिमेखलै जिसमें मणिमेखला नामक समुद्री देवी के द्वारा समुद्र में आपद्ग्रस्त नाविकों तथा पोताधिरोहियों के रक्षण की कथा बड़ी ही रुचिरता के साथ दी गई है। ग्रन्थ का रचनाकाल ईस्वी की द्वितीय शती माना जाता है। इसमें एक उल्लेख विष्णुपुराण के विषय में निश्चयरूपेण वर्तमान है। वेंजी की सभा में विभिन्न धर्मानुयायी आचार्यों के द्वारा प्रवचन तथा शास्त्रार्थ का उल्लेख यह ग्रन्थ करता है जिनमें वेदान्ती, शैववादी, ब्रह्मवादी, विष्णुवादी, आजीवक, निर्ग्रन्थ, साख्य, सांख्य आचार्य, वैशेषिक व्याख्याता, और अन्त में भूतवादी के द्वारा मणिमेखला के संबोधित किये जाने का उल्लेख है। इसी सन्दर्भ में तमिल में एक पंक्ति आती है—**कळलवणं पुराणमोदियन्** जिसका अर्थ है—विष्णुपुराण में पाण्डित्य रखने वाला व्यक्ति। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि संगम युग में 'विष्णु' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उस देवता के निर्देश के लिए तिरुमाल तथा कललवणं विशेषण रूप से प्रयुक्त होते हैं। फलतः इस पंक्ति में विष्णु-पुराण का ही स्पष्ट संकेत है, भागवत, नारदीय तथा गरुड जैसे वैष्णवपुराणों का नहीं। यह सम्मान्य मत है इस विषय के पण्डित डा० रामचन्द्र दीक्षितर् का, जिन्होंने तमिल साहित्य तथा इतिहास का गंभीर अनुशीलन अपने एतद्विषयक ग्रन्थ—स्टडीज इन तमिल लिटरेचर ऐण्ड हिस्टरी—में किया है। मणिमेखलै के इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तमिल देश में उस समय पुराणों का प्रवचन तथा पाठ जनता के सामने उसके चरित के उत्थान के निमित्त किया जाता था। यह दशा द्वितीय शती ईस्वी की थी। इस समय विष्णुपुराण विशेपरूपेण महत्त्वशाली और गौरवपूर्ण होने के कारण इस कार्य के लिए चुना गया था। यह इसकी लोकप्रियता का स्पष्ट संकेत है। द्वितीय शती में प्रवचन के निमित्त चुने जाने वाले पुराण का समय उस युग से कम से कम एक शताब्दी पूर्व तो होना ही चाहिए। इससे स्पष्ट है कि कम से कम प्रथम शती में विष्णुपुराण की, अथवा उसके अधिकांश भाग की, निश्चयेन रचना हो चुकी थी। व्यास-भाष्य के साक्ष्य पर निर्धारित समय की पुष्टि इस उल्लेख से आश्चर्यजनक रूप में हो रही है। फलतः विष्णुपुराण का समय निश्चित रूप से ईस्वी के आरम्भिक

काल कम से कम हैं। लेखक की दृष्टि में इस पुराण का रचना काल ईस्वी पूर्व में होना चाहिए—द्वितीय शती ईस्वी पूर्व[१]।

(४) वायुपुराण

इस पुराण में ११२ अध्याय हैं तथा श्लोकों की संख्या १०, ९९१ है। ब्रह्माण्ड के समान ही यह चार पादों में विभक्त है। ब्रह्माण्ड तथा वायु के सम्बन्ध का विवेचन पीछे किया गया है तथा इसके मूलरूप तथा पीछे से जोडे गये अध्यायों का पूरा विवरण ग्रन्थ के पृष्ठ—पर सप्रमाण दिया गया। मत्स्य के समान ही इसमें धर्मशास्त्रीय विषयों की विपुलता है। कल्पतरु ने वायुपुराण के लगभग १६० उद्धरण श्राद्ध पर दिये हैं, लगभग ३५ मोक्ष के विषय में, १२ तीर्थ पर, ७ दान, ५ ब्रह्मचारी तथा ५ गृहस्थ के विषय में। अपरार्क ने लगभग ७५ उद्धरण श्राद्ध के विषय में दिये हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने भी श्राद्ध के विषय में लगभग २५ उद्धरण दिये हैं। इन उद्धरणों से वायुपुराण का धार्मिक विषयों पर प्रामाण्य प्रकट होता है[२]।

वायु ने गुप्तराज्य के आदिम काल की राज्य सीमा का उल्लेख किया है[३]। यह पांच वर्षों के युग को जानता है (५०।१८३)। मेष, तुला (५०।१९६), मकर तथा सिंह (८२।४१–४२) को जानता है। इन उल्लेखों से इसके समय का निरूपण यथार्थ रूप से किया जा सकता है। बाणभट्ट ने अपने गद्यकाव्यों में—हर्षचरित तथा कादम्बरी में-- वायुपुराण का उल्लेख किया है। गुप्त राज्य का वायुपुराण कृत उल्लेख समुद्रगुप्त के दिग्-विजय से पूर्वकालीन है। फलतः ३५० ई० से लेकर ५५० ई० के बीच में ही इसका रचना काल है—लगभग ४०० ईस्वी। सप्तमशती के पुराणों में यह अग्रगण्य माना जाता था, जैसा शंकराचार्य के उल्लेख द्वारा स्पष्टतः प्रतीत होता है। प्राचीन पुराणों में अन्यतम, पञ्च—लक्षण का स्पष्ट परिचायक यह पुराण इतिहास तथा धर्मशास्त्र दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

---

१. द्रष्टव्य इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ७, कलकत्ता १९३१, पृष्ठ ३७०–३७१ में 'दी एज आव दी विष्णुपुराण' शीर्षक टिप्पणी।

२. अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः।

—वायु ९९।३८३

३. वायुपुराण तथा निबन्ध ग्रन्थों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में द्रष्टव्य Dr. Hazara–The Vayu purana in the Indian Historical Quarterly Vol. 14 (1938) pp 331–339.

(५) श्रीमद्भागवत

'भागवत' नाम से प्रख्यात दोनों पुराणों की तुलनात्मक समीक्षा पूर्व ही की गई है जिसका निष्कर्ष यही है कि श्रीमद्भागवत ही अष्टादश पुराणों में अन्यतम है तथा देवी भागवत केवल उपपुराण है जो श्रीमद्भागवत से पूर्ण परिचय ही नहीं रखता, प्रत्युत अनेक तथ्यों के प्रतिपादन में उसका अधमर्ण भी है। भागवत पंचलक्षण के बृहद्रूप दश लक्षणों से समन्वित एक महनीय आध्यात्मिक पुराण है, जिसमें भूगोल तथा खगोल, वंश और वंशानुचरित का भी विवरण संक्षेप में उपस्थित किया गया है। श्रीकृष्ण को भगवान् रूप में चित्रित करने तथा उनकी ललित लीलाओं का विवरण देने में भागवत अद्वितीय पुराण है। परन्तु प्राचीन निबन्ध ग्रन्थों में भागवत से उदाहरण नहीं मिलते। काणे महोदय का कथन है कि मिताक्षरा, अपरार्क, कल्पतरु तथा स्मृतिचन्द्रिका जैसे प्राक्कालीन निबन्धों ने भागवत से उद्धरण नहीं दिया। बल्लालसेन भागवत को पूर्णतः जानते हैं, परन्तु दानविषयक श्लोकों के अभाव में 'दानसागर' में उसे उद्धृत नहीं करते। यह आश्चर्य की बात है कि कल्पतरु मोक्षकाण्ड में भी इसका उद्धरण नहीं देता, जब वह विष्णुपुराण से तीन सौ के आसपास श्लोकों को उद्धृत करता है। इसीलिए काणे महोदय इसे नवम शती से प्राचीन मानने के लिए उद्यत नहीं है।

देश—श्रीमद्भागवत के रचना-क्षेत्र के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। भागवत दक्षिण भारत के भौगोलिक स्थानों तथा तीर्थों से उत्तरभारतीय तीर्थों की अपेक्षा विशेष परिचय रखता है। भागवत ११ स्कन्ध में (५।३८-४०) द्रविड देश की पवित्र नदियों का—पयस्विनी, कृतमाला, ताम्रपर्णी, कावेरी तथा महानदी का-नामोल्लेख करते हुए कहता है कि कलियुग में नारायण-परायण-जन तो कहीं-कहीं ही होंगे, परन्तु द्रविड देश में वे बहुलता से होंगे (द्रविडेषु च भूरिशः) और पूर्वोक्त नदियों का जल पीने वाले मनुज प्रायः करके वासुदेव के भक्त होंगे। विद्वानों की धारणा है कि यह द्रविड देश के आड्वारों का गूढ़ निर्देश है। भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में पुरंजन विदर्भनरेश की कन्या अगले जन्म में हुआ तब उसका विवाह पांड्यनरेश मलयध्वज के साथ हुआ तथा उससे सात पुत्र द्रविड राजा हुये (४।२८।२९-३०)। ऋषभदेव की जीवन-लीला का पर्यवसान कर्नाटक देश में हुआ जहाँ का राजा उनका भक्त हो गया। उनके सात पुत्रों में से अन्यतम 'द्रुमिल' द्रविड का प्राचीन रूप माना गया है। द्रविड देश के राजा सत्यव्रत जब कृतमाला (द्रविड-देशीय नदी) में स्नान कर रहे थे, तब उनकी अंजुलि में मत्स्य का प्रादुर्भाव हुआ (भाग ८।२४।१२-१३)। जाम्बवती के पुत्रों में 'द्रविड' नामक पुत्र का उल्लेख केवल भागवत में ही है

(१०।६१।१२), हरिवंश में नहीं। बलराम जी की तीर्थयात्रा में दक्षिणभारत के तीर्थों का विशेष उल्लेख मिलता है (भाग० १०।७९।१३)। इन सब भौगोलिक उल्लेखों के साक्ष्य पर इतना तो स्पष्ट है कि भागवतकार दक्षिण भारत से सामान्यतः और उसमें भी तमिल प्रान्त से विशेषतः अधिक परिचय रखते हैं। गोपीगीत में तमिल छन्द से साम्य की बात कही जाती है, परन्तु वही तथ्य राजस्थानी भाषा की कविता में भी व्यापक होने से पूर्व कथन पर श्रद्धा नहीं रखी जा सकती[1]।

काल—श्रीमद्भागवत का भी कालनिर्देश इसी बहिरङ्ग साक्ष्य पर निर्णीत है। हेमाद्रि यादव नरेश महादेव (१२६० ई०–१२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (१२७१ ई०–१३०९ ई०) के धर्मामात्य तथा बोपदेव के आश्रयदाता थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के 'व्रतखण्ड' में भागवत के 'स्त्रीशूद्र द्विजबन्धूनां' वाला श्लोक उद्धृत किया है।

द्वैतमत के संस्थापक आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य, जन्म ११९९ ई०) ने 'भागवततात्पर्य निर्णय' में श्रीमद्भागवत के मूल तात्पर्य का निर्देश किया है तथा इसे पंचम वेद माना है। आचार्य रामानुज (जन्मकाल १०१७ ई०) ने अपने 'वेदान्ततत्त्वसार' में भागवत की वेदस्तुति (१०।८७) से तथा एकादश स्कन्ध से कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है जिससे भागवत का तत्पूर्ववर्तित्व सिद्ध है। श्रीशंकराचार्य ने 'प्रबोधसुधाकर' में अनेक पद्य भागवत की छाया पर निबद्ध किया है। इनके गुरु गोविन्द भगवत्पाद के गुरु गौडपादाचार्य ने अपने 'पञ्चीकरण-व्याख्यान' में भागवत से 'जगृहे पौरुषं रूपम्' (भाग० १।३।१) श्लोक उद्धृत किया है। 'उत्तरगीता के भाष्य में उन्होंने 'भागवत' का नाम-निर्देश करके यह प्रख्यात पद्य उद्धृत किया है—

तदुक्तं भागवते—

> **श्रेयः स्रुतिंभक्तिमुदस्यते विभो**
> **क्लिश्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये।**
> **तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते**
> **नान्याद्, यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥**

---

१. द्रष्टव्य इंडियन हिस्टारिकल क्वाटरली सन् १९३२ अष्टम भाग तथा १९५१ के अंक, कलकत्ता से प्रकाशित।

२. स्त्रीशूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥
—भागवत १।३

यह श्लोक दशम स्कन्ध के ब्रह्मकृत प्रसिद्ध स्तुति १४ अ० का चतुर्थ पद्य है।

इस प्रकार वाह्य साक्ष्य के आधार पर श्रीमद्भागवत गौडपाद से प्राचीनतर होना चाहिए। आचार्य शंकर का आविर्भाव काल सप्तम शती के अन्तिम भाग में लेखक ने विशिष्ट प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है[1]। उनके दादा गुरु गौडपाद का समय सप्तम शतक के आरम्भ में युक्तियुक्त है। अत एव भागवत षष्ठ शतक से कथमपि अर्वाचीन नहीं माना जा सकता[2]।

(६) नारदीयपुराण

पुराणसाहित्य में नारदीय पुराण तो प्रख्यात है ही; उसीके साथ 'बृहन्नारदीय' नामक भी एक पुराण ३८ अध्यायों में विभक्त लगभग ३६०० श्लोकों से सम्पन्न कलकत्ता से प्रकाशित है (एशिएटिक सोसाइटी)। यह पुराणस्थ पंच लक्षणों से सर्वथा विरहित है और वैष्णव मत का प्रचारक एक साम्प्रदायिक पुराण है जिसे उपपुराण मानना न्यायसंगत है। मत्स्यपुराण (५३।२३) में वर्णित नारदीय प्रचलित नारदीय से कोई भिन्न ही पुराण प्रतीत होता है। यह निःसन्देह वैष्णव धर्म का विशिष्ट प्रचारक ग्रन्थ है। इसमें वैष्णवागम का ही उल्लेख नहीं है (३७।४), प्रत्युत पाञ्चरात्र अनुष्ठान का भी पूर्ण संकेत उपलब्ध है (५३।९)। बौद्धों की बड़ी निन्दा की गई है। एकादशी व्रत के अनुष्ठान का माहात्म्य बड़े विस्तार से प्रभावक शब्दों में यह पुराण वर्णन करता है। यहां परम वैष्णव रुक्मांगद राजा का उल्लेख है जिन्होंने अपने राज्य में आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष वय वाले व्यक्तियों के लिए आदेश जारी कर रखा था कि इनमें जो एकादशी का व्रत नहीं करेगा तो वह वध्य माना जायगा। स्मृतिचन्द्रिका (१२००–१२२५ ई०) ने एकादशी व्रत के माहात्म्य-सूचक अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है जिसमें पूर्वोक्त श्लोक[3] भी है। अपरार्क ने भी इसी माहात्म्य के दो श्लोक दिये हैं।

---

१. बलदेव उपाध्यायः आचार्य शंकर (प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग द्वितीय सं०, १९६३)

२. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्यायः भागवत सम्प्रदाय (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी पृष्ठ १५१-१५३)

३. यह श्लोक इस प्रकार है—

अष्ट वर्षाधिको मर्त्यं अशीति नाह पूर्यते ?।
यो भुङ्क्ते मामके राष्ट्रे विष्णोरहनि पापकृत्।
स मे वध्यश्च दण्डयश्च निर्वास्यो विषयाद् बहिः॥

नारदीयपुराण अग्नि तथा गरुड के समान समस्त विद्याओं का प्रतिपादन करने वाला विश्वकोश के समान एक महर्घ पुराण है। इन विद्याओं के प्रतिपादक किसी मान्य ग्रन्थ का संक्षेप यहां प्रस्तुत किया गया है। दार्शनिक विषयों के विवरण में यह महाभारत का विशेषभावेन ऋणी है। यह विषय नारदीयपुराण के पूर्वभाग ४२—४४, ४५ अध्यायों में उपलब्ध होता है (वेंकटेश्वर सं०) तथा महाभारत के शान्तिपर्व १७५–१८५, १८७–१८८, २११–२१२ अध्यायों में यही विषय इन्हीं श्लोकों में मिलता है। महाभारत में श्लोकों की संख्या ४३५ है तथा नारदीय में तत्समान श्लोकों की संख्या ४२८ है। दोनों के तारतम्य-परीक्षण से नारदीय नियतरूप से महाभारत का अधमर्ण है[1]।

नारदीय की रचना का काल अनुमेय है। नारदीय का एक पद्य (१।९।५०) किरातार्जुनीय के एक प्रख्यात पद्य के भाव को अभिव्यक्त करता है प्रायः उन्हीं शब्दों में—

अविवेको हि सर्वेषामापदां परमं पदम्।

—नार० १।९।५०

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम्।

—किरात० २।३०

नारदीय बौद्धों की तीव्र आलोचना करता है और बौद्ध मन्दिर में प्रविष्ट होने वाले ब्राह्मण के लिए सैकड़ों प्रायश्चित करने पर निष्कृति नहीं होती है—ऐसा प्रतिपादित करता है[2]।

स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत यह नारदीय वचन मुद्रित पुराण में इस प्रकार है—

यो न कुर्याद् वचो मेऽद्य धर्म्यं विष्णु-गतिपदम्।
स मे दण्ड्यश्च वध्यश्च निर्वास्यो विषयाद् ध्रुवम्॥

(उत्तरखण्ड २३।४१)

१. इस परीक्षण के लिए द्रष्टव्य बेडेकर महोदय का सुचिन्तित लेख 'The Identical Philosophical Texts in the Narada Purāna and the Mahabharata Their contents and significance.

—पुराण (पंचम खण्ड १९६३) पृष्ठ २८०–३०४

२. बौद्धालयं विशेद यस्तु महापद्यपि वै द्विजः
न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा प्रायश्चित्तशतैरपि।

बौद्धों के प्रति यह आलोचना का भाव सप्तमशती के धार्मिक वातावरण का स्पष्ट द्योतक है जब कुमारिलभट्ट ने अपने मीमांसा ग्रन्थों के द्वारा बौद्धों के मतं का प्रबल खण्डन कर उनकी तीव्र निन्दा की। लेखक की दृष्टि में यह पुराण इस प्रकार भारवि (षष्ठ शती) तथा कुमारिल (सप्तम शती) से अवान्तरकालीन होना चाहिये। फलतः ७०० ई०—९०० ई० के बीच में इसका रचना काल मानना सर्वथा उपयुक्त होगा।

(७) मार्कण्डेयपुराण

पुराणों में मार्कण्डेयपुराण अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका प्रधान कारण है कि इसके भीतर १३ अध्यायों में (८१अ०-९२अ०) में देवी माहात्म्य का प्रतिपादक बड़ा ही महनीय अंश है जिसमें देवी के त्रिविध रूप—महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती के चरित का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। इस विश्रुत आख्यान के अतिरिक्त मन्वन्तरों का विस्तृत विवरण इस पुराण का वैशिष्ट्य माना जा सकता है। औत्तम मनु का वर्णन ६९ अ०-७३ अ०, तामस का ७४ अ०, रैवत का ७५ अ०, चाक्षुष का ७६ अ०, वैवस्वत का ७७ अ०-७९ अ० तथा सावर्णि का ८० अ०—९३ अ० तक है और देवी माहात्म्य या सप्तशती सावर्णि मन्वन्तर के वर्णनावसर पर प्रकट किया गया है। इसमें पुराण के पञ्चलक्षण का विवरण प्रायः उपलब्ध होता है। पीछे दिखलाया गया है कि मार्कण्डेय (४७ अ०) सृष्टि-वर्णन के लिए विष्णुपुराण का अधमर्ण है। इस पुराण में वैदिक इष्टियों के महत्त्व की भी विशिष्ट सूचना है। उत्तम ने मित्रविन्दा नामक इष्टि द्वारा अपनी परित्यक्ता पत्नी को पाताल लोक से प्राप्त किया तथा स्वारस्वती इष्टि के द्वारा उस नाग कन्या के गूंगेपन को दूर किया जो इनकी पत्नी के साथ रहने से पिता-द्वारा अभिशप्त होने से गूंगी बन गई थी। सारस्वत सूक्तों के जप होने के कारण से यह इष्टि इस नाम से पुकारी जाती है। मार्कण्डेयपुराण का आरम्भ तो महाभारत-सम्बन्धी चार प्रश्नों के समाधान के लिए होता है। मार्क० में व्रत, तीर्थ या शान्ति के विषय में श्लोक नहीं हैं, परन्तु आश्रमधर्म, राजधर्म, श्राद्ध, नरक, कर्मविपाक, सदाचार, योग (दत्तात्रेय द्वारा अलर्क को उपदिष्ट), के विवरण देने में विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। इस पुराण में विद्वानों ने विश्लेषण से तीन स्तरों को खोज निकाला है—(१) अध्याय १-४२ जहाँ पक्षी वक्ता के रूप में कहे गये हैं, (२) ४३ अ० से लेकर अन्त तक जिसमें मार्कण्डेय और उनके शिष्य क्रौष्टुकि का संवाद वर्णित है; (३) सप्तशती (अ० ८१-९३ अ०) इसी खण्ड के

· बौद्धाः पाखण्डिनः प्रोक्ता यतो वेदविनिन्दकाः ॥

—नारदीय पूर्वार्ध, १५।५०-५२

भीतर एक स्वतन्त्र अंश मानी जाती है। ये तीनों आपस में असम्बद्ध होने पर भी एकत्र सन्निविष्ट हैं।

निबन्धकारों ने इस पुराण से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। कल्पतरु ने मोक्ष के प्रसंग में इस पुराण से लगभग १२० श्लोक योग-विषय में उद्धृत किये हैं जो प्रचलित पुराण में मिलते हैं। अपरार्क ने ८५ उद्धरण दिये हैं जिनमें से ४२ योग के विषय में तथा अन्य दानादि के विषय में हैं। मार्क० का ५४ अ० में (ब्रह्माण्ड के समान ही) कथन है कि सह्य पर्वत के उत्तर भाग में गोदावरी के समीप का देश जगत् में सर्वाधिक मनोरम है—लेखक की दृष्टि में इस पुराण के उद्गम स्थल के विषय में यह संकेत माना जा सकता है। यह पुराण प्राचीन पुराणों में अन्यतम माना जाता है और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से पर्याप्त रूप से नवीन तथ्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। इसे गुप्त काल की रचना मानने में किसी प्रकार की विप्रपत्ति नहीं हैं। जोधपुर से उपलब्ध दधिमती माता के शिलालेख में 'सर्वमंगलमाङ्गल्ये' (सप्तशती का प्रख्यात श्लोक) श्लोक उद्धृत है। इसका समय २८९ दिया गया है जिसे भंडारकर गुप्त संवत् मानते हैं (=६०८ ई०), परन्तु मिराशी इसे हि तद्भिन्न भाटिक संवत् का निर्देश मान कर इसका समय ८१३ ई० मानते हैं[1]। जो कुछ भी हो, यह पुराण ६०० ई० से प्राचीनतर है और ४००-५०० ई० के बीच माना जाना चाहिए। देवी के तीन चरितों का वर्णन देवी भागवत में भी आता है (५ स्कन्ध, ३२ अ०)। इन दोनों की तुलनात्मक समीक्षा से यही प्रतीत होता है कि मार्क० का देवी-माहात्म्य (सप्तशती) देवी-भागवत के एतद्-विषयक विवरण से निःसन्देह प्राचीन है। देवी भागवत का विवरण सप्तशती के ऊपर विशेषरूपेण आधृत है[2]।

(८) अग्निपुराण

वर्तमान 'अग्निपुराण' विभिन्न शताब्दियों में प्राचीन ग्रन्थों से सार संगृहीत कर निर्मित हुआ है और यही कारण है कि निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत इसके वचन यहाँ उपलब्ध नहीं होते। डा० हाजरा के पास 'वह्निपुराण' का हस्तलेख विद्यमान हैं जिसमें निबन्धकारों के अग्निपुराणीय वचन शतथः उपलब्ध होते हैं और इसी कारण वे उसे ही प्राचीन अग्निपुराण मानते हैं। प्रचलित

---

१. द्रष्टव्य मिराशी का लेख A lower limit for the date of the Devi-mahatmya (Purana Vol I. no 4 pp. 181-186)

२. इन दोनों की तुलना के निमित्त देखिये—पुराणम् (भाग ५, अंक १ जनवरी १९६३) पृ० ९०—११३।

अग्निपाञ्चरात्रों के द्वारा प्रतिसंस्कृत, वैष्णव पूजार्चा का माहात्म्यबोधक पुराण है जो विशेष प्राचीन तथा मौलिक पुराण नहीं है।

इस पुराण के विषय में ज्ञातव्य है कि यह लोक-शिक्षण के लिए उपयोगी विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है जिसे हम आजकल की भाषा में 'पौराणिक विश्वकोष' के अभिधान से पुकार सकते हैं। उद्देश्य यही है समस्त विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करना। इस उद्देश्य में ग्रन्थ पूर्णतया सफल हुआ है, क्योंकि उसने तत्तत् शास्त्रविषयक प्रौढ़ ग्रन्थों से सामग्री संकलित कर सचमुच इसे विशेष उपयोगी बनाया गया है। धर्मशास्त्रीय विषयों के संकलन के साथ ही साथ वैज्ञानिक विषयों का संग्रह भी बड़ा मार्मिक है। ऐसे विषयों में हैं—आयुर्वेद, अश्वायुर्वेद, गजायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद (२८२ अ०), गोचिकित्सा, रत्नपरीक्षा (२४६ अ०), धनुर्विद्या (२४९ अ०–२५२ अ०), वास्तुविद्या (४० अ०, ९३–९४ अ०, १०५–१०६ अ०), प्रतिमालक्षण (४९–५५ अ०), राजधर्म, काव्यविवेचन (३३७ अ०, ३४३–३४७ अ०) आदि, आदि। इन्हीं विद्याओं के विवरण से अग्नि पुराण के निर्माण काल का परिचय दिया जा सकता है। अग्निपुराण भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ है। फलतः इसे एकादश शती से प्राचीन होना चाहिए। उधर अग्निपुराण का अपना उपजीव्य ग्रन्थ है दण्डी का काव्यादर्श (सप्तम शती)। फलतः सप्तम शती से प्राक्कालीनता इस पुराण की स्वीकार नहीं की जा सकती। अतः अग्नि पुराण का रचनाकाल सप्तम-नवम शती के मध्य में कभी मानना सर्वथा समीचीन होगा।

मूल अग्निपुराण वह्निपुराण नाम से भी प्रख्यात था। स्कन्दपुराण के शिवरहस्य खण्ड का कथन है कि अग्नि की महिमा का प्रतिपादन अग्निपुराण का लक्ष्य है—यह वैशिष्ट्य प्रचलित अग्निपुराणों में न मिलकर वह्निपुराण में ही उपलब्ध होता है जिससे इसकी मौलिकता सिद्ध होती है। यह प्राचीन पुराण है जिसकी रचना का काल चतुर्थशती से अर्वाचीन नहीं माना जाता। अग्निपुराण में विहित तान्त्रिक अनुष्ठानों में कतिपय विशिष्ट अनुष्ठान वङ्गाल में ही उपलब्ध तथा प्रचलित है। इसलिए इसका उद्भव स्थान वङ्गाल का पश्चिमी भाग प्रतीत होता है[1]।

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० हाजरा के निबन्ध—

(क) Discovery of the genuine Agneya Purana (G. O. I. University of Baroda, Vol V, No, 4)

(ख) Studies of the Genuine Agneya Purana alias Vahni-Purana (Our Heritage Vol I–II)

(९) भविष्यपुराण

भविष्यपुराण का रूप इतना बदलता रहा तथा इतने नये-नये अंश उसमें जुटते रहे कि उसका मूल स्वरूप आज इन प्रतिसंस्कारों के कारण बिलकुल अज्ञेय है। पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इसके चार विभिन्न हस्तलेखों का निर्देश किया है जो आपस में नितान्त भिन्न हैं। वेंकटेश्वर से प्रकाशित भविष्य में इतनी नवीन बातें जोड़ी गई हैं कि इन प्रक्षेपों की इयत्ता नहीं। इसकी अनुक्रमणी नारदीय (१।१०० अ०) में, मत्स्य (५३।३०—३१) में तथा अग्नि (२७२।१२) में उपलब्ध होती है जो प्रचलित पुराणस्थ विषयों से मेल नहीं खाती। तथ्य तो यह है कि आपस्तम्भ के द्वारा उद्धृत होने से इसकी प्राचीनता निःसन्दिग्ध है, परन्तु इसके नाम के द्वारा प्रलोभित होकर लेखकों ने अपनी कल्पना का उपयोग कर इसका परिबृंहण खूब ही किया है। इसके चार पर्व हैं—ब्राह्म, मध्यम, प्रतिसर्ग तथा उत्तर। वायुपुराण भविष्य का निर्देश करता है।

> यान् सर्वान् कीर्तयिष्यामि भविष्ये पठितान् नृपान्।
> तेभ्यः परेत्र ये चान्ये उत्पत्स्यन्ते महीक्षितः॥
>
> —(९९।२६७)

परन्तु, यह निर्देश प्रचीन भविष्य के विषय में है, प्रचलित भविष्य के विषय में नहीं। वराहपुराण ने भी भविष्य का दो बार उल्लेख किया है जिसमें साम्ब के द्वारा इसके प्रतिसंस्कार की, तथा सूर्य देव की मूर्ति स्थापना की चर्चा है। बल्लाल सेन ने भविष्योत्तर को प्रामाणिक न होने से बिलकुल ही तिरस्कृत कर दिया है। अपरार्क लगभग १६० पद्य इससे उद्धृत करते हैं। अलबरुनी के द्वारा उद्धृत होने से प्रचलित भविष्य का समय १०म शती मानना कथमपि असङ्गत न होगा।

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण

प्रचलित ब्रह्मवैवर्त को हम प्राचीन पुराण मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इसका एक विशिष्ट कारण है।

(क) मत्स्य के अनुसार यह राजस पुराण है जिसमें ब्रह्मा की स्तुति की गई है।[1] स्कन्दपुराणीय 'शिवरहस्य' खण्ड के अनुसार यह पुराण सविता

(ग) डा० रामशंकर भट्टाचार्य—अग्निपुराणस्य विषयानुक्रमणी (काशी, १९६३) भूमिका भाग।

1. पद्मपुराण ब्रह्म० वै० को निश्चित रूप से 'राजस' मानता है—

> ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च।
> भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे॥
>
> —(आनन्दा० सं० उत्तरकाण्ड २६४।८४)

(सूर्य) का प्रतिपादक माना जाता था। मत्स्य के अनुसार इस पुराण का दानकर्ता ब्रह्मलोक में निवास करता है। इस प्रकार ब्रह्मलोक को ब्रह्मा के प्रतिपादक पुराण द्वारा उच्चतम माना जाना स्वाभाविक ही है।[1]

परन्तु प्रचलित ब्र० वैव० कृष्ण को परात्पर ब्रह्म मानता है और उनका निजी लोक गोलोक है जिसकी उपलब्धि वैष्णव भक्तों की एक परमाराध्य अभिलाषा है। इतना ही नहीं, इसमें ब्रह्मा की निन्दा भी यत्रतत्र पाई जाती है। इसलिए हम इस निष्कर्ष कर पहुँचने से पश्चात्पद नहीं होते कि किसी समय में ब्रह्मा-प्रतिपादक पुराण को वैष्णव लोगों ने अपने प्रभाव से अभिभूत कर उसे सर्वतः वैष्णव पुराण बना डाला है। राधासंवलित श्रीकृष्ण ही परमात्मरूप में यहाँ स्वीकृत हैं।

(ख) इसमें तान्त्रिक सामग्री की विपुलता पाई जाती है, विशेषतः प्रकृति तथा गणेश खण्ड में। तान्त्रिक अनुष्ठान का पुराण में संकलन अर्वाचीन काल की घटना है—नवम-दशम शती की। और यह वैशिष्ट्य मूलपुराण में न होकर उसके अवान्तरकालीन प्रतिसंस्कार में ही निविष्ट किया गया प्रतीत होता है।

(ग) स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि का चतुर्वर्ग चिन्तामणि, रघुनन्दन का स्मृतितत्त्व आदि निबन्धों में तत्तत् लेखकों ने ब्र० वै० से विपुल वचनों को उद्धृत किया है। वचनों की संख्या १५०० पंक्तियों के आसपास हैं, परन्तु प्रचलित ब्र० वै० में केवल ३० पंक्तियाँ ही इनमें से प्राप्य हैं—यह स्पष्टतः सूचित करता है कि प्रचलित ब्र० वै० मूल पुराण नहीं है।

---

१. मत्स्य के अनुसार 'राजस' पुराण में ब्रह्मा की ही स्तुति प्राधान्येन निविष्ट रहती है—'राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः' (मत्स्य ५३।६८)। इन्हीं दोनों वाक्यों की एकवाक्यता करने पर ब्र० वै० ब्रह्मा का प्रतिपादक पुराण मूलतः प्रतीत होता है। इस तथ्य का समर्थन इस बात से भी होता है कि ब्र० वै० पुराण का दाता ब्रह्मलोक में पूजित होता है—

> पुराणं ब्रह्मवैवर्तं यो दद्यान्माघमासि च।
> पौर्णमास्यां शुभदिने ब्रह्मलोके महीयते ॥
>
> —(मत्स्य ५३।३५)

स्कन्दपुराण (७।१।२।५३) में भी यही श्लोक उपलब्ध है। फलतः पुराणों की दृष्टि के मूल ब्र० वै० ब्रह्मदेव की स्तुति तथा माहात्म्य का प्रतिपादक पुराण निश्चित होता है। परन्तु प्रचलित्त ब्र० वै० में यह वैशिष्ट्य उपलब्ध नहीं होता।

(घ) कलकत्ते के एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में देवनागरी में लिखित दो हस्तलेख (सं० ३८२० तथा ३८२१) हैं जो पुष्पिका में 'आदि ब्रह्मवैवर्त-पुराण' नाम से निर्दिष्ट हैं। इनकी एक विशिष्टता तो यह है कि यह खण्डों में विभक्तनहीं है, प्रत्युत समग्र ग्रन्थ एक ही सूत्र में निबद्ध है। दूसरे इसमें श्लोकों की संख्याएँ प्रचलित ब्र० वैव० से न्यून हैं। यह आदि ब्र० वै० प्रचलित एतत्पुराण से निश्चयरूपेण प्राचीनतर है तथा उस नारदीयपुराण के अनुक्रमणी-प्रतिपादक अंश से भी प्राचीन है, क्योंकि नारदीय चार खण्डों में विभक्त प्रचलित ब्र० वै० से ही परिचय रखता है। नारदीय के अनुसार यहां श्लोकों की संख्या १८ सहस्र होनी चाहिए, जब आज इसमें २२ हजार (बंगवासी सं०) तथा २५ हजार (वेंकटेश्वर सं०) उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि नारदीय की अनुक्रमणी-रचना से अनन्तर भी इसमें तीन हजार से लेकर पाँच हजार तक श्लोक जोड़े गये हैं।

निष्कर्ष यह है कि चार खण्डों में विभक्त प्रचलित ब्र० वै० मूल प्राचीन पुराण नहीं है, प्रत्युत्त अवान्तर विषयों तथा श्लोकों से समन्वित मध्ययुगीय पुराण है। ब्रह्मा की महिमा प्रतिपादक मूल ब्र० वै० का यह प्रतिसंस्कृत वैष्णव रूप है जहाँ कृष्ण की अपेक्षा राधा की ही महिमा सर्वातिशायिनी है।

इस पुराण के उद्गमस्थल का निर्देश ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से किया जा सकता है। यह पुराण बंगाल के रीति-रस्मों, विश्वासों तथा आचार-व्यवहारों से विशेष रूपेण परिचय रखता है तथा उनका वर्णन करता है। ब्रह्मखण्ड के दशम अध्याय में संकर जातियों की उत्पत्ति का विशिष्ट प्रसंग आता है। यहां म्लेच्छ जाति का निर्देश है (१०।१२०) जो मुसलमानों को ही निर्देश करता है। उसके अनन्तर यह श्लोक भी अपने उद्गम प्रदेश की स्पष्ट सूचना देता है—

म्लेच्छात् कुविन्दकन्यायां जोला जातिर्बभूव ह। (१०।१२१)

जोला ('जुलाहा' शब्द का बंगीय रूप) म्लेच्छ (अर्थात् मुसलमान) से कुविन्द (बुनकार) की कन्या में उत्पन्न हुआ अर्थात् वह मुसलमान ही जात्या है। यह वङ्गाल की स्पष्ट मान्यता तथा दृढ़ विश्वास है। अश्विनीकुमार के वीर्य से विप्रकन्या में 'वैद्य' की उत्पत्ति होती है (१०।१२३)—यह भी बंगाल की ही मान्यता है जहाँ वैद्य जाति इसीलिए ब्राह्मणों से कुछ न्यून सामाजिक प्रतिष्ठा में मानी जाती है। इतना ही नहीं, बंगाल के लोक-प्रचलित देवी-देवता की यहाँ पूजा—अर्चा का विशेष विधान है। ऐसी देवियों में षष्ठी, मंगल-चण्डी तथा मनसा देवी का विशिष्ट स्थान है। षष्ठी देवी की उत्पत्ति प्रकृति-खण्ड के ४३ अध्याय में, मंगलचण्डी की ४४ अ० में, तथा मनसा (= नाग

देवी) की उत्पत्ति ४५ अ० में तथा उनका पूजाविधान ४६ अ० में है। इन तीनों देवियों की पूजा-अर्चा का भौगोलिक क्षेत्र काशी से पूरब का प्रदेश (भोजपुर) भी है,[1] यद्यपि बंगाल में इनकी ख्याति अधिक है और मध्ययुग के अनेक बँगला काव्यों में—जिन्हें **मंगल** काव्य की आख्या से पुकारते हैं—इनसे सम्बद्ध कथायें विस्तार से वर्णित हैं। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ब्रह्मवैवर्त की अपनी विशिष्ट उद्गमभूमि बङ्गाल ही है।

इसका समय निरूपण भी इन्हीं वर्णनों के आधार पर किया जा सकता है। राधा की विशद पूजा तथा अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन इस पुराण का समय नवम-दशम शती से प्राचीन सिद्ध नहीं होने देता। राधावल्लभी सम्प्रदाय का प्रभाव इस राधोपासनापरक पुराण के ऊपर मान कर बहुत से विद्वान् तो इसे १५ वीं शती से पूर्ववर्ती नहीं मानते। म्लेच्छों का निर्देश करने वाला अंश तो मुसलमानों के आगमन के समय तक इस पुराण को खींच लाता है। यह समय-निर्देश प्रचलित ब्र० वै० के विषय में है। आदि ब्र० वै० तो निःसन्देह एक प्राचीन रचना है[2]।

(११) लिङ्गपुराण

लिङ्गपुराण की श्लोक संख्या इसी पुराण (२।५) में दी गयी है एकादश सहस्र श्लोक (अत्रैकादश-साहस्रैः कथितो लिङ्गसम्भवः) तथा नारदीयपुराण (१०२ अ०) के अनुसार भी यही संख्या निर्दिष्ट है। पूर्वार्ध (१०८ अ०) तथा उत्तरार्ध (५५ अ०) में विभक्त शिवपूजा का प्रधान प्रतिपादक यह लिङ्गपुराण निबन्धकारों में पर्याप्तरूपेण प्रसिद्ध रहा है। ९२ अध्याय में काशी तथा उससे सम्बद्ध नाना तीर्थों का विस्तृत विवरण काशी की भौगोलिक स्थिति की जानकारी के लिए भी उपादेय है। इस अध्याय में काशी के उद्यानों का बड़ा ही चमत्कारी साहित्यिक वर्णन नाना छन्दों में दिया गया है (१२-३२ श्लोक)। उस युग में यह पाशुपतों का केन्द्र बतलाया गया है। अविमुक्त लिंग का ही प्राधान्य था जिस शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी गई है। कल्पतरु ने काशी सम्बन्धी इन श्लोकों में से अधिकांश को तीर्थखण्ड में उद्धृत किया है। अपरार्क ने छः श्लोकों को उद्धृत किया है शिवपूजा तथा ग्रहण के

---

१. षष्ठी देवी भोजपुर प्रान्त में छठी माता के नाम से पूजी जाती हैं और उनका काम बालकों की रक्षा करना है जैसा यह पुराण बतलाता है।

२. विशेष द्रष्टव्य पुराणम् (खण्ड ३, भाग १, जनवरी १९६१) में एतद्विषयक लेख (पृष्ठ ९२-१०१)। पृ० १००-१०१ की टिप्पणी अवलोकनीय है जिसमें आदि ब्र० वै० की प्राचीनता के प्रमाण दिये गये हैं।

अवसर पर स्नान के विषय में। दानसागर के अनुसार (पृ० ७, ६४ श्लो०) ६ हजार श्लोकों वाला एक दूसरा भी लिंगपुराण था जिसका उपयोग बल्लालसेन ने नहीं किया। सम्भवतः उस युग में दो लिंगपुराण थे—एक बड़ा ११ हज़ार श्लोकों वाला तथा दूसरा ६ हजार श्लोकों वाला।

यह पुराण शैव व्रत तथा अनुष्ठानों की जानकारी देने में बड़ा ही उपयोगी है। उत्तरार्ध के कई अध्याय गद्य में हैं तथा तान्त्रिक प्रभाव के सद्यः प्रतीक हैं। शैवदर्शन के भी अनेक तथ्य बिखरे पड़े हैं। उत्तरार्ध के १३ वें अध्याय में शिव की प्रसिद्ध अष्ट मूर्तियों के वैदिक नाम दिये गये हैं। जैसे पृथिव्यात्मक शिव मूर्ति का नाम है शर्व, जलीय मूर्ति है = भव; अग्नि मूर्ति = पशुपति; वायुमूर्ति = ईशान; आकाशमूर्ति = भीम; सूर्यमूर्ति = रुद्र, सोममूर्ति = महादेव; यजमान-मूर्ति = उग्र। प्रत्येक मूर्ति की पत्नी और एक पुत्र का भी नाम यहाँ दिया गया है। ९६ अ० (पूर्वार्ध) में शरभरूपधारी शिव का नरसिंह के साथ वार्तालाप वर्णन है (तुलना कीजिये शिवपुराण की तृतीय संहिता का १२ अ०)। ९८ अ० में विष्णुकृत 'शिवसहस्रनाम' है जिसमें शिव के नाम तो महत्वपूर्ण हैं, परन्तु वैदिक नामों का संग्रह यहाँ न्यून ही दृष्टिगोचर होता है। पाशुपत व्रत के स्वरूप तथा महिमा का विस्तरेण ख्यापन सिद्ध कर रहा है कि लिङ्ग-पुराण का विस्तार पाशुपत शैवों के सम्प्रदाय में हुआ। इस सम्प्रदाय का उदय तो द्वियीय-तृतीय शती में हो गया था, परन्तु विशेष अभ्युदय सप्तम-अष्टम शतियों में सम्पन्न हुआ। और लिङ्गपुराण के अविर्भाव काल का भी यही युग है।

इस तथ्य के पोषक कतिपय प्रमाण दिये जाते हैं। इस पुराण में अश्विनी से ही आरम्भ होने वाले नक्षत्रों का, मेषादि राशियों तथा सूर्यादि ग्रहों का उल्लेख मिलता है। अवतारों में बुद्ध तथा कल्कि के नाम निर्दिष्ट हैं जिससे इसकी रचना सप्तमशती से प्राक्कालीन सिद्ध नहीं होती। अलबरूनी ने ही (१०३० ई०) लिङ्ग का निर्देश नहीं किया, प्रत्युत उससे परवर्ती लक्ष्मीधर भट्ट ने भी अपने 'कल्पतरु' में लिङ्गपुराण का बहुधः उद्धरण दिया है। लिङ्गपुराण के नवम अध्याय में योगान्तरायों का समग्र वर्णन व्यासभाष्य से अक्षरशः साम्य रखता है जिससे इस संग्रहकारी पुराण ने इस अंश को व्यासभाष्य से निश्चित रूप से ग्रहण किया है। व्यासभाष्य का समय षष्ठ शतक से कथमपि घट कर नहीं है। पुराण ने संग्रहबुद्धि से योग के अन्तराय विषयों का संकलन अक्षरशः योगभाष्य से किया है—व्याधि, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि का लिंगपुराण में प्रदत्त लक्षण योगभाष्य से सर्वात्मना लिया गया है[1]। फलतः यह

१. द्रष्टव्य पुराणम् द्वितीय भाग (१९६०) पृष्ठ ७६-८१, लिङ्गपुराणस्य कालनिर्णयः' शीर्षक संस्कृत लेख।

पुराण योगभाष्य से भले प्रकार से परिचय रखता है। लिङ्गपुराण का समय इस प्रकार अष्टम-नवम शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

(१२) वराहपुराण

यह समग्रतया वैष्णव पुराण है। इसमें २१७ अध्याय और ९, ६५४ श्लोक हैं, यद्यपि कतिपय अध्यायों में पूरा गद्य (८१–८३ अ०, ८६–८७ अ० तथा ७४ अ०) ही है। कतिपय अध्यायों में गद्य-पद्य का मिश्रण है। धर्मशास्त्र के विपुल विषयों का विवरण यहाँ प्रस्तुत है जैसे व्रत, तीर्थ, दान, प्रतिमा तथा तत्पूजा, आशौच, श्राद्ध आदि। कल्पतरु ने इस पुराण से बड़ी संख्या में श्लोकों को उद्धृत किया है। १५० श्लोक व्रत के विषय में तथा ४० श्लोक श्राद्ध के विषय में उद्धृत हैं। ब्रह्मपुराण (२२०।४४–४७) ने 'वाराहवचन' कहकर इस पुराण के दो श्लोकों को उद्धृत किया है। वराहपुराण से भविष्य-पुराण निश्चयरूप से प्राचीन है, क्योंकि वराह (१७७ अ० ३४ श्लोक तथा ५१ श्लोक) ने भविष्य से दो वचनों को उद्धृत किया है जिसमें दूसरा संकेत बड़ा महत्त्व रखता है—

> भविष्यत्-पुराण मिति ख्यातं कृत्वा पुनर्नवम्।
> साम्बः सूर्य-प्रतिष्ठां च कारयमास तत्त्ववित्॥

जिसमें साम्ब के द्वारा सूर्य के नवीन मन्दिर की स्थापना का उल्लेख मिलता है। वराहपुराण में तीन विशिष्ट स्थानों पर सूर्य मन्दिर की स्थिति निर्दिष्ट है—यमुना के दक्षिण में, बीच में कालप्रिय में (काल्पी, उत्तर प्रदेश में कानपुर के पास) तथा पश्चिम में मूलस्थान (मुल्तान) में। भविष्य में भी इसी प्रकार के सूर्य के तीन विशिष्ट मन्दिरों का उल्लेख मिलता है। वराह-पुराण में नचिकेता की कथा विस्तार से दी गयी है जिसका वर्णन पूर्व ही किया गया है (द्रष्टव्य पृष्ठ)

वराहपुराण वैष्णवता से आमूल आप्लुत है—इसका परिचय रामानुजीय श्रीवैष्णवमत के तथ्यों का विशद प्रतिपादन वैशद्य से प्रदान करता है। नारायण की आदिदेव रूप में प्रतिष्ठा, ज्ञान-कर्म का समुच्चय, सृष्टि प्रकार, भुवनकोश का प्रकार, श्रद्धानुष्ठान प्रक्रिया, श्राद्ध-वर्ज्य पदार्थ, प्रति द्वादशी को विष्णु पूजन की प्रक्रिया, नाना धातुओं से भागवत प्रतिमा का निर्माण तथा उनके प्रतिष्ठापन—आराधन के प्रकार, पाञ्चरात्र का प्रामाण्य—वराहपुराण में वर्णित ये समग्र विषय रामानुज सम्प्रदाय में स्वीकृत किये गये हैं। दोनों के सिद्धान्तों में विपुल साम्य का सद्भाव निश्चयेन आदर्शजनक है।[1]

---

१. इस समता के लिए द्रष्टव्य 'श्री वराहपुराणं श्री रामानुजसम्प्रदायश्च' शीर्षक सुचिन्तित संस्कृत लेख—पुराणम, चतुर्थवर्ष (१९६२) पृष्ठ ३६०-३८३।

इस पुराण की रचना का काल नवम-दशम शती में मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा।

(१३) स्कन्दपुराण

यह पुराणों में सब से बृहत्काय पुराण है। श्लोकों की संख्या ८१ हजार मानी गई है। दो प्रकार के संस्करण हैं—खण्डात्मक तथा संहितात्मक, जिनका उल्लेख पूर्व किया गया है। यद्यपि यह पुराण 'स्कन्द' नाम से प्रख्यात है, परन्तु स्कन्द का विशिष्ट सम्बन्ध इसके साथ नहीं मिलता। पद्मपुराण ५।५९।२ में स्कन्दपुराण का उल्लेख मिलता है। स्कन्दपुराण के प्रथम खण्ड में किरात के श्लोक की छाया मिलती है (सहसा विदधीत न क्रियाम् श्लोक की)। काशीखण्ड के २४ अ० से बाणभट्ट की शैली का अनुकरण करते हुए बड़ी सुन्दर परिसंख्या तथा श्लेष दिये गये हैं। दो-तीन उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

> विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित्
> नद्यः कुटिल-गामिन्यो न यत्र विषये प्रजाः ॥ ९ ॥
> बाणेषु गुणविश्लेषो बन्धोक्तिः पुस्तके दृढां
> स्नेहत्यागः सदैवास्ति यत्र पाशुपते जने ॥ १९ ॥
> यत्र क्षपणका एव दृश्यन्ते मलधारिणः
> प्रायो मधुव्रता एव यत्र चञ्चलवृत्तयः ॥ २० ॥

भौगोलिक क्षेत्रों का विस्तृत तथा विशद विवरण प्रस्तुत करना स्कन्द के विविध खण्डों का वैशिष्ट्य है इसके चतुर्थ खण्ड—काशीखण्ड—में काशीस्थ शिवलिङ्गों का दिशाओं के निर्देशपूर्वक विवरण पढ़ने से आज भी उन लिङ्गों की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अवन्तीखण्ड में नर्मदा नदी के तीरस्थ तीर्थों का एक विराट विवरण धार्मिक और भौगोलिक उभय प्रकार का महत्त्व रखता है। इसी खण्ड के अन्तर्गत रेवाखण्ड में सत्यनारायण की प्रख्यात कथा है जिसके स्वरूप का विवेचन ऊपर किया गया है।

प्राचीन निबन्ध ग्रन्थों में स्कन्द के वचन उद्धृत मिलते हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० स्मृति २।२९०) ने वेश्या के पद के विषय में इस पुराण को उद्धृत किया है। कृत्यकल्पतरु ने इस पुराण के बहुसंख्यक वचन उद्धृत किया है। काणे महोदय का कथन है कि कल्पतरु ने व्रत के विषय में तो केवल १५ श्लोक उद्धृत किये हैं, परन्तु तीर्थ के विषय में ९२, दान के विषय में ४४, नियतकाल के विषय में ६३, राजधर्म के बारे में १८ श्लोक उद्धृत किये हैं। दानसागर ने दान के विषय में ४८ श्लोक दिये हैं। स्कन्द के विशाल रूप पर ध्यान देने से कहना पड़ता है कि धर्मशास्त्रीय निबन्धों में इससे उद्धरण परिमाण

में कम ही हैं। इस पुराण में वेदसम्बन्धी सामग्री[1] पर्याप्तरूपेण विस्तृत है जो इसके रचयिता के अलौकिक वैदिक वैदुष्य का संकेत करती है।

यह इतना विस्तृत तथा विशाल है कि इसमें प्रक्षिप्त अंशों को जोड़ने के लिए पर्याप्त अवसर है। अतः समय का यथार्थ निरूपण असम्भव ही है। डा० हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल दरबार लाइब्रेरी में इस पुराण का एक हस्तलेख मिला है जिसका लेखन सप्तम शती की शैली में किया गया है।[2] सब प्रमाणों को एकत्र कर यह कहना अनुचित न होगा कि इसकी रचना सप्तम शती के पूर्वकालीन और नवम शती से उत्तरकालीन नहीं हो सकती। दोनों के बीच में सम्भवतः यह प्रणीत हुआ।

(१४) वामनपुराण

यह स्वल्पाकार वाले पुराणों में अन्यतम है। इसमें ९५ अध्याय हैं। इसने अपने १२ वें अध्याय में भिन्न पदार्थों में श्रेष्ठ वस्तुओं की जो वर्णना की है उससे इस पुराण के उदय-स्थान का परिचय मिलता है। यह कुरुक्षेत्र मण्डल में उत्पन्न हुआ था—ऐसा मानना सर्वथा उचित है। क्योंकि क्षेत्रों तथा तीर्थों में यह क्रमशः कुरु जाङ्गल तथा पृथूदक को सर्वश्रेष्ठ मानता है और दोनों वस्तुयें कुरुक्षेत्र में विद्यमान हैं—

> क्षेत्रेषु यद्वत् कुरु-जाङ्गलं वरं।
> तीर्थेषु तद्वत् प्रवरं पृथूदकम्॥
>
> —१२।४५

वामन अवतार के प्रतिपादक होने के कारण यह मूलरूप में वैष्णवपुराण है; परन्तु किसी समय में यह शैवरूप में परिणत कर दिया और आज इसका यही प्रचलित रूप है। फलतः शिवपार्वती का चरित्र यहां विस्तृतरूप से वर्णित है। पार्वती की घोर तपश्चर्या, वटुरूपधारी शिव से वार्तालाप, शिव से विवाह-आदि विषय यहाँ अलंकृत शैली में वर्णित हैं। वामन अपने वर्णनों में आलंकारिक चमत्कृति से मण्डित है और इसके ऊपर कालिदास का, विशेषतः विषयसाम्य के कारण कुमारसम्भव का, प्रभाव विशदरूप से अभिव्यक्त होता है। राजा वही जो प्रकृति का रंजन करता है कालिदास के 'राजा प्रकृति-

---

१. इसके संक्षिप्त प्रतिपादन के निमित्त द्रष्टव्य डा० रामशंकर भट्टाचार्य: इतिहास-पुराण का अनुशीलन (पृष्ठ २३८–२४६)

२. Catalogue of Nepal Palm-leaf Mss. पृष्ठ ५२।

रञ्जनात्' का ही भाव रखता है।[1] 'उमा' का नामकरण इसीलिए हुआ कि उनकी माता ने उन्हें तपस्या करने से निषेध किया (उ + मा)—यह भी कालिदास की प्रख्यात उक्ति का ही संकेत है।[2]

कालिदास के कुमारसम्भव का वामनपुराण के ऊपर प्रभाव बड़ा ही विस्तृत, गम्भीर तथा मौलिक है। पार्वती तथा वटु का सम्वाद वामनपुराण में कुमारसम्भव में उपस्थित सम्वाद से अक्षरशः मेल खाता है—अर्थ में ही नहीं, प्रत्युत शब्द में भी। अनेकत्र छन्द भी समान ही प्रयुक्त हैं।[3] एक दो दृष्टान्त पर्याप्त होगा—

वामन	कुमारसम्भव
कथं करः पल्लवकोमलस्ते। समेष्यते शार्वकरं ससर्पम् ॥ —५१।६३	अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः। करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत् प्रथमावलम्बनम् ॥ —५।६६
पुरन्ध्रयो हि पुरन्ध्रीणां। गतिं धर्मस्य वै विदुः ॥ —५२।१३	प्रायेणैवंविधे कार्ये। पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता ॥ —६।३२
जामित्रगुणसंयुक्तां । तिथिं पुण्यां सुमङ्गलाम् ॥ —५२।६०	तिथौ तु जमित्रगुणान्वितायाम् ॥ —७।१

१. ततो राजेति शब्दोऽस्य पृथिव्यां रञ्जनादभूत्। —वामन ४७।२४

तुलना कीजिये—

राजा प्रकृतिरञ्जनात्। —रघु० ४।१२;

राजा प्रजारञ्जन-लब्ध-वर्णः।
परन्तपो नाम यथार्थनामा ॥
—रघु० ६।२१

२. तपसो वारयामास उमेत्येवाब्रवीच्च सा।
—वामन ४७।२४

तुलना कीजिये—

उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा।
पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥
—कुमार० १।२६

३. विशेष साम्य के दृष्टान्तों के लिए द्रष्टव्य।
पुराणम् (रामनगर दुर्ग, वाराणसी) वर्ष ४, पृष्ठ १८९–१९२

शैव होने पर भी वैष्णव मत के साथ किसी प्रकार के विरोध या संघर्ष की भावना नहीं है। वर्णन सर्वत्र उदार, व्यापक तथा मौलिक हैं। कालिदास के काव्य द्वारा प्रचुरता से प्रभावित होने के कारण इसकी रचना का काल कालिदासोत्तर युग है अर्थात् ६०० ई०—९०० ई० बीच वामनपुराण का आविर्भाव मानना उचित है।

वामनपुराण के अध्यायों के विषय में हस्तलेखों का साक्ष्य बड़ी विभिन्नता प्रस्तुत करता है। नारदपुराण (   ) में वर्णित विषयानुक्रमणी के आधार पर वामन के दो खण्ड बतलाये गये हैं—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। वेंकटेश्वर से प्रकाशित सं० में पूर्वार्ध का विषय तो यथार्थतः मिल जाता है, परन्तु उसमें उत्तरार्ध का सर्वथा अभाव है। उत्तरार्ध में माहेश्वरी, भगवती, गौरी तथा गाणेश्वरी—नामक चार संहिताओं का चार सहस्र श्लोकों में अस्तित्व न तो मुद्रित प्रति में है और न उसके नाना हस्तलेखों में ही। मुद्रित प्रति ६ सहस्र श्लोकों की है (वास्तव संख्या ५८१५ श्लो०) जो ९५ अध्यायों में विभक्त हैं।

काशीराज निधि के निर्देश में सम्पादित हस्तलेखों का परीक्षण चार प्रकारों का द्योतक है—(१) देवनागरी हस्तलेखों के साक्ष्य पर ८३ तथा ८४ अध्यायों को सम्मिलित करने पर ९४ अ० हैं; (२) तेलुगु हस्तलेखों में केवल ८९ अ० ही हैं। पाँच अध्याय (जिनमें कतिपय तीर्थ तथा चार विष्णुस्तोत्र हैं) बिल्कुल छोड़ दिये गये हैं; (३) शारदा हस्तलेख में ८५ अ० केवल वर्तमान है; (४) अड्यार तथा शृंगेरी के हस्तलेखों में अध्यायों की संख्या सबसे कम केवल ६७ ही है। इस प्रकार अध्यायों की बड़ी विभिन्नता होने से वामन के मूलरूप का निर्णय करना कठिन है। नारदीय के अनुसार दश सहस्र श्लोकों का परिमाण तो कथमपि सम्पन्न नहीं होता[1] (त्रिविक्रमचरित्राढ्यं दशसाहस्रसंख्यकम्) न मुद्रित प्रति में, और न हस्तलेखों में भी।

(१५) कूर्मपुराण

इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्ध (५३ अध्याय) तथा उत्तरार्ध (४६ अध्याय)। आजकल यह पाशुपत मत का विशेषरूप से वर्णन करता है, परन्तु डा० हाजरा की मान्यता है कि यह प्रथमतः पाञ्चरात्र मत का प्रतिपादक पुराण था। ईश्वर के विषय में इसका कथन है कि वह एक है (उत्तरार्ध ११।१९२।१५), परन्तु उसने अपने को विभक्त किया दो रूपों में नारायण और ब्रह्मा रूप में (१।९।४०) अथवा विष्णु और शिवरूप में (१।२।९५) अथवा तीन

१. द्रष्टव्य श्री आनन्दस्वरूप गुप्त का लेख On the adhyayas of the Vamana Purana—Purana (Vol V. 1963, pp. 360—366)

रूप में (१।१०।७७) ब्रह्मा, विष्णु और हर के रूप में। महेश्वर की शक्ति का भी विशिष्ट वर्णन मिलता है (पूर्वार्ध १२ अ०)। यह शक्ति चार प्रकार की मानी गई है— शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति। ये ही तन्त्रशास्त्र में 'कला' के नाम से संकेतित की जाती हैं। इन्हीं के कारण परमेश्वर 'चतुर्व्यूह' कहा जाता है—ठीक पाञ्चरात्रों के समान (पूर्वार्ध १२।१२)। इसी अध्याय में हिमालय-कृत देवी का सहस्रनाम भी वर्णित है। इसके उत्तरार्ध में दो गीतायें हैं—ईश्वरगीता (अ० १-११) इसमें शैवदर्शन-विषयक तत्त्वों का विवेचन है जिसमें (११ अ० में) पाशुपत योग का विशद और महत्त्वपूर्ण विवरण है। व्यासगीता (१२ अ०-३४ अ०) में वर्णाश्रम के धर्मों का तथा सदाचार का विशद प्रतिपादन है। भोजन के प्रकार का वर्णन आधुनिकता से संवलित है। कूर्म पुराण की ब्राह्मी संहिता के ही स्वरूप का यह विवेचन हैं, अन्य संहितायें तो आज उपलब्ध नहीं होतीं। परन्तु नारदीय पुराण में इन तीनों—भागवती, सौरी और वैष्णवी-संहिताओं के भी विषय का संक्षेप दिया गया है जिससे उनका स्वरूप भली भाँति समझा जा सकता है।

निबन्धग्रन्थों में कूर्म के उद्धरण अधिक नहीं मिलते। पद्मपुराण के पाताल खण्ड में (१०२।४१-४२) में कूर्म पुराण का नाम उल्लिखित है तथा एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है—

> **कौर्मं समस्तपापानां नाशनं शिवभक्तिदम्।**
> **इदं पद्यं च शुश्राव पुराणज्ञेन भाषितम्॥**
> **ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः।**
> **कौर्मं पुराणं श्रुत्यैव मुच्यते पातकात्ततः॥**

कल्पतरु ने श्राद्ध के विषय में दो श्लोकों को उद्धृत किया है (पृ. ११९) तथा अपरार्क ने कूर्म के तीन पद्य दिये हैं और ये तीनों उपवास के विषय में है। स्मृतिचन्द्रिका ने एक सौ वचन कूर्म से उद्धृत किया है जिनमें से लगभग ९४ श्लोक आह्निक के विषय में है।

पाशुपत मत का प्राधान्य होने से यह पुराण षष्ठ-सप्तक शती की रचना है जब पाशुपत मत का उत्तर भारत में, विशेषतः राजपूताना और मथुरा मण्डल में, प्राधान्य था।

(१६) मत्स्यपुराण

मत्स्यपुराण पुराण-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है प्राचीनता की दृष्टि से तथा वर्ण्य विषय की व्यापकता की दृष्टि से इसीलिए वामनपुराण

मत्स्य को पुराणों में सर्वश्रेष्ठ अंगीकार करता है (पुराणेषु तथैव मात्स्यम्)। इसके देश तथा काल के निर्णय में अनेक मत हैं। प्रथमतः मत्स्य के उत्पत्ति-स्थल का विचार कीजिये।

(१) देशविचार

सब से विचित्र मत है पार्जीटर का जो आन्ध्रप्रदेश को इसका उदय स्थल मानते हैं। उनकी धारणा है कि मत्स्य में कलिवंश का वर्णन आन्ध्रनरेश यज्ञश्री के राज्यकाल में द्वितीयशती के अन्त में जोड़ा गया। परन्तु ग्रन्थ की अन्तरङ्ग परीक्षा इस मत की संपुष्टि नहीं करती। मत्स्य पुराण के अनुशीलन से नर्मदा नदी की असामान्य प्रतिष्ठा तथा कीर्ति की गाथा अभिव्यक्त होती है :—

(क) प्रलय के समय नाश न होने वाले वस्तुओं में नर्मदानदी यहाँ अन्यतम मानी गई है—

> एकः स्थास्यसि देवेषु दग्धेष्वपि परन्तप।
> सोमसूर्यावहं ब्रह्मा चतुर्लोकसमन्वितः॥
> नर्मदा च नदी पुण्या मार्कण्डेयो महानृषिः।
> भवो वेदाः पुराणाश्च विद्याभिः सर्वतो वृतम्॥
>
> —मत्स्य २।१२-१४.

मत्स्य का यह वचन मनु से देवों को दग्ध हो जाने पर बचने वाले पदार्थों की सूची देता है जिसमें पुण्यनदी नर्मदा का उल्लेख है। सामान्यतः गंगा पुण्यतमा नदी होने से प्रलयकाल में अपनी स्थिति अक्षुण्ण बनाये रहती है—यह वर्णन आश्चर्य नहीं प्रकट करता ; परन्तु नर्मदा नदी को प्रलय में लुप्त न होने का संकेत ग्रन्थकार का विशेष पक्षपात इस नदी को ओर प्रकट कर रहा है।

(ख) नर्मदा का माहात्म्य ९ अध्यायों में (१८६-१९५ अ०) बड़े विस्तार से दिया गया है। मत्स्यपुराण का लेखक नर्मदा नदी के तीरस्थ छोटे छोटे स्थानों से भी अपना परिचय अभिव्यक्त करता है जो किसी दूरस्थ तथा उस स्थान से अपरिचित लेखक के लिए नितान्त असम्भव होता। एक पूरे अध्याय (१८८ अ०) में नर्मदा और कावेरी का संगम वर्णित है। यह कावेरी दक्षिण भारत की वह प्रसिद्ध नदी नहीं है, प्रत्युत मध्य भारत में ओंकारेश्वर के समीप नर्मदा से संगत होने वाली एक क्षुद्र नदी है। यह संगम गङ्गा-यमुना के समान अत्यन्त पवित्र तथा सद्यः स्वर्गप्रापक बतलाया

गया है।[1] नर्मदा तटवर्ती छोटे छोटे स्थानों से भी यह पुराण परिचित है। यथा 'दशाश्वमेध' का उल्लेख (१९२।२१) मिलता है, जो भड़ोच में एक पवित्र घाट है; भारभूति (१९३।१८) एक छोटा तीर्थ है जो नर्मदा के उत्तरी तट पर भड़ोच से आठ मील दूर 'भाड़भूत' के नाम से आज विख्यात है। इसी प्रकार कोटितीर्थ की स्थिति इसी नाम से है। इन छोटे छोटे तीर्थों का वर्णन ग्रन्थकार के नर्मदा प्रदेश से एकदम गाढ़ तथा घनिष्ठ परिचय का द्योतक है

इन प्रमाणों के आधार पर मत्स्य पुराण का रचना-क्षेत्र नर्मदा प्रदेश मानना नितान्त उपयुक्त तथा प्रामाणिक है।[2]

(२) कालविचार

मत्स्यपुराण में धर्मशास्त्रीय विषयों का बाहुल्य है। इस पुराण ने मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति से भी अनेक श्लोकों को आत्मसात् कर लिया है। शिव तथा विष्णु—इन दोनों देवों के बीच मत्स्य संतुलित वर्णन करता है। विष्णु तथा शिव दोनों के अवतारों का वर्णन समान भाव से बहुसंख्यक श्लोकों में करता है। काणे महोदय ने निबन्धों में उद्धृत मत्स्य के श्लोकों का विवरण दिया है (हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, ५ खण्ड, २ भाग, पृ० ८९९)। मत्स्यपुराण का एक संक्षेप भी **स्वल्प मत्स्य पुराण** के नाम से विख्यात है जिसका कुछ नमूना 'पुराणम्' में प्रकाशित (खण्ड ४, १९६३) है। मत्स्यपुराण में प्राचीन वैदिक तथा संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों का निर्देश मिलता है जिनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है।[3] कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक तथा मत्स्य के उर्वशी उपाख्यान (२४ अध्याय) में आश्चर्यजनक साम्य है। दोनों में घटनाचक्र की समानता सचमुच आश्चर्यकारिणी है। यह निर्णय करना कठिन है कि कौन किसका अधमर्ण है ? कालिदास मत्स्य का अथवा मत्स्य कालिदास का ? मत्स्य प्राचीन पुराणों में अन्यतम

---

१. गङ्गायमुनयोर्मध्ये यत् फलं प्राप्नुयान्नरः ।
कावेरीसङ्गमे स्नात्वा तत् फलं तस्य जायते ॥

—१८८।१९

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य S. G. Kantawala : Home of the Matsya Purana in Purāna (Vol III, no. I Jan. 1961) pp. 115—119.

३. द्रष्टव्य Dr. Raghawan : Gleanings from the Matsya purana (Purana, Vol I pp. 80–88)

है। प्रक्षेपविहीन सर्वथा सुरक्षित पुराणों में से मत्स्य का स्थान निःसन्देह उन्नत है—यह लेखक की दृढ़ मान्यता है। इसका आविर्भावकाल २०० ई० से लेकर ४०० ई० के बीच मानना चाहिए। उक्त अधमर्णता का निर्णय कालिदास के आविर्भावकाल के ऊपर आश्रित हैं। यदि कालिदास गुप्त युग में उत्पन्न हुए, तो निश्चित रूप से उन्होंने मत्स्यपुराण से अपने उक्त नाटक की कथावस्तु को संगृहीत किया। अतः मत्स्य पु० के वे ही अधमर्ण हैं। वर्तमान लेखक इससे विपरीत मत रखता है।

(१७) गरुडपुराण

गरुडपुराण अग्निपुराण के समान ही समस्त उपादेय विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करता है और इसलिए इसे हम 'पौराणिक विश्वकोष' की संज्ञा से पुकार सकते हैं। इस पुराण के दो खण्ड हैं (१) पूर्वखण्ड (२२९ अध्याय) तथा (२) उत्तर खण्ड में (३५ अ०)। पूरे ग्रन्थ की अध्याय संख्या २६४ है। उत्तर खण्ड 'प्रेतकल्प' के नाम से प्रख्यात है और मरणोत्तर प्रेत की गति विधि, कर्मजन्य स्थानप्राप्ति आदि यावत् प्रेतसम्बन्धी विषयों का यहाँ संकलन है। पूर्वखण्ड में नाना विद्यासम्बन्धी विवरण कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार में दिये गये हैं। अपने स्वरूप के अनुसार यह पुराण महाभारत, रामायण तथा हरिवंश आदि मान्य ग्रन्थों का सार प्रस्तुत करता है।

धर्मशास्त्रीय विषयों का यहाँ विवरण यथेच्छ मात्रा में है। यहाँ वर्णधर्म का विवरण (९३ अ०–१०६ अ० पर्यन्त) याज्ञवल्क्यस्मृति पर आधृत है। इसमें याज्ञ० के राजधर्म और व्यवहार प्रकरण संकलित नहीं है। स्मृति के अनेक वचन ईषत् पाठान्तर के साथ यहाँ संकलित किये गये हैं। कलियुग में विशेष उपादेय (कलौ पाराशरस्मृतिः) पराशर स्मृति का भी सार १०७ अ० में दिया गया है केवल ३८१ लोकों में। नारद पुराण की सूची में यह अंश कथित नहीं हुआ है जिससे प्रतीत होता है कि यह अंश पीछे जोड़ा गया है। गरुड पुराण १४६ अ०-१६७ अ०) ज्वर, रक्तपित्त, अतिसार आदि रोगों के निदान का वर्णन करता है तथा १६८ अ०–१७२ अ० तक चिकित्सा का भी विवरण देता है।

विचारणीय है कि गरुड किस आयुर्वेद ग्रन्थ का सारसंकलन कर रहा है? वाग्भट की 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता' से ही गरुडपुराण ने पूर्वोक्त अध्यायों की सामग्री संकलित की है। दोनों में इतनी अधिक अक्षरशः समता है कि गरुड की अधमर्णता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। गरुड ने इतना ही

किया है कि कहीं-कहीं मूलग्रन्थ के एक अध्याय को दो या तीन अध्यायों में विभक्त कर दिया है। उदाहरणार्थ—

गरुड—परिच्छेद		वाग्भट
१५२, १५३	=	अध्याय ३
१५४, १५५	=	„ ४
१५६, १५७, १५८	=	„ ५
१५९	=	„ ६

तिब्बती में 'अष्टाङ्गहृदय संहिता' का अनुवाद मिलता है जिससे वाग्भट द्वितीय का समय अष्टम तथा नवमशती के मध्य में माना जाता है। इसका अनुसरण करने वाले गरुडपुराण का भी यही समय होना चाहिए। अतः यह नवम शती से पूर्वकालीन नहीं हो सकता। गरुडपुराण का उल्लेख 'तार्क्ष्य-पुराण' के नाम से बल्लालसेन ने 'दानसागर' में किया है। अलबरुनी ने इसका नामोल्लेख किया है तथा भोजराज ने अपने 'युक्तिकल्पतरु' में गरुड० से श्लोक उद्धृत किये हैं। फलतः यह पुराण १००० ईस्वी के उत्तरकालीन नहीं हो सकता। अष्टम—नवम शती में गरुड का निर्माण मानना अप्रासङ्गिक नहीं होगा[1]।

गरुडपुराण से १०८ अ० से लेकर ११५ अ० तक सामान्य व्यावहारिक नीति और विशिष्ट राजनीति के विषय में श्लोक संगृहीत किये गये हैं। यह अंश कहीं 'नीतिसार' के नाम से और कहीं 'बृहस्पति संहिता' के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इस अंश के मूल का अन्वेषण डा० लुर्ड्विक स्टर्नबाख नामक अमेरिकन विद्वान् ने बड़े परिश्रम और अनुसन्धान से किया है। उनके अनुशीलन का निष्कर्ष यह है कि यह बृहस्पति संहिता 'चाणक्यराजनीति-शास्त्र' नामक ग्रन्थ में समुल्लिखित चाणक्यनीतिवाक्यों के साथ एकाकार है। संहिता के श्लोकों की संख्या ३९० है। इनमें से ३३४ श्लोक चाणक्यराजनीति-शास्त्र के श्लोकों के साथ समता रखते हैं; ११ श्लोक चाणक्य के द्वारा

---

१. द्रष्टव्य इंडियन हिस्टारिकल क्वाटरली, कलकत्ता, जिल्द ६, १९३०, पृ० ५५३-५६०

प्रणीत अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं और ५ श्लोक अन्य संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। इस प्रकार 'बृहस्पतिसंहिता' के केवल ३९ श्लोक ही ऐसे हैं जिन्हें हम गरुडपुराणकार की निजी रचना मान सकते हैं। एक बात और भी ध्यातव्य है। इनमें से ३१ श्लोक ऐसे भी हैं जो चाणक्य के ग्रन्थों में तथा इतर पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं। 'चाणक्यराजनीतिशास्त्र' चन्द्रगुप्तमौर्य के विश्रुत मन्त्री चाणक्य की ही निःसन्दिग्ध रचना है—यह कथन विश्वास-योग्य नहीं है। तथ्य यह है कि इधर-उधर विकीर्ण नीतिविषयक श्लोक राजनीति में अलौकिक पाटव के कारण सम्मान्य चाणक्य की रचना के रूप में कल्पित कर लिये गये हैं और ऐसे ही श्लोकों का संग्रह ग्रन्थ है चाणक्यराजनीतिशास्त्र।

हम निश्चितरूपेण जानते हैं कि यह चाणक्य-राजनीतिशास्त्र तिब्बती तंजूर में तिब्बती भिक्खु 'रिन-चेन-जोन-पो' के द्वारा अनूदित कर संगृहीत किया गया है। इस भिक्खु का जन्म ९५५ ई० में हुआ था जिससे इस तथ्य पर हम पहुंच सकते हैं कि कम से कम १०म शती में यह ग्रन्थ संगृहीत हुआ था। उस युग में यह नितान्त प्रख्यात था तथा समादृत था। इसीलिए 'गरुडपुराण' में इसे संगृहीत करने की आवश्यकथा प्रतीत हुई। चाणक्य के नाम से प्रख्यात अनेक नीतिवाक्य केवल पुराणों में ही उपलब्ध नहीं होते, प्रत्युत बृहत्तर भारत के साहित्य में भी—जावा, बरमा, तिब्बत, सिंहल आदि देशों के पाली साहित्य में भी—यह सुरक्षित मिलता है। यह चाणक्यनीति की व्यावहारिकता, अनुभवप्रवणता तथा सार्वभौम प्रभाव का विस्पष्ट निदर्शन है। फलतः गरुडपुराण की इस 'बृहस्पतिसंहिता' की रचना नवमशती से भी प्राचीन माननी चाहिये। तिब्बत में जाने तथा वहां अनूदित किये जाने के लिए यदि एक शताब्दी का समय हम मानें, तो 'चाणक्यराजनीति शास्त्र का संकलन-काल अष्टम शती में माना जा सकता है। और गरुडपुराण में उसका संग्रह उस युग से थोड़ा हटकर होना चाहिये—नवमी शती के आसपास[1]। डा० हाजरा ने गरुडपुराण के उद्भव स्थान को मिथिला में माना है[2]।

---

१. डा० स्टेनबाख ने 'बृहस्पतिसंहिता' के समस्त श्लोकों की तारतम्य परीक्षा 'चाणक्यराजनीतिशास्त्र' की मुद्रित और हस्तलिखित प्रतियों के पद्यों के साथ बड़े परिश्रम से की है। इसके लिये द्रष्टव्य उक्त लेखक का एतद्विषयक निबन्ध 'Canakya's Aphorisms In puranas'...पुराणम् (खण्ड ६, सं० १ जनवरी, १९६४) पृष्ट ११३—१४६।

२. पुराण (चतुर्थ खण्ड) पृ. ३५४-३५५

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण

पुराणों में यही अन्तिम पुराण है। वायु के समान इसके चार विभाग हैं जो तत्समान ही नाम धारण करते हैं। इनमें सबसे बड़ा भाग है तृतीय पाद जिसके आरम्भ में श्राद्ध का विषय बड़े ही साङ्गोपाङ्ग के रूप में, मुख्य तथा अवान्तर प्रभेदों के साथ वर्णित है (९–२० अ० तथा ८७९ श्लोको पें)। इसके अनन्तर परशुराम की कथा भी बड़े वैशद्य के साथ यहाँ प्रतिपादित है (२१–४७ अ० तथा १५५० श्लोकों में। पुराणकार परशुराम तथा कार्तवीर्य हैहय के संघर्ष को बड़ा महत्त्व देता है और उसने इस कथा के विस्तार के निमित्त लगभग डेढ़ हजार श्लोकों का उपयोग किया है। तदनन्तर राजा सगर की तथा राजा भगीरथ द्वारा गंगा के आनयन की कथा दी गई है (४८–५७ अ०)। सूर्य तथा चन्द्रवंश के राजाओं का विवरण ५९ अ० में दिया गया है। निबन्ध-ग्रन्थों में ब्रह्माण्ड के श्लोक मिलते हैं। मिताक्षरा में केवल एक श्लोक मिलता है, अपरार्क में ७५ (जिनमें से ४६ श्राद्ध के विषय में है), स्मृतिचन्द्रिका में ५०, परन्तु कल्पतरु में इनकी अपेक्षा कम श्लोक ही उद्धृत हैं—१६ श्राद्ध के विषय में और १६ मोक्ष के पिषय में। यह पुराण शब्दों की निरुक्तियां देने में बड़ी अभिरुचि रखता है। एक दो निरुक्तियाँ यहाँ नीचे दी जाती हैं।

देश—[1]सह्य पर्वत के उत्तर में प्रवाहित होने वाले गोदावरी नदी वाला प्रदेश भारतवर्ष में समधिक रमणीय तथा मनोरम बतलाया गया है जिससे अनुमान होता है कि ब्राह्मण के निर्माण का यही विशिष्ट देश था।

ब्रह्माण्ड निश्चयेन परशुराम की महिमा तथा गौरव का प्रतिपादन असाधारण ढंग से करता है। परशुराम का सम्बन्ध भारतवर्ष के पश्चिमी तटवर्ती सह्यादि प्रदेश से हैं। परशुराम जी प्रथमतः महेन्द्र पर्वत (गंजम जिले में पूरबी घाट की आरम्भिक पहाड़ी) पर तपश्चर्या करते थे। समग्र पृथ्वी को दान में दे डालने पर उन्हें अपने लिए भूमि खोजने की जरूरत पड़ी। उन्होंने समुद्र से वह भूमि माँगी जो सह्याद्रि तथा अरब सागर के

---

१. सह्यस्य चोत्तरान्तेषु यत्र गोदावरी नदी।
पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः॥
तत्र गोवर्धनं नाम पुरं रामेण निर्मितम्।

—ब्रह्माण्ड २।१६।४३–४४

गोवर्धन के लिए द्रष्टव्य काणेः हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, भाग ४
पृ० ७१०, टि० १६१८

मध्य में सँकरी जमीन है। वही कोंकण है जो चित्पावन ब्राह्मणों का मूल स्थल है। इस प्रकार परशुराम से विशेषभावेन सम्बद्ध होने से ब्रह्माण्ड पुराण का उदय-स्थल सह्यादि तथा गोदावरी प्रदेश में होना सर्वथा सुसंगत है।

काल—वायु के साथ ब्रह्माण्ड की समधिक समता दोनों के किसी एक मूल की कल्पना को अग्रसर करती है। डा० किरफेल ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में इन दोनों पुराणों के साम्य रखने वाले अध्यायों का विशेषरूप से विश्लेषण किया है। इन दोनों पुराणों के पार्थक्य का युग चतुर्थ शती के आसपास माना गया है। अर्थात् अनुमानतः ४०० ईस्वी के आसपास ब्रह्माण्ड ने अपना यह विशिष्ट वैयक्तिक रूप ग्रहण किया। प्रचलित पुराण का समय अन्तरंग परीक्षण के आधार पर निश्चित किया गया है। परशुराम का चरित्र यहाँ २८ अध्यायों में बड़े मनोरंजक विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है जिसकी तुलना महाभारत में निर्दिष्ट तच्चरित से की जा सकती है। वह परिबृंहण निश्चित रूप से महाभारत (३०० ईस्वी आसपास) से उत्तरकालीन है। ब्रह्माण्ड राजनीतिसम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का विशेष प्रयोग करता है जिसमें 'महाराजाधिराज' पदवी महत्त्व की है। पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ हिमालय की उपमा 'महाराजाधिराज' के साथ दी गई है (दृष्ट्वा जनैरासाद्यो महाराजाधिराजवत्-ब्रह्माण्ड ३।२२।२८) इस शब्द का प्रयोग उपाधि के रूप में गुप्त नरेशों ने किया जिनके करद राजा सामन्त नाम से गुप्तों के अभिलेखों में व्यवहृत हैं। यह पुराण कान्य-कुब्ज के भूप का निर्देश करता है (३।४१।३२) जो निश्चय रूप से गुप्त नरेशों के उत्तरकालीन मौखरिराजा का सूचक माना जा सकता है। कालिदास के काव्यों का तथा उनकी वैदर्भीरीति का प्रभाव इस पुराण के वर्णनों पर है। इन सब उपकरणों का सम्मिलित निष्कर्ष यह है कि ब्रह्माण्ड की रचना गुप्तोत्तर युग में अर्थात् ६०० ईस्वी में मानना कथमपि इतिहास-विरुद्ध नहीं है। ६०० ई०—९०० ई० तक तीन शताब्दियों में इसके प्रतिसंस्कार का समय न्यायतः माना जा सकता है[1]।

भागवत की टीकायें

टीकासंपत्ति की दृष्टि से भी भागवत पुराण-साहित्य में अग्रगण्य है। भागवत इतना सारगर्भित तथा प्रमेय-बहुल है कि व्याख्याओं के प्रसाद से ही

---

१. द्रष्टव्य Date of the Brahmanda Purana by S. N. Roy (Purana, Vol V no 2, guly 1963) pp. —305—319

उसके गंभीर अर्थ में मनुष्य प्रवेश पा सकता है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' कोई निराधार आभाणक नहीं है। समस्त वेद का सारभूत, ब्रह्म तथा आत्मा की एकता-रूप अद्वितीय वस्तु इसका प्रतिपाद्य है और यह उसी में प्रतिष्ठित है। कैवल्य-मुक्ति-ही इसमें निर्माण का एकमात्र प्रयोजन है। इसी के गंभीर अर्थ को सुबोध बनाने के निमित्त अत्यंत प्राचीन काल से इससे ऊपर टीकाग्रन्थों की रचना होती चली आ रही है। इनमें से मुख्य टीकाओं का ही विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। विभिन्न वैष्णव संप्रदाय के आचार्यों ने अपने मत के अनुकूल इस पर प्रामाणिक टीकाएँ लिखी हैं और अपने मत को भागवत-मूलक दिखलाने का उद्योग किया है।

(१) श्रीधर स्वामी—भावार्थदीपिका

श्रीधरस्वामी की टीका उपलब्ध टीकाओं में सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्राचीन प्रतीत होती हैं। टीका के मंगल श्लोक से जान पड़ता है कि ये नृसिंह भगवान् के उपासक थे। इनकी टीका के विषय में यह प्रसिद्ध है—

> **व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा।**
> **श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंह-प्रसादतः।**

भागवत का मर्म व्यास जी तथा उनके पुत्र शुकदेव जी जानते हैं। राजा परीक्षित के ज्ञान में संदेह है कि वे जानते हैं कि नहीं। परन्तु ऐसे गंभीर अर्थ को भी श्रीधर स्वामी भगवान् नृसिंह की कृपा से भली भाँति जानते हैं। चैतन्य को श्रीधर टीका में इतनी आस्था थी कि वे कहा करते थे कि जिस प्रकार स्वामी की प्रतिकूला भार्या पतिव्रता नहीं हो सकती, उसी प्रकार स्वामी का प्रतिकूल व्यक्ति भागवत का मर्म समझ ही नहीं सकता। श्रीधर शंकराचार्य के अद्वैतानुयायी हैं, परन्तु भिन्न मत होने पर भी चैतन्य संप्रदाय का आदर इसके महत्त्व तथा प्रामाण्य का पर्याप्त परिचायक है। इसीलिए यह टीका सर्वापेक्षा अधिक लोकप्रिय है। इस टीका की उत्कृष्टता के विषय में नाभादास जी ने अपने भक्तमाल में एक प्राचीन आख्यान का निर्देश किया है। श्रीधर के गुरु का नाम परमानंद था जिनकी आज्ञा से काशी में रह कर ही इन्होंने भागवत की टीका लिखी। टीका की परीक्षा के निमित्त यह ग्रन्थ बिन्दुमाधव जी की मूर्ति के सामने रख दिया गया। एक प्रहर के बाद पट खोलने पर लोगों ने आश्चर्यभरे लोचनों से देखा कि माधव जी ने इस व्याख्या-ग्रन्थ को अन्य ग्रन्थों के ऊपर रखकर उत्कृष्टता-सूचक अपनी मुहर लगा दी थी। तब से इसकी ख्याति समस्त भारतवर्ष में हो गई। नाभादास जी के शब्दों में—

> **तीन काण्ड एकत्व सानि कोउ अज्ञ बखानत।**
> **कर्मठ ज्ञानी ऐंचि अर्थ को अनरथ बानत।**

'परमहंससंहिता' विदित टीका विसतारयौ।
षट् शास्त्रनि अविरुद्ध वेद-सम्मतहिं विचारयौ।
'परमानंद' प्रसाद तें माधौ सुकर सुधार दियौ।
श्रीधर श्री भागौत मैं परम धरम निरनै कियौ ॥
—(छप्पय ४४०)

श्रीधर ने इस ग्रन्थ में वेदांत के प्रसिद्ध आचार्य चित्सुखाचार्य की टीका का निर्देश किया है। राधारमणदास गोस्वामी ने दीपनी नामक व्याख्या श्रीधरी पर लिख कर उसे सुबोध बनाया है।

श्रीधर स्वामी के समय का यथार्थ निरूपण भागवत के टीकाकारों के पौर्वापर्य जानने के लिए नितान्त आवश्यक है।

(क) श्रीधर ने चित्सुखाचार्य के द्वारा विरचित भागवतव्याख्या का अनुसरण अपनी टीका में किया है। चित्सुख का समय १२२० ई०–१२८४ ई० बीच स्वीकृत किया जाता है। फलतः १२०० ई० इनके काल की पूर्व अवधि मानी जा सकती है।

(ख) श्रीधर ने बोपदेव का संकेत तथा उल्लेख अपनी भागवत टीका में किया है और इनके भागवतप्रणेतृत्व का खण्डन भी किया है। फलतः ये १३०० ई० से पूर्ववर्ती नहीं हो सकते।

(ग) श्रीधर के कतिपय पद्यों को नामनिर्देशपुरःसर श्रीरूपगोस्वामी ने अपने सूक्तिसंग्रह 'पद्यावली' में उद्धृत किया है। फलतः श्रीधर १६ वीं शती से पूर्ववर्ती हैं।

(घ) श्रीधर ने विष्णुपुराण पर जो 'स्वप्रकाश' नामक व्याख्या लिखी है, उसके उपलब्ध हस्तलेखों में प्राचीनतम हस्तलेख का समय १५११ ईस्वी है। फलतः १५०० ई० श्रीधर के समय की उत्तर अवधि है।

(ङ) विष्णुपुरी ने अपनी 'भक्तिरत्नावली' की स्वरचित व्याख्या 'कान्तिमाला' में श्रीधर स्वामी के भागवत तात्पर्य को पूर्णतया स्वीकृत किया है। इसका उल्लेख ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने स्वयं किया है[१]। इस ग्रन्थ का प्रणयन काल १५५५ शक संवत् (= १६३३ ई०) है[२]। फलतः श्रीधर का समय १६०० ई० से पूर्ववर्ती होना चाहिये।

---

१. अत्र श्रीधरसत्तमोक्तिलिखने न्यूनाधिकं यत्त्वभूत्।
तत् क्षन्तुं सुधियोऽर्हंत स्वरचनालुब्धस्य मे चापलम् ॥
—भक्तिरत्नावली १३।१४

२. ग्रन्थ के अन्त में (१३।१६) यह तिथि दी गई है :—
महायज्ञ–शर–प्राण–शशाङ्कगणिते शके।
फाल्गुने शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां सुमंगले ॥

इस प्रकार श्रीधर स्वामी का समय वोपदेव तथा विष्णुपुरी के बीच में कहीं होना चाहिये। पूर्वोक्त निःसंदिग्ध प्रमाणों के साक्ष्य पर इनका आविर्भाव-काल १३००-१३५० ई० अर्थात् १४ वीं शती का मध्यभाग मानना सर्वथा उचित है।

विशिष्टाद्वैत-टीकायें

(२) सुदर्शन सूरि—शुकपक्षीया

श्रीरामानुज के श्रीभाष्य पर 'श्रुतप्रकाशिका' के रचयिता सुदर्शन सूरि विशिष्टाद्वैत मत के विशिष्ट आचार्य हैं। इनका समय १४ श० ईस्वी था। सुनते हैं कि दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के सेनापति ने जब १३६७ ई० में श्रीरंगम् पर आक्रमण किया था तब उस युद्ध में ये मारे गये थे। इनकी टीका परिमाण में स्वल्प होने पर भी भावप्रकाशन में गंभीर है।

(३) वीरराघव—भागवत चंद्रिका

वीरराघव की यह टीका पूर्व टीका की अपेक्षा अधिक विस्तृत हैं। ये सुदर्शन सूरि के ही अनुयायी हैं। समय १४ शतक माना जाता है। रामानुज के मतानुसार भागवत के रहस्यों की जानकारी के लिए यह टीका अनुपम है। ये वत्सगोत्री श्रीशैलगुरु के पुत्र थे, इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है।

द्वैतमत टीका

(४) विजयध्वज—पदरत्नावली

द्वैत मत के प्रतिष्ठापक श्रीमध्वाचार्य ने भागवत के रहस्यों के उद्घाटनार्थ, 'भागवततात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ लिखा था, परंतु यह वस्तुतः व्याख्या नहीं है। इस मत के अनुकूल प्रसिद्ध टीकाकार हैं विजयध्वज, जिन्होंने अपनी 'पदरत्नावली' में भागवत की द्वैतपरक व्याख्या लिखी है। अपनी टीका के आरंभ में इन्हों ने आनंदतीर्थ (मध्वाचार्य) तथा विजयतीर्थ के ग्रन्थ के आधार पर अपने टीकानिर्माण की बात लिखी है[1]। आनंदतीर्थ का तो पूर्वोक्त ग्रन्थ प्रसिद्ध ही है, परन्तु विजयतीर्थ के भागवत-विषयक ग्रन्थ का पता नहीं चलता। पदरत्नावली सुबोध तथा प्रामाणिक है।

वल्लभमत टीका

(५) वल्लभाचार्य—सुबोधिनी

आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैत मत के अनुसार अपनी प्रसिद्ध टीका सुबोधिनी लिखी है। यह समग्र भागवत के ऊपर उपलब्ध नहीं होती। आरंभ के कतिपय

---

१ आनन्दतीर्थ-विजयतीर्थौ प्रणम्य मस्करि-वर-वद्यौ।
तयोः कृतिं स्फुटमुपजीव्य प्रवच्मि भागवतं पुराणम्॥ —टीका का आरंभ

स्कन्धों के अतिरिक्त यह संपूर्ण दशम स्कंध के ऊपर है। सुबोधिनी बड़ी ही गंभीर तथा विवेचनात्मक व्याख्या है। वल्लभाचार्य ने भागवत के स्कंधों का नई दृष्टि से विभाग कर उसमें नये अर्थ ढूंढ़ निकाला है। वे कहते हैं कि भगवान् विष्णु के स्पष्ट आदेश पाकर ही उन्होंने इस टीका का निर्माण किया। इनके संप्रदाय मे गिरिधर महाराज ने भी भागवत पर टीका लिखी है जिसमें स्कंधों के ही विषय का नहीं, प्रत्युत उनके अध्यायों के विषय का भी बड़ा ही सूक्ष्म विभाजन प्रस्तुत किया गया है। भागवत के आध्यात्मिक अर्थ समझने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। अन्य टीकायें भी छोटी-मोटी यहां उपलब्ध होती हैं।

निम्बार्क मत टीका

(६) शुकदेवाचार्य—सिद्धांतप्रदीप

आचार्य निम्बार्क की लिखी भागवत की कोई व्याख्या नहीं मिलती। उनके मतानुयायी शुकदेवाचार्य ने भागवत की यह नई टीका लिखकर अपने सिद्धान्तों का प्रकाशन किया है। टीका के आरंभ मे इन्होंने अपने प्राचीन आचार्य श्रीहंस भगवान्, सनत्कुमार, देवर्षि नारद तथा निंबार्काचार्य को नमस्कार किया है। यह टीका तो पूरी भागवत पर है, परन्तु इस मत के अन्य आचार्यों ने भी दशम स्कंध के रासलीला आदि प्रसंगों की बड़ी सरस व्याख्या प्रस्तुत की है।

चैतन्य संप्रदाय—

(७) सनातन गोस्वामी—बृहद् वैष्णवतोषिणी

श्रीचैतन्य श्रीधर स्वामी की टीका को अपने मत के लिए भी प्रामाणिक मानते थे, परन्तु उनके अनुयायी गोस्वामियों ने भागवत पर अनेक टीकाओं का निर्माण किया है जिनमें सनातन गोस्वामी की यह टीका प्राचीनतर तथा अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। यह केवल दशम स्कध पर ही है।

(८) जीव गोस्वामी—क्रमसंदर्भ

जीव गोस्वामी की यह टीका समस्त भागवत के उपर है। व्याख्यान की दृष्टि से बडी ही प्रामाणिक तथा तलस्पर्शिनी है। जीव गोस्वामी भागवत के अनुपम मार्मिक विद्वान् थे और इस पुराण के गूढ़ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने षट संदर्भ नामक ६ संदर्भों की पृथक् रचना की है। यह क्रमसंदर्भ एक प्रकार उनका सप्तम संदर्भ है। अपने पितृव्य रूप और सनातन की आज्ञा से निर्मित होंने के कारण ये इस ग्रन्थ को 'रूपसनातनानुशासनभारतीगर्भ' कहा है[1]।

---

१. क्रमसदर्भ की पुष्पिका इस प्रकार है—श्रीरूपसनातनानुशासनभारतीगर्भे सप्तसन्दर्भात्मक-श्रीभागवत-सन्दर्भे प्रथमस्कन्धस्य क्रमसन्दर्भः समाप्तः।

(९) विश्वनाथ चक्रवर्ती—सारार्थदर्शिनी

विश्वनाथ चक्रवर्ती चैतन्य संप्रदाय के मान्य आचार्य थे। उन्होंने ही भागवत की यह सुबोध टीका निबद्ध की है जो श्रीधर स्वामी, प्रभुचैतन्य तथा उनके गुरु के व्याख्यानों का सार संकलन करने के कारण 'सारार्थदर्शिनी' नाम से विख्यात है।[1] यह टीका है तो लघ्वक्षर परन्तु श्लोकों के मर्म समझने में नितांत कृतकार्य है।

इन टीकाकारों के अतिरिक्त भागवत को अन्य मान्य व्याख्याताओं ने भी अपने व्याख्यान-ग्रन्थों से सज्जित किया है। जीव गोस्वामी ने अपने 'तत्त्व-संदर्भ' (पृ॰ठ ६७) में हनुमद्भाष्य, वासनाभाष्य, सम्बन्धोक्ति, विद्वत्कामधेनु, तत्त्वदीपिका, भावार्थदीपिका, परमहंसप्रिया तथा शुकहृदय नामक व्याख्याग्रन्थों का स्पष्ट निर्देश किया है जिनमें भावार्थदीपिका के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ अप्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त श्री गङ्गासहाय विद्यावाचस्पति की 'अन्वितार्थप्रकाशिका', 'वंशीधरी', 'चूर्णिका', आदि दूसरी टीकाएँ भी उपलब्ध हैं।

श्रीहरि—हरिभक्तिरसायन

श्रीहरि एक महनीय कवि तथा भक्त हो गये। ये गोदावरी तट निवासी सदाचारी काश्यपगोत्री ब्राह्मण थे। इस टीका का रचना काल है १७५९ शक। यह दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध पर ही है और है स्वयं पद्यात्मक टीका। कुल ४९ अध्याय हैं और विविध छन्दों में लगभग ५ हजार श्लोक हैं। श्रीहरि का कहना है कि भगवान् का प्रसाद ग्रहण कर ही वे इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हुए। यह साक्षात् टीका न होकर प्रभावशाली मौलिक ग्रन्थ है जिनमें भागवती लीला का कोमल पदावली में ललित विन्यास है। इनकी प्रतिभा के प्रकाशक ये पद्य पर्याप्त[2] होंगे :—

---

१. श्रीधरस्वामिनां श्रीमत्प्रभूणां श्रीमुखाद् गुरोः।
व्याख्यासु सारग्रहणादियं सारार्थदर्शिनी।

—टीका की पुष्पिका।

२. पूर्वोक्त टीकाओं में बृहद् वैष्णव तोषिणी को छोड़ कर अन्य आठ टीकाओं का एकत्र प्रकाशन श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारी ने वृन्दावन से सं १९५८ में किया था। भागवत का यह सुन्दर संस्करण अब नितान्त दुर्लभ है। हरिभक्ति-रसायन काशी से कभी निकला था। आज यह भी दुर्लभ है। अन्य टीकायें व्यंकटेश्वर प्रेस में छपी हैं और प्राप्य हैं।

अगाधे जलेऽस्याः कथं वाम्बुकेलि-
मंमाग्रे विधेयेति शङ्कां प्रमाष्टुंम् ।
क्वचिज्जानुदघ्ना क्वचिन्नाभिदघ्ना
क्वचित् कण्ठदघ्ना च सा किं तदासीत् ॥

बालकृष्ण भक्तों के चरणरज को मुख में डालकर भक्तवत्सलता प्रकट कर रहे हैं—

मय्येव सर्वार्पित-भावना ये
मान्या हि ते मे त्विति किन्तु वाच्यम् ।
मुख्यं तदीयाङ्घ्रिरजोऽपि मे स्या-
दित्यच्युतोऽघात् स्फुटमात्तरेणुः ॥

(२)

देवी-भागवत की टीका

देवी भागवत के टीकाकार नीलकण्ठ अपने को शैव बतलाते हैं। इस टीका के अन्तिम श्लोकों में उन्होंने अपना परिचय सामान्य रूपसे दिया है। इनका वंशवृक्ष इस प्रकार है :—

मयूरेश्वर (जिन्होंने शिव की विशेष उपासना के द्वारा अपने कुल के लिए 'शैव' उपाधि प्राप्त की)
|
नीलकण्ठ
|
रङ्गनाथ (स्त्रीनाम-लक्ष्मी; इनकी उपाधि कविराजराजिमुकुट उल्लिखित है)
|
नीलकण्ठ

नीलकण्ठ ने अपने दो गुरुओं का उल्लेख किया है जिनके नाम काशीनाथ तथा श्रीधर थे। रत्नजी नामक किसी व्यक्ति का भी इन्होंने निर्देश किया है जिसकी प्रेरणा से इन्होंने देवी भागवत की यह व्याख्या लिखी। ये महाराष्ट्र देश के निवासी थे, क्योंकि अपनी टीका (८ स्क०, २४ अ०, २४-२७, श्लो०) में इन्होंने मराठी भाषा के अनेक शब्दों का निर्देश किया है। अपने समय का स्पष्ट निर्देश तो इन्होंने नहीं किया है, परन्तु उल्लिखित ग्रंथ तथा ग्रंथकारों के आधार पर इनके समय का पता मिल जाता है। देवी भागवत में उल्लिखित है—(१) मन्त्र महोदधि (महीधर की, र० का० १५८९ ई०), (२) गुप्तवती टीका (भास्करराय की, र० का० १७४१ ई०) तथा नागोजी भट्ट (१७-१८ शती) इन संकेतों के साक्ष्य पर नीलकण्ठ का समय १८ शती के मध्यभाग से पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता।

ये शैवो नीलकण्ठ महाभारत के टीकाकार विश्रुत नीलकण्ठ चतुर्धर से नितान्त भिन्न हैं। दोनों का कुल ही भिन्न न था, प्रत्युत आविर्भाव काल भी पृथक् था। महाभारत के टीकाकार का समय १७ शती का उत्तरार्ध है[1] (१६-५० ई०—१७०० ई० के आसपास) और इस शैव नीलकण्ठ का समय इससे लगभग पचास साठ साल पीछे है। ब्रह्मसूत्रों पर श्रीकण्ठभाष्य के प्रणेता नीलकण्ठ भी शैवमतानुयायी थे, क्योंकि उन्होंने उस भाष्य में शैव सम्प्रदाय के अनुसार ही भाष्य-रचना की है। फलतः ये शैव नीलकण्ठ उनके नामधारी इन दोनों व्यक्तियों से भिन्न पृथक् व्यक्ति हैं।

देवी भागवत की टीका इनका विशद ग्रंथ है। इसमें इनके अन्य ग्रंथ का संकेत मिलता है :--

(१) सप्तशत्यङ्गषड्क व्याख्यान जिसमें सप्तशती के सहायक अपांगभूत षट् ग्रन्थों का व्याख्यान है।

(२) शक्तितत्त्वविमर्शिनी।

(३) केनोपनिषद् की टीका चन्द्रिका नामक।

(४) कामकला-रहस्य की व्याख्या।

(५) देवीगीता की टीका।

(६) देवी भागवत-स्थिति अथवा केवल भागवत-स्थिति जिसमें देवी भागवत के प्रामाण्य तथा पुराणत्व का विवेचन किया गया है। नीलकण्ठ ने यहां श्रीमद्भागवत की अपेक्षा देवी भागवत को ही भागवत पुराण सिद्ध किया है।

(७) कात्यायनीतन्त्र की 'मन्त्र व्याख्यान प्रकाशिका' नामक टीका।

(८) बृहदारण्यक उप० की टीका।

(९) देवीभागवत टीका (तिलकनाम्नी) यह ग्रन्थ दो संस्करणों में प्रकाशित है : बम्बई से १८६७ ई० में तथा कलकत्ते से तीन खण्डों में १८८७ ई० में। यही टीका नीलकण्ठ के प्रौढ पाण्डित्य की द्योतिका व्याख्या है। यही टीका अब तक प्रकाशित है तथा यही उनकी अन्तिम रचना प्रतीत होती है जिसमें उनके इतर ग्रन्थों का संकेत उपलब्ध होता है।

टीका का महत्त्व—नीलकण्ठ तन्त्रशास्त्र के प्रौढ़ पण्डित तथा श्रद्धालु अनुयायी हैं। इस टीका में उन्होंने शक्ति को ब्रह्मरूपिणी सिद्ध किया है। अनेक तान्त्रिक विधिविधानों का भी निर्देश तथा उनके प्रामाण्य पर विचार किया है। विभिन्न तन्त्रों के विशिष्ट मतों का स्थान-स्थान पर निर्देश मिलता है। टीका-

---

१ द्रष्टव्य मेरा इतिहास ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (सप्तम सं०, १९६५; काशी) पृष्ठ ९१।

कार की दृष्टि से नीलकण्ठ में विवेकशक्ति वर्तमान है। उनका कथन है कि देवी-भागवत के द्राविड तथा गौड सम्प्रदाय से दो पाठ मिलत हैं जिनमें उन्होंने गौड सम्प्रदाय को स्वीकार कर टीका लिखी है। इसीलिये उन्होंने तृतीय स्कन्ध के द्वितीय अ० के आदिम १० श्लोकों की व्याख्या नहीं लिखी है, यद्यपि ये श्लोक द्राविड सम्प्रदाय में मिलते हैं। इसी प्रकार वैष्णवतन्त्रस्थ आठ अध्यायों (१२। ६-१२।१४) को प्रक्षिप्त मानकर टीका नहीं लिखी। नीलकण्ठ अपने को देवी-भागवत के प्रथम टीकाकार मानते हैं। इसकी दो टीकाओं का उल्लेख हस्तलेखों में मिलता है, यद्यपि उनके समय का पता नहीं चलता।[1]

(३)

विष्णुपुराण की टीकायें

टीका सम्पत्ति की दृष्टि से श्रीमद्भागवत के अनन्तर विष्णु पुराण का ही महत्त्व है। इसकी भी अनेक टीकायें उल्लिखित तथा उपलब्ध हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) चित्सुख मुनि की टीका (जिसका निर्देश श्रीधर स्वामी ने अपनी टीका में किया है)

(२) जगन्नाथ पाठक—स्वभावार्थदीपिका।

(३) नृसिंहभट्ट कृता व्याख्या।

(४) रत्नगर्भ – वैष्णवाकूतचन्द्रिका (प्रकाशित)

(५) विष्णुचित्त कृता व्याख्या विष्णुचित्ती (प्र०)

(६) श्रीधर स्वामी – आत्मप्रकाश या स्वप्रकाश नामक व्याख्यान (प्र०)

(७) सूर्यकर मिश्र रचित व्याख्या (? रत्नगर्भ द्वारा उद्धृत)

इन टीकाओं में से सबसे अधिक प्रख्यात है (१) श्रीधर स्वामी का व्याख्यान। श्रीधर स्वामी के भागवत टीका का विवरण पहिले दिया गया है। उनका समय ११००-१३५० ई० प्रमाणों के आधार पर ऊपर निर्णीत है। श्रीधर के समय विष्णु पुराण की टीकायें दोषपूर्ण थीं, कुछ तो अत्यन्त संक्षिप्त थीं और कुछ अत्यन्त विस्तृत थीं। फलतः श्रीधर ने मध्यमार्ग का अनुसरण अपनी व्याख्या में किया है, जो इसी कारण 'मध्यमा' कही गई है—

श्रीमद्विष्णुपुराणस्य व्याख्यां स्वल्पातिविस्तराम्।
प्राचामालोक्य तद्व्याख्या मध्यमेयं विधीयते ॥

—आरम्भ का तृतीय श्लोक।

---

१. द्रष्टव्य इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली भाग० १६ (१९४०) पृ० ५७४-५७९।

श्रीधर इस पद्य में किसी टीका की ओर संकेत कर रहे हैं; यह कहना कठिन है। चित्सुख योगी की व्याख्या का उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है और उसे ही अपनी व्याख्या का मार्गप्रदर्शक भी माना है (आरम्भ का प्रथम श्लोक)। उन्हों ने अपनी टीका को 'विष्णुपुराण सारविवृति' कहा है जिस से टीका के स्वरूप का पर्याप्त निदर्शन हो जाता है। ये भगवान् नृसिंह के उपासक थे। इनके गुरु का नाम परानन्द या परमानन्द था (संश्रितश्रीपरमानन्दनृहरिः श्रीधरो यतिः)। भागवत की श्रीधरी के समान यह टीका भी यहीं काशी में विन्दुमाधव जी के मन्दिर के समीप ही कहीं लिखी गई; इसका संकेत टीका के आरम्भिक पद्य में उपलब्ध है—

> **श्रीविन्दुमाधवं वन्दे परमानन्दविग्रहम्।**
> **वाचं विश्वेश्वरं गङ्गां पराशरमुखान् मुनीन्॥**

(२) **विष्णुचित्त**—श्री वैष्णवमतानुयायी प्रतीत होते हैं। इनकी व्याख्या श्रीधरी के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित है।

(३) **रत्नगर्भ—वैष्णवाकूतचन्द्रिका**—

इस टीका का प्रकाशन गोपाल नारायण ने मुम्बई से १८२४ शक में पत्रात्मक रूप में किया है। ग्रन्थ के अन्त में दिये गये पद्यों से इनके विषय में सामान्य बातों का ही पता चलता है। इनके गुरु कोई विद्यावाचस्पति थे जिनके वचनों की दीपावली से सन्देह रूपी अन्धकार के दूर करने की घटना का उल्लेख इन्होंने किया है। चन्द्राकर मिश्र के पुत्र रतिनाथ मिश्र किसी राजा के सलाहकार थे (क्षोणीन्द्रमन्त्रकृत्)। इन्हीं के पुत्र सूर्यकर मिश्र (जो राजा के मन्त्री थे) की प्रार्थना पर इन्हों ने इस व्याख्या की रचना की है। यह व्याख्या श्रीधरी से अधिक विस्तृत तथा बह्वर्थप्रकाशिका है। इस टीका का अनुशीलन वैष्णव तत्त्वों का भी निःसन्देह प्रकाशक होगा—ऐसी आशा इस व्याख्या के अभिधान से भी की जा सकती है। डा॰ आडफ्रेक्ट ने सूर्याकर मिश्र को भी व्याख्याकार माना है, परन्तु तथ्य इससे विपरीत है। सूर्याकर की प्रार्थना पर ही इस व्याख्या का प्रणयन हुआ (सूर्याकरेण नृपमन्त्रिवरेण यत्नात् संप्रार्थितो विहितवानहमस्य टीकाम्)।

द्वादश परिच्छेद

पुराण की भाषा और शैली

(क) पुराणों की भाषा

अपने प्रतिपाद्य विषय का यथार्थ निरूपण शब्द के माध्यम द्वारा करना ही ग्रन्थकार का उद्देश्य होता है। अभीष्ट विषय का प्रतिपादन जिस भाषा में और जिस शैली में करने से लेखक के भावों की अभिव्यक्ति होती है वह उसी भाषा और उसी शैली को अपनाता है—अपने विचारों के प्रकटीकरण के निमित्त उसी माध्यम का आश्रयण करता है। यही कारण है कि दर्शन ग्रन्थों के सूत्र, भाष्य तथा व्याख्या लिखने वाले ग्रन्थकारों की भाषा दार्शनिक विषयों के समुचित वर्णन के अनुरूप ही उदात्त तथा शास्त्रीय होती है। कोमल विषयों के विन्यासार्थ कवि की भाषा स्वभावतः रससमन्वित तथा माधुर्यमण्डित होती है। पुराण की भाषा का इसी प्रकार अपना विशिष्ट क्षेत्र है। पुराण शब्दप्रधान वेदों से तथा शब्द-अर्थ को गौण मानकर अभिव्यञ्जन शैली की मुख्यता मानने वाले काव्यों से भिन्न तथा पृथक् होता है। पुराण अर्थप्रधान होता है अर्थात् अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने पर ही पुराण का विशेष आग्रह है। इसके निमित्त न वह शब्द का प्राधान्य मानता है, और न रस का; प्रत्युत येन केन प्रकारेण अर्थ के प्रकाशन पर ही पुराण का समग्र बल है। वह न तो प्रभु-सम्मित वेद के समान होता है, न कान्तासम्मिततयोपदेशभाजन काव्य के ही सदृश होता है, प्रत्युत इन दोनों से विलक्षण वह सुहृत्सम्मित वाक्य होता है। जिस प्रकार कोई सुहृद् अपने मित्र की हितचिन्तना से प्रेरित होकर उसे कथा-कहानियों के द्वारा अपने वक्तव्य को हृदयंगम कराता है, इतिहास-पुराण भी उसी ढंग से अपना कार्य करता है। **कथन-प्रकार** के ऊपर ही आग्रह और आस्था रखने वाले काव्य से विपरीत, पुराण **कथन-विषय** के ऊपर ही अपना समग्र आग्रह रखता है।

काव्य और इतिहास का परस्पर भेद बतलाते समय पाश्चात्य आलोचकों की बातें यहाँ ध्यातव्य हैं। यूनानी आलोचक अरस्तू का कथन है कि कवि और ऐतिहासिक का पार्थक्य केवल पद्य या गद्य में लिखने के कारण नहीं है। मुख्य अन्तर यही है कि इतिहास कहता है कि क्या हुआ। काव्य कहता है कि क्या हो सकता है। काव्य इस प्रकार इतिहास की अपेक्षा विशेषेण तत्त्वप्रधान और

उदात्ततर वस्तु है, क्योंकि काव्य प्रकट करता है सार्वभौम और सार्वजनीन को, इतिहास प्रकाश करता है विशेष तथा एककालिक को[1]।

पुराण केवल इतिहास न होकर उससे अधिक वस्तु है। तथापि इतिहास के विषय में ऊपर जो मत प्रकट किया गया है, वह पुराण के विषय में भी किञ्चित् परिवर्तन के साथ समझना चाहिये। इस प्रकार काव्य से पार्थक्य रखने के कारण पुराण की वर्णन शैली और भाषा में काव्यगत शैली और भाषा से विभिन्नता होना स्वाभाविक है।

पुराण का विशिष्टरूप किसी वस्तु के वर्णनमात्र से सिद्ध होता है। प्राचीन कथानकों का वर्णन करना तथा उनके माध्यम से श्रोताओं के चित्त को पापात्मक प्रवृत्ति से हटा कर पुण्यात्मक प्रवृत्ति की ओर अग्रसर करना पुराण का मुख्य तात्पर्य है। पुराण का लक्ष्य जन-साधारण के चित्त का आवर्जन कर धर्म की ओर प्रवृत्त कराना है। पुराण इसीलिए सरल-सुबोध भाषा का प्रयोग अपनाता है। पुराण की संस्कृत भाषा सुबोध, व्यावहारिक, चुस्त तथा अल्पाक्षरों में स्वतात्पर्य को प्रकट करती है। वह विशेष पल्लवन का आश्रयण नहीं करती है; अपनी धार्मिक प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर ही उसका सब शब्द-व्यापार प्रवृत्त होता है। पुराण के साहित्यिक रूप के वैशिष्ट्य आँकते समय इस मूलभूत तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता कि पुराण अनुरञ्जन के साथ शिक्षण करता है। वह पाप-पुण्य में विशिष्ट फल को दिखलाकर एक से वर्जन और दूसरे के ग्रहण के लिए **उपदेश देता है,** परन्तु वेद के समान वह **आदेश नहीं देता।**

इसी के अनुरूप उसकी भाषा होती है। पुराणों की भाषा व्यावहारिक होती है। फलतः वह पाणिनीय व्याकरण के बन्धन को अक्षरशः स्वीकार नहीं करती। पुराण-भाषा की तुलना उस पुण्यसलिला भागीरथी के साथ की जा सकती है जो अपने मूल प्रवाह पर आग्रह रखती हुई भी इतस्ततः आने वाली जलधाराओं का तिरस्कार नहीं करती; प्रत्युत वह उन्हें भी अपने में सम्मिलित कर गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देती है। पौराणिक देववाणी की भी यही विशिष्टता

---

१. The poet and the historian differ not by writing in verse or prose; the true difference is that one relates what has happened, the other what may happen. Poetry is therefore a more philosophical and a higher thing than history, for poetry tends to express the universal; history the particular.

—Poetics IX. 2. 3.

है। वह अपने को पाणिनीय व्याकरण की गाढ़ शृंखला में बांधना पसन्द नहीं करती, प्रत्युत कुछ उन्मुक्त होकर तद्-भिन्न शब्दों तथा शब्द रूपों को भी ग्रहण करने में संकोच नहीं करती। इसलिए पुराण की भाषा में अपाणिनीय प्रयोग बहुलता से उपलब्ध होते हैं। इन्हें आर्ष प्रयोग मानने का टीकाकारों का आग्रह है। महर्षि पाणिनि ने 'सम्बुद्धौ शाकलस्येतावनार्षे' (पा० १।१।१६) आदि सूत्रों में 'अनार्ष' शब्द का प्रयोग वेद से भिन्न ग्रन्थों के लिए किया है। फलतः 'आर्ष' पद का प्रयोग वेद की भाषा के निमित्त मानना ही पाणिनि की सम्मति प्रतीत होती है। पुराण में आर्ष प्रयोगों की भी सत्ता है जो वैदिक व्याकरण के सर्वथा अनुकूल हैं। यथा भागवत में 'भस्मनि हुतम्' के स्थान पर 'भस्मन् हुतम्' (१।१५।२१), 'प्रतिहर्तुम्' के स्थान पर 'प्रतिहर्तवे' (३।५।४७) तथा 'धीमहि (१।१।१) और 'अभिधीमहि' (८।३।२) आदि प्रयोग निश्चयरूपेण वैदिक प्रक्रिया से सुसंगत आर्ष प्रयोग हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से प्रयोग पाली तथा प्राकृत से मिलते हैं।

पुराणों में बहुत से अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जो छन्द के अनुरोध से ही उस रूप में प्रयुक्त हैं। पाणिनीय व्याकरण-सम्मत प्रयोग किये जाने पर छन्द का सर्वथा भंग तथा परिहार हो जाता है। काव्यशिक्षा का तो कथन है कि 'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्'। फलतः इस शिक्षा के पूर्ण निर्वाह करने के लिए ही पुराणों ने अपने को छन्दोभंग से बचाने के लिए ऐसे पदों का प्रयोग किया है। एक और तथ्य भी ध्यातव्य है। पुराणों की रचना का उद्देश्य ही है जन-सामान्य के हृदय तक धर्मशास्त्रीय विषयों को पहुँचाना। उनके समझने लायक भाषा का ही प्रयोग पुराणों में न्याय्य है। जन-साधारण की भाषा पिछले युगों में लोकभाषा—पाली तथा प्राकृत थी। फलतः उस भाषा का प्रभाव पुराणों की भाषा पर पड़ना सुतरां नैसर्गिक है। डा० पार्जीटर ने ऐसे ही प्रयोगों को देख कर कहा है कि पुराण मूलतः प्राकृत में ही लिखे गये थे जिसका संस्कृतीकरण ब्राह्मणों ने पीछे कर दिया, परन्तु स्थान-स्थान पर मूल प्राकृत रूपों का सर्वथा परिहार नहीं हो सका। इस मत का बहुशः प्रामाणिक खण्डन हो चुका है जिसे यहां दुहराने की जरूरत नहीं।[1]

---

१. पार्जीटर के मत के लिए द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ 'ऐन्शियेन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन' पृ० ५—१४। इसके खण्डन के निमित्त देखिए 'जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, लण्डन, १९१४ पृ० १०२८-३० पर डा० कीथ तथा डा० याकोबी के मत। ड० पुसालकर ने भी इसका खण्डन किया है— 'स्टडीज इन दी एपिक्स एण्ड दी पुराणज' पृ० २६-३०।

सन्धिसम्बन्धी अपाणिनीय प्रयोग

(अ) विवृत्ति

[पाणिनि ने प्रगृह्य-संज्ञक स्थलों में तथा लोप स्थानों में सन्धि का अभाव स्वीकार किया है। पुराणों में छन्दोभंगभिया अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग हैं जिन्हें लिपिकारों ने च, तु हि आदि निपातों का प्रयोग कर या पाठभेद से संशोधित कर दिया है।]

(१) **पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः।**

—भाग० १०।१।२०

(२) **पूर्ववद् गुरुऋत्विग्भ्यः।** —(मत्स्य ९०।६)

(३) **पुरतो यदुसिंहस्य अमोघस्य।** —(वामन० के कोशों में)

पुरतो यदुसिंहस्य ह्यमोघस्य॥

—(वामन, ९५।४८)

रूप में संशोधित किया गया है।

(४) **कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि अहत्वा।** —(ब्रह्म० १९९।९)

(५) **पुष्करे तु अजं दृष्ट्वा।** —(पद्म ५।२९।२४१)

(आ) द्विः सन्धि

(एक सन्धि हो जाने पर पुनः शास्त्रीय निषेध होने पर भी सन्धि करना पुराणों में बहुशः उपलब्ध होता है। यह छन्दोभंग-भिया ही है)।

(१) **विप्रोऽधीत्याप्नुणात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्।**

—(भाग० १२।१२।६४)

(राजन्यः + उदधि = राजन्य + उदधि = राजन्योदधि)

(२) **तस्याग्रतो नृपः स्नायात्।**

—(अग्नि १८५।१३)

(तस्याग्रतः = तस्याः (देव्याः) अग्रतः। विसर्ग लोप होने पर पुनः सन्धि)

(३) **सर्वानन्तफलाः प्रोक्ताः।**

—(मत्स्य ७४।४)

(सर्वाः अनन्तफलाः = सर्वा + अनन्त = सर्वानन्त)

सुबन्त में अपाणिनीय प्रयोग

(१) **पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः।**

—(सप्तशती)

(इन अन्तिम पदों को 'पश्य' का कर्म होना चाहिए। ये द्वितीया में न होकर प्रथमा में प्रयुक्त हैं। इन पर प्राकृत की छाया है)

(२) गावो बहुगुणा ददुः ।

—(भाग० ३।३।२६)

(यहाँ 'ददुः' के लिए 'गाः' का प्रयोग द्वितीया में होना चाहिए)।

(३) निःशेषान् शुद्रराज्ञस्तु तदा स तु करिष्यति ।

—(मत्स्य ४७।२४७)

('राजाहः सखिभ्यष्टच्' से समासान्त में टच् प्रत्यय होने पर 'शूद्रराजान्' होना चाहिए)।

(४) आयान्तं चण्डिका दृष्ट्वा तत् सैन्यमतिभीषणम् ।

—(सप्तशती ८।८)

('सैन्य' नपुंसक है। फलतः विशेषण को पुंलिंग में न होकर 'आयात्' नपुंसक लिंग में होना चाहिए)।

(५) भर्तव्या रक्षितव्या च भार्या हि पतिना सदा ।

—(मार्कं० २१।६८)

('पत्या' के स्थान पर पतिना 'हरिणा' के समान। 'पतिः समास एव' सूत्र का व्यत्यय यहाँ है। पुराणों में 'पति' का रूप 'हरि' के ही समान प्रयुक्त होता है)।

(६) तथैव भर्तारमृते भार्या धर्मादिसाधने ।

—(मार्कं० २१।७१)

(ऋते योगे पंचमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग)

(७) चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति ।

—(भाग० ६।१४।२८)

('दार' शब्द नित्य बहुवचन होता है। अत एव 'दारेषु' होना चाहिए।)

पदव्यत्यय

पदों का व्यत्यय बहुत दृष्टिगोचर होता पुराणों में। पाणिनि के द्वारा परस्मैपद में निर्दिष्ट धातुओं का आत्मनेपद हो जाता है, तो कहीं आत्मनेपद का परस्मैपद होता है।

(१) न याचतोऽदात् समयेन दायम् ।

(भाग० ३।१।८)

याच् धातु प्रयोग में आत्मनेपदी है। अतः 'याचमानस्य' उचित है। भागवत में याच् का विशुद्ध प्रयोग भी मिलता है—

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदाद् प्रभुः ।

—(भाग० १।१७।३९)

(२) तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः।

—(भाग० ३।१।११)

तितिक्षतः = तितिक्षमाणस्य । गुप्–'तिच् किद्भ्यः सन्' से नित्य सन् और आत्मनेपद ।

(३) तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धिनः सर्वसंशयान् ।

—(भाग० ३।१०।२)

('वद्' परस्मैपदी धातु है । अतः 'वदस्व' नहीं)

(४) तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ।

—(भाग० ३।७।७)

(नुद् आत्मनेपदी धातु है जिसका यथार्थ प्रयोग भाग० ३।७।१८ में = तां चापि युष्मच्चरणसेवयाऽहं पराणुदे) ।

(५) एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ।

—(भाग० ३।१२।५१)

'अवेक्षते' आत्मनेपदी है ।**अवेक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टक-जालमेव** (विक्रमांकचरित)। यहाँ आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद का प्रयोग)।

(६) तदा वैकुण्ठधिषणात् तयोर्निपतमानयोः ।

—(भाग० ३।१६।३४)

('निपततोः' परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद) ।

(७) अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कंटकः ।

—(भाग० ३।१८।२३)

(आत्मनेपद 'अन्वेषणमाणः' के स्थान पर परस्मैपद का प्रयोग) ।

(८) कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनः ।

—(भाग० ५।१९।५)

(रम धातु नित्य आत्मनेपदी है अतः 'रममाणस्य' होगा शानच् से; शतृ से नहीं) ।

तिङन्त–कृदन्त सम्बन्धी अपाणिनीय प्रयोग

[पाणिनि के अनुसार भूतकाल सूचक लिङ् तथा लङ लकार बनाने के लिये स्वरादि धातुओं से पहिले आट्' का तथा व्यञ्जनादि धातुओं से पूर्व 'अट्' का आगम होता है । इस सर्वमान्य प्रसिद्ध नियम का व्यत्यय पुराणों में बहुशः मिलता है । इसी प्रकार पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिए मुख्य प्रत्यय 'क्त्वा' ही है, परन्तु उपसर्गपूर्वक धातु के लिए ल्यप् प्रत्यय होता है 'समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (पा० ७।१।३७) सूत्र के अनुसार । परन्तु पुराणों ने इस नियम

का भी व्यत्यय किया है जिससे कहीं केवल धातु से ल्यप् प्रत्यय और कहीं सोपसर्गक धातु से भी क्त्वा प्रत्यय ही उपलब्ध होता है। सम्भव है यहां वैदिक व्याकरण का अनुगमन किया गया है, परन्तु पाणिनि का व्यत्यय तो स्पष्ट ही है।]

(१) घण्टास्वनेन तन्नादमम्बिका चोपबृंहयत्।

—(सप्तशती ८।९)

(यहाँ 'उपबृंहयत्' मे भूतकालिक 'अड्' प्रत्यय का अभाव है।)

जनमेजयादीन् चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान्।

—(भाग० २।१६।२)

यहां 'उत्पादयत्' में अडागम का अभाव है। उदपादयत् यथार्थतः होना चाहिए।

(२) स्तोत्रमुदीरयत्। —(वामन पु०)

('उदीरयत्' में आडागम का अभाव है)

(३) प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया।

—(भाग० ३।२३।४३)

('प्रेक्ष्य' के स्थान पर त्वा का प्रयोग)

(४) वंशं कुरोर्वंशदवाग्नि निर्हतं।
संरोहयित्वा भव-भावनो हरिः॥ —(भाग० १।१०।२)

(सोपसर्गक धातु से ल्यप् के स्थान पर त्वा का प्रयोग।)

(५) निवेशयित्वा निज-राज्य ईश्वरो।
युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह॥

—(भाग० १।१०।२)

('निवेश्य' के स्थान पर 'निवेशयित्वा' का प्रयोग। दोनों का प्रयोग एकत्र इसकी लोकप्रियता का सूचक है।)

(६) एवं संचिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम्।

—(भाग० ३।३।१६)

('स्थापयति' निरूपसर्गक धातु होने में उससे ल्यप् का प्रयोग अपाणिनीय है। 'स्थापयित्वा' ही पाणिनि-सम्मत निर्दुष्ट प्रयोग है।)

(७) ततः शुक्लाम्बरैः शूर्पं वेष्ट्य संपूजयेत् फलैः॥

—(मत्स्य ८१।१८)

(८) तदोङ्कारमयं गृह्य प्रतोदं।

—(मत्स्य १३३।५७)

(९) पूज्य देवं चतुर्मुखः ।

—(वामन ४९।३७)

(१०) सेव्य पांशुं प्रयत्नेन ।

—(वामन ४५।२२)

(इन पद्यांशों में छन्दोभंग की भीति से निरुपसर्गक धातुओं से ल्यप् का प्रयोग किया गया है जो सर्वथा अपाणिनीय है । जहां यह भीति विद्यमान नहीं है, वहां 'त्वा' का ही समुचित प्रयोग किया गया है ।)

निष्कर्ष—ऊपर कतिपय अपाणिनीय[1] प्रयोगों के उदाहरण भागवत से ही विशेषतः दिये गये हैं । ऐसे पदों का प्रयोग केवल पद्यों में ही किया गया है जहाँ छन्द के रूप की अभीष्ट रक्षा करना ही प्रधान कारण है । पुराणों के गद्य भाग में वे ही पद पाणिनीय रूप में उपन्यस्त हैं । यथा 'उत्सादयित्वा क्षत्रं तु' (वायु ३।३८०) पद्य में प्रयुक्त 'उत्सादित्वा' 'उत्साद्याखिल क्षत्रजातिम्' (विष्णु० ४।२४।६२) के गद्यभाग में 'उत्साद्य' रूप में प्रयुक्त है जो विशुद्ध पाणिनीय है । कहीं-कहीं प्राकृत व्याकरण का भी प्रभाव लक्षित होता है । लिपिकारों तथा संशोधकों ने कहीं-कहीं इन प्रयोगों को पाणिनिरीत्या शुद्ध कर दिया है जिसकी कोई आवश्यकता न थी । व्यावहारिक संस्कृत के प्रयोग करने वाले पुराणों के लिए इन अपाणिनीय प्रयोगों की सत्ता भूषण ही है, दूषण नहीं ।

व्यावहारिक-शब्दौघान् पुराणानि प्रयुञ्जते ।
अपाणिनीयप्रयोगास्तु भूषणं न तु दूषणम् ॥

(ख) पुराणों की शैली

पुराण की भाषा बड़ी ही सुबोध तथा शैली अत्यन्त हृदयग्राहिणी है । पुराण का मुख्य उद्देश्य जनता के हृदय तक वैदिक तत्त्वों का पहुँचाना है । वेद के दुरधिगम होने के हेतु ही पुराण का प्रणयन किया गया था । फलतः पुराण को सुखाधिगम होना—सुखपूर्वक अपने अर्थ के प्रतिपादन करने की योग्यता रखना—नितान्त आवश्यक है । पुराण में अलंकारों का विन्यास भी इसी मूल तात्पर्य को लक्ष्य में रख कर ही किया गया है । यहां अलंकार काव्यगत शब्द के शोभाधायक न होकर काव्यगत अर्थ के ही भूषणाधायक हैं । लेखक का अभिप्राय इतना ही है कि उसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ बड़ी सरलता से, अनायास रूप में पाठकों के हृदय तक पहुंच जाय । इसके लिए आवश्यक है कि उपमायें घरेलू हों अर्थात् लोक-सामान्य में बहुशः अनुभूत तथ्य के ऊपर ही वे आधारित हों । जिस प्रकार काव्य की उपमा शास्त्रीय विषयों पर प्रायः अव-

---

१. अन्य अपाणिनीय प्रयोगों के लिए द्रष्टव्य पुराण पत्रिका ।
—(भाग ४, वर्ष १७६३, पृष्ठ २७७–२९७)

लम्बित होने में ही अपना गौरव बोध करती है, उस प्रकार की अवस्था पौराणिक उपमा की नहीं है। पुराण का लेखक अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में, अपने आसपास के क्षेत्र में जो कुछ अपनी इन्द्रियों से अनुभव करता है, उसी को पौराणिक तथ्यों के विशदीकारण के लिए प्रयुक्त करता है। इसका फल निःसन्देह बड़ा ही मनोरम होता है। पुराण के श्रोता तथा पाठक होते हैं सामान्य जन—वह जन जिन्हें हम पामर जन, अशिक्षित जन, असभ्य जन भी कह सकते हैं। उनके ज्ञान का क्षेत्र बड़ा ही संकीर्ण और सीमित होता है। वे उन्हीं उपमाओं तथा दृष्टान्तों को समझ सकते हैं जो उनके दैनन्दिन के अनुभव के दायरे के भीतर आती हों। यही कारण है कि पुराण अपने मूल स्वरूप के अनुसार ही इन्हीं उपमाओ और दृष्टान्तों को प्रयोग में लाता है जो सामान्य जनजीवन से सम्बन्ध रखती हैं, जो नित्यप्रति जीवन के अनुभव के भीतर आती हैं तथा जिन्हें समझने में सामान्य जन को विशेष क्लेश उठाना नहीं पड़ता। इन तथ्यों को हृदयगम करने के लिए कतिपय उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं—

(१) संसार अनित्य है। प्राणी यहां जनमते हैं, कुछ दिनों तक अपना कार्य करते है और फिर मर कर चले जाते हैं। फलतः एक प्राणी का दूसरे प्राणी के साथ मिलन क्षणिक है—अस्थायी है। इस सिद्धान्त को समझाने के लिए पद्मपुराण बटोही का उदाहरण प्रस्तुत करता है। मार्ग पर चलने वाला बटोही पेड़ की छाया में कुछ देर तक विश्राम करता है और पश्चात् उसे छोड़ कर आगे बढ़ जाता है। उस पेड़ की छाया का ख्याल ही उसके दिमाग से हट जाता है। यह उपमा कितनी हृदयंगम तथा मर्मस्पर्शी है। दैनन्दिन की सच्ची घटना के ऊपर आश्रित है :—

यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेद् तद्वद् भूत-समागमः॥

—पद्म ५।१८।३३८

एक दूसरी उपमा बड़ी मोहिनी है जो इसी तत्त्व का प्रतिपादन करती है। वर्षाकाल का दृश्य है। नदी के वेग से बालू एक स्थान पर इकट्ठा हो जाता है और फिर उस वेग की गति बदल जाने पर वही बालू वहां से हट जाता है। नदी तट का यह दृश्य प्रतिदिन हमारे सामने उपस्थित होकर इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि काल से ही प्राणी संयुक्त होते हैं और काल से ही वियुक्त होते हैं। काल ही कारण है इन समग्र व्यापारों का—

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन बालुकाः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥

—भाग० ६।१५।३

(२) धर्म में विलम्ब करना घोरतर अपराध है। जीवन के स्थायी होने पर विलम्ब धर्म के आचरण में किया भी जा सकता है। परन्तु उसके अस्थायी होने से तो विलम्ब करना महान् अपराध है। जीवन निर्भर है श्वास के ऊपर और वह सांस भी एक क्षण के भीतर सैकड़ों बार आती है और सैकड़ों बार जाती है। ऐसी चपल वस्तु के ऊपर आश्रित जीवन की चपलता की बात है क्या ? श्वास का यह दृष्टान्त कितना समीपस्थ तथा आवर्जक है। विषय की पुष्टि में इससे अधिक आवर्जक दृष्टान्त कौन हो सकता है :—

श्वास एव चपलः क्षणमध्ये
यो गतागत-शतानि विधत्ते।
जीवितेऽपि तदधीन-चेतसा
कः समाचरति धर्म विलम्बम् ॥

—पद्म ४।९५।४९

(३) संसार में वास्तविक सुख कहां ? यहां तो दुःखों की ही परम्परा सन्तत प्रवाहित होती है, परन्तु एक दुःख के बीतते जब दूसरा दुःख आता है जो मात्रा में पूर्व दुःख से किसी प्रकार न्यून नहीं होता, तब मनुष्य सुख का अनुभव करता है। इस विषय में उदाहरण है बोझा ढोने वाले का। वह एक कन्धे से अपने बोझ को हटा कर जब दूसरे कन्धे पर रखता है, तब वह समझता है कि मुझे विश्राम मिला, परन्तु वस्तुतः कोई अन्तर नहीं हुआ दोनों स्थितियों में। सांसारिक सुख का बोझ ढोने वाले मानवों की भी ठीक यही दशा है। कितना हृदयग्राही है यह उदाहरण एक दुःख दूसरे दुःख से शान्त होता है इसे सिद्ध करने में :—

स्कन्धात् स्कन्धे नयन् भारं विश्रामं मन्यते यथा।
तद्वत् सर्वमिदं लोके दुःखं दुःखेन शाम्यति।

(४), कर्म के फल को समझाने के लिए, किसान से बढ़कर कौन अच्छा उदाहरण हो सकता है। कृषि-प्रधान भारतवर्ष में कृषक हमारा चिर परिचित बन्धु है। जो वह बोता है वही वह काटता है। कर्म का सिद्धान्त इसी घरेलू तथ्य पर आश्रित है :—

कृषिकारो यथा देवि ! क्षेत्रे बीजं सुसंस्थितः।
यादृशं तु वपत्येव तादृशं फलमश्नुते ॥

—पद्म २।७।९

(५), नीच के व्यवहार के लिए पद्मपुराण की यह उपमा कितनी सुसंगत है। वह नीच, प्रायः दुःसह होता है जो किसी दूसरे से धन पाकर गर्म बन

जाता है। धन की ही तो वास्तविक गर्मी होती है। निर्धन तो हमेशा सुस्त, ठंढा और जड़ होता है। इस तथ्य पर आपको विश्वास न हो, तो सूरज और बालू के परस्पर व्यवहार को तो देखिये। सूर्य की गर्मी में तपने से ही शीतल बालू में गर्मी आ जाती है। परन्तु ऐसे सन्तप्त बालू का ताप सूर्य के ताप से कहीं बढ़कर होता है। कितना सच्चा है यह तथ्य और कितना हृदयंगम है यह दृष्टान्त। सूर्य की गर्मी तो सही जा सकती है, परन्तु बालू की गर्मी तो राही को तड़पा डालती है :—

अन्यस्माल् लब्धोष्मा नीचः प्रायेण दुःसहो भवति।
रविरपि न तपति तादृग् यादृशं तपति बालुकानिकरः॥

—पद्म ६।८।१४

(६) अपना ही निजी घनिष्ठ मित्र जब कष्ट पहुँचाता है, तो इस की शिकायत किससे की जाय? पति का व्यवहार पत्नी के लिए असह्य हो जाय अथवा विपरीत इसके पत्नी का आचरण पति के लिए क्लेशमय संकट उत्पन्न कर दे, तो इसकी शिकायत कौन किसके पास करे? इस घरेलू बात को समझाने के लिए श्रीमद्भागवत ने जीभ और दाँतों का उदाहरण दिया है। अपनी ही जीभ—सदा साथ रहने वाली जीभ—जब दाँतों से अपने को काट खाती है, उस समय उत्पन्न वेदना के लिए किस पर क्रोध किया जाय? जीभ भी अपनी और दाँत भी अपने। फिर शिकायत किसकी की जाय? बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त है :—

जिह्वा यदा स्वं दशति स्वदद्भिः
तद्वेदनायै कतमाय कुप्येत्॥

(६) किसी का चित्त किसी अन्य के प्रति प्रथमतः असूया (दूसरों के गुणों में दोष का आविष्करण) से आविष्ट था। अब यदि सम्पत्ति का आगमन उसके पास हो जाय, तो उसकी चित्तवृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके लिए नारदीयपुराण में एक बड़ी समीचीन उपमा प्रयुक्त की गई है—भूसे की आग को हवा का मिलना। जिस प्रकार हवा के चलने से भूसे की आग जो पहिले धीरे-धीरे सुलग रही थी अचानक धधक उठती है उसी प्रकार उस मनुष्य की घृणा भी पहिले से अधिक उदीप्त हो जाती है। गाँव का रहने वाला इस उपमा के औचित्य को बड़ी जल्दी समझ सकता है। इसके लिए अन्य उपमा उतनी क्रियाशील नहीं हो सकती :—

असूयाविष्टे मनसि यदि सम्पत् प्रवर्तते।
तुषाग्नि वायुसंयोगमिव जानीहि सुव्रत॥

—नारदीयपुराण १।७।१७

(७) काय की अनित्यता के विषय में पुराणों में एक युक्ति दी गई है जो नितान्त हृदयंगम है। वह युक्ति यह है कि प्रातःकाल संस्कृत अन्न (तैयार भोजन) सायंकाल होते-होते नष्ट हो जाता है—सड़ जाता है और खराब हो जाता है। उसी अन्न से तो यह शरीर पुष्ट हुआ है। तब इस शरीर में नित्यता कैसी ? जिस उपकरण से यह पुष्ट होकर बढ़ता है, वही इस प्रकार नाशशील है—एक दिन भी टिकने वाला नहीं, तब इस शरीर के विषय में नित्यता की आशा करना दुराशा नहीं, तो और क्या है ?

यत् प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति।
तदीयरस सम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥

—भागवत माहात्म्य, ५।६१

(८) लौकिक निरीक्षण का दृष्टान्त पुराणों में बड़ा ही सुन्दर मिलता है। संसार के विषयों की जितनी गम्भीर अनुभूति होती है उसका परिणाम भी उतना ही सार्वभौम तथा सार्वकालिक होता है। ज्ञान दृढ़ होने पर ही सफल होता है। शिथिल ज्ञान को मुर्दा ही समझना चाहिए। श्रुत-शास्त्र के श्रवण-की सफलता उसके सावधानता से कार्यरूप में परिणत करने से होती है। प्रमाद से युक्त होने से श्रुत नष्ट हो जाता है। वही दशा होती है मन्त्र की और जप की। सन्देहयुक्त होने से कोई भी मन्त्र फल नहीं देता और चित्त के व्यग्र होने पर जप से कोई लाभ नहीं होता। इस वर्णन की यथार्थता का प्रत्येक विज्ञ पुरुष साक्षी है :—

अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम्।
सन्दिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः॥

—तत्रैव, ७२ श्लोक।

आध्यात्मिक उपमायें

विष्णुपुराण तथा उसी का अनुकरण कर भागवत ने वर्षा तथा शरद् के वर्णन में आध्यात्मिक उपमाओं का प्रयोग किया है जो अपने साहित्यिक सौन्दर्य तथा गम्भीर दार्शनिक चिन्तन के निमित्त संस्कृत साहित्य में अनूठी हैं—अनुपम हैं। वस्तु-तत्त्व को हृदयंगम कराने के उद्देश्य से पुराण ने ऐसी कमनीय उपमायें प्रयुक्त की हैं। विष्णुपुराण के पंचम अंश के षष्ठ अध्याय में ३६ श्लो०—४२ श्लो० तक वर्षा के वर्णन में ये उपमायें पाई जाती हैं। इसी प्रकार इसी अंश के दशम अध्याय के आदिम १५ श्लोकों में शरद्-वर्णन के अवसर पर इनका प्रयोग तथा आकर्षण दर्शनीय है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के बीसवें अध्याय में वर्षा तथा शरत् का एकत्र वर्णन विष्णु० की अपेक्षा परि-

बृंहितरूप से उपलब्ध होता है जहाँ भागवतकार ने विष्णुपुराण से स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण कर ऐसी आध्यात्मिक उपमायें विन्यस्त की हैं। भागवत का ही अनुसरण कर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस[1] के किष्किन्धा काण्ड में इन्हीं का अक्षरशः अनुवाद कहीं प्रस्तुत किया है और कहीं कुछ नवीनता भी प्रदर्शित की है। कतिपय उदाहरण इस विषय के प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(१) न बबन्धाम्बरे स्थैर्यं विद्युदत्यन्तचञ्चला।
मैत्रीव प्रवरे पुंसि दुर्जनेन प्रयोजिता॥

—विष्णु ५।६।४२

दामिनि दमक रह न घन मांही
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं—रामचरितमानस

भागवत में बिजुली की क्षणिक चमकने की उपमा क्षणिक चित्त कामिनियों के पुरुषोंके प्रति किये जाने वाले व्यवहार से दी गई है—

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव॥

—भाग० १०।२०।१७

(२) वर्षाकाल में नदियों का जल पूरा भर जाने से उन्मार्ग से होकर बहने लगता है जैसे नई लक्ष्मी को पाकर दुष्ट पुरुषों का चित्त उच्छृंखल हो उठता है :—

ऊहुरुन्मार्ग-वाहीनि निम्नगाम्भांसि सर्वतः।
मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव॥

—विष्णु ५।६।३८

छुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहु धन खल इतराई॥

—रा० मा० पृ. २९९

(३) जोरों से पानी पड़ने से जल की प्रवल धारा से सेतु टूट गये हैं जैसे पाखण्डियों के असद्वाद से—बौद्धों और नास्तिकों के निन्दा वचनों से—कलियुग में वेदमार्ग टूट जाते हैं :—

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाखण्डिनामसद्-वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा॥

—भाग० १०।२०।२३

---

१. द्रष्टव्य रामचरितमानस (काशीराज सं०) किष्किन्धाकाण्ड १४-१७ दोहा तक, पृष्ठ २९९-३०१

(४) वर्षा में घास मनमाने तौर से बढ़ कर रास्ता रोक देती है, यात्रियों को जिसमे मार्गों की सत्ता के विषयमें सन्देह उत्पन्न होता है। इसके लिए उपमान दिया है जैसे द्विजों के द्वारा अभ्यास न की गई कालहत श्रुतियाँ :—

मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना असंस्कृताः।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव॥

—भाग० १०।२०।१६

तुलसीदासने पूर्वोक्त श्लोकों का भाव लेकर यह दोहा लिखा है—

हरितभूमि तृन संकुल समुझि परहि-नहि पंथ।
जिमि पाषंडवाद तें गुप्त होहिं सद्ग्रन्थ॥

(५) अब शरत् काल के वर्णन की ओर ध्यान दीजिये।

शनकैः शनकैस्तीरं तत्यजुश्च जलाशयाः।
ममत्वं क्षेत्र-पुत्रादि रूढमुच्चैर्यथा बुधाः॥

(जिस प्रकार क्षेत्र और पुत्रादिकों में बढ़ी हुई ममता को विवेकी जन शनैः शनैः त्याग देते हैं, वैसे ही जलाशयों का जल धीरे-धीरे अपने तटों को छोड़ने लगा)

(६) जल को बरसा देने पर उज्ज्वल मूर्ति धारण करने वाले मेघों की तुलना उन विज्ञानी जनों के साथ की गई है जो ममता छोड़ कर अपने घर का त्याग कर देते हैं :—

उत्सृज्य जल-सर्वस्वं विमलाः सितमूर्तयः।
तत्यजुश्चाम्बरं मेघा गृहं विज्ञानिनो यथा॥

—विष्णु० ५।१०।४

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्त-किल्विषाः॥

—भाग० १०।२०।३५

(७) पानी सूखने पर मछली अत्यन्त पीडित हो उठती है। इसकी उपमा दी गई है उन गृहस्थ पुरुषों से जो पुत्र-क्षेत्र आदि में लगी ममता से सन्ताप पाते हैं—

अवापुस्तापमत्यर्थं शफर्यः पल्वलोदके।
पुत्रक्षेत्रादि सक्तेन ममत्वेन यथा गृही॥

—विष्णु ५।१०।२

गाधवारिचरास्तापमविन्दन् शरदर्कजम्।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यजितेन्द्रियः॥

—भाग० १०।२०।३८

जलसंकोच विकल भइ मीना।
अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना॥

— रामचरितमानस

रूपकाश्रित वर्णन

पुराणों में रूपक अलंकार का आश्रय लेकर बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है किसी विशिष्ट वस्तु का। यह वर्णन इतना विस्तृत तथा विशद है कि वह विशिष्ट पदार्थ वर्णन के समकाल ही मानसनेत्रों के सामने उपस्थित हो जाता है। ऐसे प्रसंग में 'संसार' के स्वरूप का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। कभी वह समुद्र के साथ और कभी वह अटवी के साथ रूपक-विधया संतुलित कर वर्णित है। भवसागर का यह रूप ब्रह्मपुराण में (२६।१९-२१) बड़ी स्पष्टता से वर्णित है :—

कष्टेऽस्मिन् दुःखबहुले निःसारे भवसागरे।
रागग्राहाकुले रौद्रे विषयोदक-संप्लवे॥
इन्द्रियावर्तकलिले दृष्टोर्मिशत-संकुले।
मोहपङ्काविले दुर्गे लोभगम्भीरदुस्तरे॥
निमज्जज्जगदालोक्य निरालम्बमचेतनम्।

— ब्रह्म० २६।१९-२१

भवाटवी का बड़ा विशद वर्णन भागवत के पंचमस्कन्ध के १३ तथा १४ अध्यायों में दिया गया है। १३वें अध्याय में अटवी का आरोप संसार के ऊपर परम्परित रूपक के द्वारा क्रिया गया है और इस रूपक की विशद व्याख्या, जिसमें रूपक के अंग-प्रत्यंग का स्पष्टीकरण किया गया है, अगले १४ अ० में दी गई है। ये दोनों अध्याय काव्य की दृष्टि से भी नितान्त मञ्जुल-मनोहर हैं। दृष्टान्त की दृष्टि से एक दो श्लोक यहां उद्धृत क्रिये जाते हैं—

अदृश्य झिल्लीस्वन कर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा।
अपुण्य-वृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित्॥ ५॥
द्रुमेषु रंस्यन् सुतदार वत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने
क्वचित् प्रमादाद् गिरि कन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः॥ १८॥

—भाग० ५।१३

वाग्धेनु का रूपक भी इसी प्रकार पुराणों में उपन्यस्त है। वाग् अर्थात् वेदत्रयी का धेनु रूप में उपन्यास बृहदारण्यक (५।८) में मूलतः किया गया है। इसीका उपबृंहण मार्कण्डेयपुराण (२९।६-११) में और स्कन्दपुराण के धर्मारण्य खण्ड (६।५-१०) में किया गया है। दोनों स्थानों में एक ही कल्पना है। अवश्य ही उपबृंहण के अवसर पर कई नई बातों का उपन्यास धर्मारण्य वाले रूपक में किया गया है।[1]

यज्ञवराह के वर्णन में इस रूपकमयी शैली का प्रयोग पुराणकार ने विभिन्न पुराणों में किया है। वराह अवतार धारण कर नारायण ने वेदों का उद्धार किया, पृथिवी को पाताल से उठाकर स्वस्थान पर प्रतिष्ठित किया जिससे मानवों की लोकयात्रा का साधन संपन्न हुआ। इस अवसर पर वराह यज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह वर्णन मत्स्य (२४८।६७–७४), वायु (६।१६–२३), ब्रह्माण्ड (प्रक्रिया पाद ५।९–२३), ब्रह्म पुराण (२१३।३३–३७), पद्म (सृष्टि खण्ड १६।५–६१), में सात समान श्लोकों में पाया जाता है जो हरिवंश में भी उपलब्ध होते हैं (१।४१।२९–३५· ३।३४।३४–४१)। इन श्लोकों को विष्णु सहस्र–नाम के शाङ्करभाष्य में 'यज्ञाङ्ग' शब्द की व्याख्या के अवसर (श्लोक ११७) पर उद्धृत किया गया है। विष्णुपुराण (प्रथम अंश, ४।३२–३५) तथा भागवत (३।१३।३५–३८) में भी यह रूपक उपलब्ध होता है, परन्तु पूर्वोक्त श्लोकों की परम्परा से इन श्लोकों की परम्परा भिन्न है। इन श्लोकों में यज्ञ वराह का बड़ा ही विशद तथा गम्भीरार्थं प्रतिपादक स्वरूप अभिव्यक्ति पा रहा है।[2]

इसी प्रकार **अधर्मद्रुम** का बड़ा ही परम्परित रूपक उपलब्ध होता है पद्मपुराण में (२।११।१६–२२)।

पुराणों में कालिदास तथा बाणभट्ट की रचनाओं का भी प्रभाव प्रभूत मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। पद्मपुराण में अभिज्ञानशकुन्तल के कथानक का प्रभाव तद्वर्णित शाकुन्तलोपाख्यान पर विशेषरूप से पड़ा है; इसका उल्लेख पूर्व परिच्छेद में किया गया है। कुमारसम्भव का प्रभाव शिव-पार्वती के कथानक के पौराणिक वर्णनों पर जो पञ्चम शती के अनन्तर की रचनायें हैं निःसन्दिग्ध

---

१. दोनों की तुलना के लिए द्रष्टव्य श्री रामशंकर भट्टाचार्य–इतिहास पुराण का अनुशीलन पृष्ठ ४६–४८।

२. इस रूपक की विशद व्याख्या के लिए द्रष्टव्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का एतद्विषयक विस्तृत निबन्ध (पुराणम्, खण्ड ५ सं० २, जुलाई १९६३) पृष्ठ १९९–२३६।)

रूप से पड़ा है। शिवपुराण (८००–९०० ईस्वी) में वर्णित तत्कथानक के ऊपर कुमारसम्भव के श्लोकों की स्पष्ट प्रतिच्छाया दृष्टिगोचर होती है।

रुद्रसंहिता के पार्वती खण्ड के २२ अ० से लेकर ३३ अ० तक पार्वती की तपस्या, जटिल के साथ संवाद, सप्तर्षि का आगमन तथा उनके उद्योग से शिव द्वारा विवाह की स्वीकृति आदि विषय बड़े विस्तार तथा वैशद्य से वर्णित हैं। इन अध्यायों के श्लोकों पर कुमारसम्भव का शब्दतः और अर्थतः दोनों प्रकार का प्रभाव स्पष्टतः अङ्कित है। दोनों स्थानों के तुलनात्मक अध्ययन से इस प्रभाव की अभिव्यक्ति स्पष्ट शब्दों में होने लगती है। कालिदास की चुभती उक्तियाँ यहाँ निःसन्देह गृहीत कर ली गई हैं। इस विषय के प्रमापक कतिपय दृष्टान्त ही पर्याप्त होंगे।

उमा का नामकरण—

तपोनिषिद्धा तपसे वनं गन्तुं च मेनया।
हेतुना तेन सोमेति नाम प्राप शिवा तदा॥

—रुद्रसंहिता, पार्वती खण्ड, २२।२५

अपर्णा का नामहेतु :—

आहारे त्यक्तपर्णाऽभूत् यस्माद् हिमवतः सुता।
तेन देवैरपर्णेति कथितो नामतः शिवा॥

—वही, श्लोक ४९।

सखी का उत्तर :—

हित्वेन्द्र-प्रमुखान् देवान् हरिं ब्रह्माणमेव च।
पतिं पिनाकपाणिं वै प्राप्तुमिच्छति पार्वती॥ ३७॥
इयं सखी मदीया वै वृक्षानारोपयत् पुरा।
तेषु सर्वेषु संजातं फलपुष्पादिकं द्विज॥ ३८॥

× × ×

मनोरथः कुतस्तस्या न फलिष्यति तापस॥ ४०॥

—वही, २६ अ०

ब्रह्मचारी द्वारा दोनों को वैषम्य का प्रकाश :—

वेणी शिरसि ते देव्याः सर्पिणीव विभासिता।
जटाजूटं शिवस्यैव प्रसिद्धिं परिचक्षते॥ २६॥
चन्दनं च त्वदीयाङ्गे चिताभस्म शिवस्य च।
क दुकूलं त्वदीयं वै शाङ्करं क गजाजिनम्॥ २७॥

यदि द्रव्यं भवेत् तस्य कथं स स्यात् दिगम्बरः।
वाहनं च बलीवर्दः सामग्री तस्य कापि न ॥ ३१ ॥
वरेषु ये गुणाः प्रोक्ताः नारीणां सुखदायकाः।
तन्मध्ये हि विरूपाक्षे न एकोऽपि गुणः स्मृतः ॥ ३२ ॥

—वही, २७ अ०

शिव द्वारा पार्वती का स्वीकरण :—

अद्य प्रभृति ते दासस्तपोभिः क्रीत एव च।
क्रीतोऽस्मि तव सौन्दर्यात् क्षणमेकं युगायते ॥ ४४ ॥

× × ×

सर्वः श्रमो विनष्टोऽभूत् सत्यास्तु मुनिसत्तमः।
फले जाते श्रमः पूर्वो जन्तोर्नाशमवाप्नुयात् ॥ ५० ॥

—वही २८ अ०

इन पद्यों पर कालिदासीय पद्यों की इतनी स्पष्ट छाया है कि कुमारसम्भव का सामान्य विद्यार्थी भी मूल श्लोकों का संकेत अनायासेन समझ सकता है। उसे बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। कालिदास के पद्यों का ऊपर सरल विवरण (पाराफ्रेज) कर दिया गया है।

ब्रह्मपुराण में शिव-पार्वती के विवाह का बड़ा ही कमनीय वर्णन किया गया है। विशेष बात यह है कि यहां अध्याय ३६ में पार्वती का स्वयंवर बड़े समारोह के साथ वर्णित है और उसी प्रकार शिव-पार्वती का विवाह भी इसी अध्याय में वर्णित है। इस अवसर पर छहों ऋतुयें अपने प्राकृतिक वैभव के साथ उपस्थित होती हैं। इन षट् ऋतुओं का बड़ा ही चमत्कारी तथा साहित्यिक वर्णन पुराणकार की प्रतिभा से सम्पन्न उपलब्ध होता है (श्लोक ७० से लेकर १२४ श्लो० तक) इन पद्यों में काव्यगत समस्त सौन्दर्य उपस्थित है। इन ५४ पद्यों का यह समुच्चय ऋतुकाव्य की समस्त शोभा से मण्डित और दिव्य आमोद से प्रफुल्लित एक महनीय लघु काव्य ही है।

स्त्रियों की मोहकता के विषय में यह पुराण (१५२ अ०) बड़ी रुचिर भाषा का प्रयोग कर कह रहा है :—

तावद् धैर्य-निधिर्ज्ञानी मतिमान् विजितेन्द्रियः।
यावन्न कामिनी-नेत्र-वागुराभिर्निबध्यते ॥ ६ ॥
विशेषतो रहःसंस्थां कामिनीमायतेक्षणाम्।
विलोक्य न मनो याति कस्य कामेषु वश्यताम् ॥ ७ ॥

बाणभट्ट अपनी परिसंख्याओं के लिए संस्कृत काव्य जगत् में नितान्त विश्रुत हैं। श्लेषविहीन परिसंख्या में भी चमत्काराधान कम नहीं होता, परन्तु श्लेष का पुट पाकर परिसंख्या चमक उठती है। काशीखण्ड के राज्य वर्णन के अवसर पर २४ अध्याय में बड़ी सुन्दर परिसंख्यायें प्रयुक्त हैं ठीक बाणभट्ट की शैली पर, जिनके ऊपर कादम्बरी की प्रख्यात परिसंख्याओं की अमिट छाप पड़ी है। इस विषय के दो-चार उदाहरण ही पूर्वोक्त तथ्य की पुष्टि के निमित्त यहां दिये जाते हैं :—

विभ्रयो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित् ।
नद्यः कुटिलगामिन्यो न यत्र विषये प्रजाः ॥ ९ ॥
तमो-युक्ताः क्षपा यत्र बहुलेषु, न मानवाः ।
रजोजुषः स्त्रियो यत्र, न धर्मबहुला नराः ॥ १० ॥

[यहां प्रथम पद्य में विभ्रम (विलास तथा विशेष भ्रम) तथा 'कुटिल' (टेढ़ा-मेढ़ा भौतिक अर्थ में तथा कुमार्ग अन्यत्र) शब्द श्लिष्ट हैं। दूसरे पद्य में भी तमस् तथा रजस् शब्द श्लिष्ट हैं जिसके दोनों अर्थ सरल हैं। बहुलेषु तथा धर्मबहुला पदों में 'बहुल' दो विभिन्न अर्थों का प्रतिपादक है—(क) कृष्ण पक्षों में तथा (ख) धर्म के आधिक्य से सम्पन्न।]

धनैरनन्धो यत्रास्ति मनो, नैव च भोजनम् ।
अनयः स्यन्दनं यत्र न च वै राजपुरुषः ॥ ११ ॥

[आशय है—जहां मन धनों के पाने पर भी अन्धा नहीं है। गर्व मानव को अन्धा बना देता है, परन्तु वहां धन प्राप्ति होने पर भी किसी का मन अभिमान से अन्धा नहीं था। अनन्धता मन में ही थी, भोजन में नहीं। इस पक्ष में शब्द का अर्थ होगा—भात से रहित अर्थात् भोजन में भात विद्यमान था। जहां रथ ही 'अनयस्' (अन् + अयस् = लोहा) लोहा से विहीन था, वहां के राजकर्मचारी 'अनय' (नीतिविहीन) नहीं थे। इस छोटे से अनुष्टुप् में कितना गम्भीर तात्पर्य भरा हुआ है। श्लेष प्रसन्न-गम्भीर है। परन्तु काव्यगत दोष भी सूक्ष्मेक्षिकया दृष्टिगोचर होता है। भोजन के साथ 'अनन्धः का प्रयोग 'अन्धस्' शब्द के सकारान्त होने के कारण नितान्त उचित है, परन्तु मनः के साथ सम्बद्ध होने के लिए 'अनन्धं' होना चाहिये 'अन्धः' शब्द के अकारान्त होने के कारण। अतः 'अनन्धः' शब्द का प्रयोग अनुचित है व्याकरणरीत्या]

इभा एव प्रमत्ता वै युद्धं वीच्योर्जलाशये ।
दान-हानिर्गजेष्वेव द्रुमेष्वेव हि कण्टकाः ॥ १७ ॥
जनेष्वेव हि विहारा हि न कस्यचिदुरःस्थली ।
बाणेषु गुण-विश्लेषो बन्धोक्तिः पुस्तके दृढा ॥ १८ ॥

यत्र क्षपणका एव दृश्यन्ते मल धारिणः।
प्रायो मधुव्रता एव यत्र चञ्चलवृत्तयः॥ २१॥

—वही २४ अ०

श्लेष की प्रसन्न-गम्भीरता दर्शनीय है। सभंग श्लेष में ही प्रायः काठिन्य का प्रादुर्भाव होता है, अभंग श्लेष में काठिन्य स्वल्प रहता है। ऊपर के पद्य में अभंग श्लेष की ही शोभा विलसित होता है। फलतः ये पद्य काव्यदृष्ट्या अत्यन्त, रुचिर तथा आवर्जक हैं।

वर्णन में पुराणकार की प्रतिभा खिलती है। कथा के विवरण देने में सुबोध शैली अपनाई गई है। कथा के विविध विस्तार क्रम से प्रवाहित होते रहते हैं। पुराणों में पदार्थों के वर्णन भी वड़े सुन्दर आलङ्कारिक तथा चमत्कारी हैं। काशी के उद्यान का वर्णन इस विषय में दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया जा सकता है। काशी के उद्यान अपनी सुषमा के लिए चिरकाल से प्राचीनों में विख्यात थे। ऐसा होना उचित ही है। काशी का नाम ही जो आनन्द-कानन ठहरा। फलतः आनन्द-कानन के उद्यानों की चारुता पुराणों की प्रतिभा का विषय है। २१ श्लोकों में निवद्ध यह उद्यानशोभा-वर्णन मत्स्य-पुराण में (१७९ अ० २२-४४ श्लो०) तथा लिङ्गपुराण में (पूर्वार्ध ९२। १२-३३) एक ही रूप में उपलब्ध होता है। विषय के अनुरूप छन्दों का भी यहाँ चुनाव किया गया है। महत्त्वपूर्ण होने से यह पद्यावली परिच्छेद के अन्त में परिशिष्ट रूप से उद्धृत है। यहां दो-चार दृष्टान्त ही पर्याप्त होंगे :—

क्वचिच्च चक्राह्वरवोपनादितं
क्वचिच्च कादम्बकदम्बकैर्युतम्।
क्वचिच्च कारण्डव-नाद-नादितं
क्वचिच्च मत्तालिकुलाकुलीकृतम्॥ २७॥
निविड निचुलनीलं नीलकण्ठाभिरामं।
मदमुदित-विहङ्गव्रात-नादाभिरामम्॥
कुसुमित-तरुशाखा-लीनमत्तद्विरेफं।
नव किसलय शोभा शोभित प्रान्त शाखम्॥ ३१॥

शब्दों के नोंक-झोंक के कारण यह वर्णन नितान्त सुभग तथा चित्रोत्पादक है। इसे पढ़ते समय प्रतीत होता है कि यह किसी कमनीय काव्य का रसमय अंश है। इसे पुराण के अंश होने का आभास भी नहीं होता, परन्तु है यह पुराण का ही अंश।

पौराणिक सूक्तियां

पुराण में सुभाषितों तथा सूक्तियों का विशद अस्तित्व है। इन सूक्तियों में दीर्घकाल के अनुभव से जायमान परिणत उपदेश दिये गये हैं, जो नीतिशास्त्र के समान नीरस न होकर सरस सुबोध हैं और इसीलिए वे श्रोता के हृदय पर गहरी चोट करते हैं और उसे रुचिरता से प्रभावित करते हैं। इस विषय में कतिपय सुभाषित यहां दिये जाते हैं :—

(क) आशा

(१) आशायाश्चैव ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

—नारदीय, पूर्वार्ध, ११।१५१

आशा भङ्गकरी पुंसामजेयाराति–सन्निभा
तस्मादाशां त्यजेत् प्राज्ञो यदीच्छेच्छाश्वतं सुखम्॥

—वही ३५।२४

आशाभिभूता ये मर्त्या महामोहा मदोद्धताः।
अवमानादिकं दुःखं न जानन्ति कदाप्यहो॥

—वही ३५।२७

(ख) सुजन

(२) जडोऽपि याति पूज्यत्वं सत्सङ्गाज्जगतीतले।
कलामात्रोऽपि शीतांशुः शम्भुना स्वीकृतो यथा॥

—वही ८।८

सुजनो न याति वैरं परहितबुद्धिर्विनाशकालेऽपि।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य॥

—वही ३७।३५

सत्सङ्गः परमो ब्रह्मन्न लभ्येताकृतात्मनाम्।
यदि लभ्येत, विज्ञेयं पुण्यं जन्मान्तरार्जितम्॥

—वही ४।३५

संगमः खलु साधूनामुभयेषां च संमतः।
यत्–संभाषण संप्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम्॥

—भाग० ४।२२।१९

(३) संरोहतीषुणा विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम्॥

—वामनपुराण ५४।७

(४) धनक्षये न मुह्यन्ति न हृष्यन्ति धनागमे।
धीराः कार्येषु च तदा भवन्ति पुरुषोत्तमाः॥

—वही ७७।५०

(५) आपद्भुजगदष्टस्य मन्त्रहीनस्य सर्वदा।
वृद्धवाक्यौषधान्येव कुर्वन्ति किल निर्विषम्॥

—वही ९५।७९

(६) आपज्जल-निमग्नानां ह्रियतां व्यसनोर्मिभिः।
वृद्धवाक्यैर्विना नूनं नैवोत्तारः कथञ्चन॥

—वही ९५।८३

(७) पण्डिते वापि मूर्खे वा दरिद्रे वा श्रियान्विते।
दुर्वृत्ते वा सुवृत्ते वा मृत्योः सर्वत्र तुल्यता॥

—नारदीय १।७।५९

(८) जीवतः पितरौ यस्य मातुरङ्कगतो यथा।
षष्टिहायन वर्षोऽपि द्विहायनवच्चरेत्॥

—शान्ति

(९) यस्य भार्या विरूपाक्षी कश्मला कलहप्रिया।
उत्तरोत्तरवादास्या सा जरा न जरा जरा॥

—गरुड १०८।२३

(१०) अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा।
असम्भोगश्च नारीणां वस्त्राणामातपो जरा॥

—वही १०८।२४

(११) यदि न स्याद् गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत्॥

—भागवत ४।२६।१५

(१२) मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः॥

—वही १।१६।९

(१३) किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः॥

—वही २।१।१२

(१४) शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि॥

—वही २।८।४

(१५) यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यन्त्यन्तरितो जनः ॥ १५ ॥

—वही ३।७।१७

(१६) गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरनुभूयते ॥

—वही ४।८।३४

(१७) यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

—वही ७।१४।८

(१८) असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः ।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥

—वही ७।१५।१९

(१९) यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ।
आशासानो न वै भृत्य स्वामिन्याशिष आत्मनः ।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ॥

—वही ७।१०।४-५

(२०) अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम् ।
संदिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः ॥

—भागवत माहात्म्य ५।७३

श्रीमद्भागवत का वैशिष्ट्य

श्रीमद्भागवत का पुराण साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान है। पुराण का एकमात्र समुज्ज्वल प्रतिनिधि यही श्रीमद्भागवत माना जाता है। इसीलिए पुराण के नाम लेते ही भागवत की ही भव्य मूर्ति श्रोताओं के मानस-पटल के सामने झूलने लगती है। संस्कृत के वाङ्मय का भागवत एक अलौकिक रसमय प्रतिनिधि है, वाङ्मय के विविध प्रकारों—वेद, पुराण तथा काव्य—का श्रीमद्भागवत अकेले ही बोधन कराता है अर्थात् यह शब्दप्रधान वेद के समान आज्ञा देता है; अर्थप्रधान पुराण के समान हित का उपदेश करता है तथा रसप्रधान काव्य के समान यह रसामृत से पाठकों तथा श्रोताओं को मुग्ध बना देता है। अतः एक होने पर भी यह त्रिवृत् है—त्रिगुणों से सम्पन्न है। मुक्ताफल की यह भागवतस्तुति[1] अर्थवाद नहीं है, तथ्यवाद है :—

---

१. श्री जीव गोस्वामी ने अपने कथन के प्रमाण रूप में इस पद्य को भी भागवत सन्दर्भ के अन्तर्गत 'तत्त्वसन्दर्भ' में उद्धृत किया है। द्रष्टव्य तत्त्व-सन्दर्भ पृष्ठ ७४, कलकत्ता, चैतन्य सं० ४३३ में प्रकाशित।

वेदः पुराणं काव्यं च प्रभुर्मित्रं प्रियेव च।
बोधयन्तीति हि प्राहुस्त्रिवृद् भागवतं पुनः ॥

इस परिच्छेद में हम भागवत के काव्य स्वरूप से अपने पाठकों को परिचित कराना चाहते हैं। रसमय काव्य के सकल लक्षण भागवत में संपिण्डित होकर एकत्र विद्यमान हैं। इसके पद्यों में श्रोताओं के हृदयावर्जन की लोकातीत क्षमता है। त्रिविध रूप की सत्ता इसके कठिन्य का भी कारण है, परन्तु इसके स्तुति-अंशों में तथा वर्णन-अंश में विचित्र प्रतिभा का विलास है तथा अमृतमय शब्दों का भव्य विन्यास है।

श्रीमद्भागवत का काव्य सौन्दर्य

श्रीमद्भागवत की कविता में अद्भुत चमत्कार है जो सैकड़ों वर्षों से सहृदय पाठकों को अपनी शब्दमाधुरी तथा अर्थचातुरी से हठात् आकृष्ट करता आ रहा है। नवीन साहित्यिक परिस्थिति के उदय ने भी इस आकर्षण में किसी प्रकार की न्यूनता उत्पन्न नहीं की है। भागवत रस तथा माधुर्य का अगाध स्रोत है। नाना परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले, मानव हृदय को उद्वेलित करने वाले भावों के चित्रण में भागवत अद्वितीय काव्य है। इसमें हृदय-पक्ष का प्राधान्य होने पर भी कला-पक्ष का अभाव नहीं है। मथुरा तथा द्वारिका का वर्णन जितना कलात्मक है, उतना ही स्वाभाविक तथा यथार्थ है नाना भयानक युद्धों का चित्रण। केशी नामक असुर ने अश्व का विकरालरूप धारण कर श्रीकृष्ण को अपने कौशल का परिचय दिया है, वह वर्णन (१०।३७) यथार्थता के कारण पाठकों के सामने झूलने लगता है। इसी प्रकार मगध-नरेश जरासन्ध तथा भीमसेन के प्रलयङ्कर गदायुद्ध का सातिशय रोमांचकारी चित्रण भागवत में फड़कती भाषा में किया गया है (१०।७२)। द्वारिका-पुरी के वर्णन प्रसङ्ग में झरोखों से निकलने वाले अगुरु धूप को देख कर श्याम मेघ की भावना से वलभी-निवासी मत्त मयूरों का यह नर्तन कितना सुखद तथा मनोहर प्रतीत होता है :—

रत्नप्रदीपनिकर-द्युतिभिर्निरस्त-
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥

—भाग० १०।६९।१२

उतना ही स्वाभाविक है मधुपुरी में कृष्णचन्द्र के आगमन की वार्ता सुनकर उतावली में अपनी शृंगारभूषा को बिना समाप्त किये ही झरोखों से

झाँकने वाली ललित ललनाओं का ललाम वर्णन। आलोचकों की दृष्टि में भागवत का ऋतु वर्णन भी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए नितान्त प्रख्यात है। दशम स्कन्ध के एक समग्र अध्याय में प्रावृट् तथा शरद ऋतु का यह आध्यात्मिकता मण्डित वर्णन वस्तुतः अनुपम तथा चमत्कारी है। वर्षा की धाराओं से ताड़ित होने पर भी किंचिन्मात्र न व्यथित होने वाले पर्वतों की समता उन भगवन्निष्ठ भक्तजनों के साथ दी गई है जो विपत्तियों के द्वारा ताड़ित होने पर भी किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं होते। पवन से ऊंची उठती हुई तरङ्गमाला से युक्त समुद्र नदियों के समागम से उसी प्रकार क्षुब्ध होता है जिस प्रकार कच्चे योगी का वासनापूर्ण चित्त विषयों के संपर्क में पड़कर क्षुब्ध हो उठता है। शरद् भी उतनी ही चारुता के साथ वर्षा के अनन्तर आती है और अपनी रुचिरता की भव्य झांकी पृथ्वी पर दिखलाती है। रात के समय चन्द्रमा प्राणियों के सूर्य की किरणों से उत्पन्न ताप को दूर करता है। विमल ताराओं से मण्डित मेघहीन गगनमण्डल उसी तरह चमकता है, जिस प्रकार शब्द ब्रह्म के द्वारा अर्थ का दर्शन प्राप्त कर योगियों का सात्त्विक चित्त विकसित हो उठता है :—

> खमशोभत निर्मेघं शरद् विमल-तारकम्।
> सत्त्वयुक्तं यथाचित्तं शब्दब्रह्मार्थ-दर्शनम्॥

गोसाईं तुलसीदास का सुप्रसिद्ध वर्षा तथा शरद वर्णन भागवत के इसी वर्णन के आधार पर है, इसे विशेषरूप से बतलाने की आवश्कता नहीं।

परन्तु भागवत का सबसे अधिक मधुर तथा सुन्दर अंश है गोपियों की श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति ललित प्रेमलीला का रुचिर चित्रण। गोपियां भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों पर अपने जीवन को समर्पण करने वाली भगवन्निष्ठ प्रेमिकायें ठहरीं। उनकी संयोग तथा वियोग उभय प्रकार की भावनाओं के चित्रण में कवि ने अपनी गहरी अनुभूति तथा गम्भीर मनोवैज्ञानिक भाव-विश्लेषण का पूर्ण परिचय दिया है। ऐसे प्रसङ्ग जहाँ वक्ता अपने हृदय की अन्तरतम गुहा में कल्लोलित भावों की अभिव्यक्ति करता है 'गीत' के नाम से अभिहित किये गये हैं। इन गीतों का प्राचुर्य दशम स्कन्ध में उपलब्ध होता है। वेणु गीत, गोपी गीत, युगल गीत, महिषी गीत, आदि भागवत के ऐसे ललित प्रसङ्ग हैं जिनमें कवि की वाणी अपनी भव्य माधुरी प्रदर्शित कर रसिकों के हृदय में उस मनोरम रस की सृष्टि करती है जिसे आलोचक 'भागवतरस' के महनीय नाम के पुकारते हैं। कृष्ण के विरह में व्याकुल महिषी-जनों का यह उपालम्भ कितना मीठा तथा तलस्पर्शी है :—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चित् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिन-नयनहासोदार-लीलेक्षितेन ॥

—१०।९०।१५

हे कुररि। संसार में सब ओर सन्नाटा छाया हुआ है। इस समय स्वयं भगवान अपना अखण्ड बोध छिपाकर सो रहे हैं। परन्तु तुझे नींद नहीं? सखी, कमलनयन भगवान के मधुर हास्य और लीला भरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी ही तरह विंध तो नहीं गया है?

वेणुगीत (भागवत १०।२१) में कृष्ण के मुरलीवादन के विश्वव्यापी प्रभाव का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा इतनी मधुरता से किया गया है कि पाठक के हृदय में एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। मुरली का प्रभाव केवल जङ्गम प्राणियों के ही ऊपर नहीं है; प्रत्युत स्थावर जगत में भी वह उतना ही जागरूक तथा क्रियाशील है। नदियों का वेणुगीत को आकर्षण कर यह आचरण जितना मधुर है, उतना ही स्वाभाविक है—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्त-लक्षित-मनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥

—भाग० १०।२१।१५

नदियां भी मुकुन्द के गीत को सुनकर भंवरों के द्वारा अपने हृदय में श्यामसुन्दर से मिलने की तीव्र आकाङ्क्षा प्रकट कर रही हैं। उसके कारण इनका प्रवाह रुक गया है। ये अपने तरङ्गों के हाथों से उनका चरण पकड़ कर कमल के फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं। और उनका आलिङ्गन कर रही हैं मानों उनके चरणों पर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं।

रास पंचाध्यायी—भागवत का हृदय है जिस में व्यास जी ने कृष्ण और गोपियों के बीच रासलीला का सुमधुर वर्णन किया है। इसका आध्यात्मिक महत्व जितना अधिक है साहित्यिक गौरव भी उतना ही विपुल है। गोपियों ने कृष्ण के अन्तर्ध्यान होने पर अपने भावों की अभिव्यक्ति जिन कोमल शब्दों में की है वह नितान्त रुचिर तथा सरस है। गोपीगीत का यह पद्य कितना सरस तथा सरल है :—

तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि, गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

—१०।३१।९

अर्थात आपकी कथा अमृत है क्योंकि वह संतप्त प्राणियों को जीवन देती है। ब्रह्मज्ञानियों ने भी देव-भोग्य अमृत को तुच्छ समझ कर उसकी प्रशंसा की है। वह सब पापों को हरने वाली है अर्थात् काम्यकर्म का निरास करने वाली है। श्रवणमात्र से मंगलकारिणी और अत्यन्त शान्त है। ऐसे तुम्हारे कथामृत को विस्तार के साथ जो पुरुष गाते हैं उन्होंने पूर्व जन्म में बहुत दान किये है। वे बड़े पुण्यात्मा हैं।

भ्रमर गीत (भाग० १०।४७।१२-२१) भागवत का एक मार्मिक हृदयावर्जक गीति काव्य है जिसकी प्रेरणा प्राप्त कर सैकड़ों भ्रमर गीत तथा उद्धवदूत हिन्दी तथा संस्कृत भाषा में निबद्ध होकर रसिकों का आज भी हृदयावर्जन करते हैं। भ्रमरगीत में केवल १० ही श्लोक हैं, परन्तु इनके भीतर गम्भीर रस का परिपाक काव्यरसिकों के चित्त को बलात् आकृष्ट करता है। इसमें उपालम्भ की भावना ही प्रामुख्येन अभिव्यक्त की गई है तथा श्रीकृष्ण के ऊपर अकृतज्ञ तथा क्षणभिन्न-सौहृद् होने का गम्भीर आरोप लगाया गया हैं। भ्रमरगीत की गम्भीर मीमांसा साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से भागवत के टीकाकारों ने बड़ी मार्मिकता के साथ की है। श्रीकृष्ण के ऊपर गम्भीर आरोप के प्रसंग में गोपियाँ कहती हैं:—

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयत् ध्वांक्षवद् यः
तदलमसितसख्यैः दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥

—भाग० १०।४७।१७

[व्याधा के धर्म का अनुसरण करनेवाले राम ने व्याधा के समान कपिराज बाली को मार डाला; अपनी पत्नी सीता के वश में होकर राम ने काम से आसक्त शूर्पणखा की नाक काट कर कुरूप बना दिया। बलि का सर्वस्व ग्रहण करके भी उसे पाताल में भेज दिया जिस प्रकार कौआ बलि खाकर बलि देने वाले को अपने साथियों के साथ घेर कर परेशान किया करता है; बस, हमको कृष्ण से भी क्या ? हमें तो समस्त काली वस्तुओं के साथ मित्रता से कोई भी प्रयोजन नहीं है। तब कृष्ण के प्रति अनुरक्त तुम लोग क्यों हो ? इसका उत्तर है कि जिसे एक बार भी चसका लग गया है, उसके लिए उसकी चर्चा छोड़ना बड़ा ही कठिन है।]

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददन-विधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।

सपदि गृह-कुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥

—(भाग० १०।४७।१८)

[श्रीकृष्ण कथा की दुस्त्यजता का भाष्य इस रुचिर पद्य में किया गया है। उनके लीलामृत का एक बूँद भी जिन्होंने अपने कानों से सेवन किया है, उनके राग-द्वेष आदि द्वन्दों का सर्वथा नाश हो जाता है और वे अपने दीन गृह-कुटुम्ब को छोड़ कर स्वयं अकिञ्चन हो जाते हैं। चुन-चुन कर चारा चुँगनेवाली चिड़ियों की तरह वे भी भीख माँग कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। वे दीन दुनिया से जाते रहते हैं, परन्तु फिर भी कृष्ण की लीलाकथा नहीं छोड़ते। हमारी भी ऐसी ही दशा है। दुनिया से नाता छोड़ देना हमारे लिए सहज है, परन्तु उस श्याम सुन्दर से प्रेम का नाता हम छोड़ नहीं सकतीं। ठीक ही है—दुस्त्यजस्तत्कथार्थः।]

इसी शब्दमाधुरी तथा भावमाधुरी के कारण भागवत शताब्दियों से भक्ति-प्रवण भक्तों तथा कवियों को समभावेन उत्साह, स्फूर्ति तथा प्रेरणा देता हुआ चला आ रहा है। आज भी उसकी उपजीव्यता किसी भी अंश में घटकर नहीं है।

कृष्णभक्ति कवि का वर्ण्य विषय है—बालकृष्ण की माधुर्यगर्भित ललित लीलायें। फलतः उसकी दृष्टि श्रीकृष्ण के लोकरंजक रूप के ऊपर ही टिकी रहती है। मानव की कोमल रागात्मिका वृत्तियों की अभिव्यक्ति में कृष्णभक्त कवि सर्वथा कृतकार्य तथा समर्थ होता है। वैष्णवधर्म के उत्कृष्ट प्रभाव से भारतीय साहित्य, सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्स है, जीवन की कोमल तथा ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है; जीवनसरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करने वाला मानसरोवर है। हमारे साहित्य में प्रगीत मुक्तकों के प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा शृङ्गार की नाना अभिव्यक्तियों के चारुचित्रण से हमारा साहित्य जितना सरस तथा रस-स्निग्ध है, उतना ही वह कोमल तथा हृदयावर्जक है। भक्त हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्मसमर्पण की भावना से इन कृष्ण-काव्यों की रचना का श्रेय श्रीमद्-भागवत को देना चाहिए।

परिशिष्ट

काशी—उद्यान वर्णन

प्रोत्फुल्ल नानाविध गुल्मशोभितं लताप्रतानावनतं मनोहरम् ।
विरूढ पुष्पैः परितः प्रियङ्गुभिः सुपुष्पितैः कण्टकितैश्च केतकैः ॥२४॥
तमालगुल्मैर्निचितं सुगन्धिभिः सकर्णिकारैर्बकुलैश्च सर्वशः ।
अशोक पुन्नागवरैः सुपुष्पितैर्द्विरेफमालाकुल पुष्पसञ्चयैः ॥२५॥
क्वचित् प्रफुल्लाम्बुजरेणुरूषितैर्विहङ्गमैश्चारुकलप्रणादिभिः ।
विनादितं सारसमण्डनादिभिः प्रमत्तदात्यूहरुतैश्च वल्गुभिः ॥२६॥
क्वचिच्च चक्राह्वरवोपनादितं क्वचिच्च कादम्बकदम्बकैर्युतम् ।
क्वचिच्च कारण्डव नादनादितं क्वचिच्च मत्तालिकुलाकुलीकृतम् ॥२७॥
मदाकुलाभिस्त्वमराङ्गनाभिर्निषेवितञ्चारु सुगन्धि पुष्पम् ।
क्वचित् सुपुष्पैः सहकारवृक्षैर्लतोपगूढैस्तिलकद्रुमैश्च ॥ २८ ॥
प्रगीत विद्याधर सिद्धचारणं प्रवृत्तनृत्याप्सरसाङ्गणाकुलम् ।
प्रहृष्ट-नानाविध-पक्षि सेवितं प्रमत्त हारीत कुलोपनादितम् ॥ २९ ॥
मृगेन्द्रनादाकुल सत्वमानसैः क्वचित् क्वचित् द्वन्द्व कदम्बकैर्मृगैः ।
प्रफुल्ल नानाविध चारुपङ्कजैः सरस्तटाकैरुपशोभितं क्वचित् ॥ ३० ॥

निविडनिचुलनीलं नीलकण्ठाभिरामं
मदमुदित विहङ्गव्रातनादाभिरामम् ।
कुसुमित तरुशाखा लीनमत्त द्विरेफं
नवकिसलय शोभाशोभित प्रान्तशाखम् ॥ ३१ ॥

क्वचिच्च दन्तिक्षत चारु वीरुधं क्वचिल्लतालिङ्गित चारुवृक्षकम् ।
क्वचिद्विलासालसगामि बर्हिणं निषेवितं किं पुरुषव्रजैः क्वचित् ॥३२॥
पारावतध्वनि विकूजित चारुशृङ्गैरभ्रङ्कषैः सितमनोहर चारुरूपैः ।
आकीर्णपुष्प निकुरुम्ब विमुक्तहासैर्विभ्राजितं त्रिदशदेवकुलैरनेकैः ॥३३॥

फुल्लोत्पलागुरुसहस्र वितानयुक्तै-
स्तोयाशयैस्तमनुशोभितदेवमार्गम् ।
मार्गान्तरागलितपुष्प विचित्रभक्ति-
सम्बद्धगुल्म विटपैर्विहगैरुपेतम् ॥ ३४ ॥

तुङ्गाग्रैर्नीलपुष्पस्तवकभरनतप्रान्तशाखैरशोकै-
र्मत्तालिव्रात गीतश्रुतिसुखजननैर्भासितान्तर्मनोज्ञैः ।
रात्रौ चन्द्रस्य भासा कुसुमित—तिलकैरेकतां सम्प्रयातं
च्छाया सुप्त प्रबुद्ध स्थितहरिण कुलालुप्तदर्भाङ्कुराग्रम् ॥ ३५ ॥
हंसानां पक्षपात प्रचलित कमल स्वच्छ विस्तीर्णतोयम् ।

तोयानां तीरजातं प्रविकच कदलीवाट नृत्यन्मयूरम् ।
मायूरैः पक्षचन्द्रैः क्वचिदपि पतितै रञ्जितक्ष्माप्रदेशम्
देशे देशे विकीर्णप्रमुदित विलसन्मत्तहारीत वृक्षम् ॥ ३६ ॥

सारङ्गैः क्वचिदपि सेवित-प्रदेशं
सच्छन्नं कुसुमचयैः क्वचिद्विचित्रैः ।
हृष्टाभिः क्वचिदपि किन्नराङ्गनाभिः
क्षीवाभिः समधुरगीत वृक्षखण्डम् ॥ ३७ ॥

संसृष्टैः क्वचिदुपलिप्त कीर्णपुष्पै-
रावासैः परिवृत पादपं मुनीनाम् ।
आमूलात् फलनिचितैः क्वचिद्विशालै-
रुत्तुङ्गैः पनसमहीरुहैरुपेतम् ॥ ३८ ॥

फुल्लातिमुक्तकलतागृह सिद्धलीलं
सिद्धाङ्गना कनक नूपुर नादरम्यम् ।
रम्यप्रियङ्गु तरुमञ्जरि सिक्त भृङ्गं
भृङ्गावलीषु स्खलिताम्बु कदम्बपुष्पम् ॥ ३९ ॥

पुष्पोत्करानिल विघूर्णित पादपाग्र-
मग्रेसरो भुवि निपातित वंशगुल्मम् ।
गुल्मान्तर प्रभृति लीन मृगीसमूहं
संमुह्यतां तनुभृतामपवर्गदातृ ॥ ४० ॥

चन्द्रांशुजालधवलैस्तिलकैर्मनोज्ञैः
सिन्दूर कुङ्कुम कुसुम्भनिभैरशोकैः ।
चामीकराभ निचयैरथ कर्णिकारैः
फुल्लारविन्दरचितं सुविशालशाखैः ॥ ४१ ॥

क्वचित् रजत पर्णाभैः क्वचिद्विद्रुमसन्निभैः
क्वचित् काञ्चन सङ्काशैः पुष्पैराचितभूतलम् ॥ ४२ ॥

पुन्नागेषु द्विजगण-विरुतं रक्ताशोकस्तवकभरनमितम् ।
रम्योपान्तं श्रमहरपवनं फुल्लाब्जेषु भ्रमर विलसितम् ॥ ४३ ॥

सकलभुवनभर्ता लोकनाथस्तदानी-
न्तुहिन शिखरिपुत्र्याः सार्द्धमिष्टैर्गणेशैः ।
विविधतरु विशालं मत्तहृष्टान्यपुष्ट-
मुपवन तरुरम्यं दर्शयामास देव्याः ॥ ४४ ॥

(ये श्लोक मत्स्यपुराण अ० १७९ के हैं और ये ही लिङ्गपुराण में भी उद्धृत हैं । —पूर्वार्ध, ९२ अ०, १२-३२१ श्लोक)

उपसंहार

भारतीय संस्कृति तथा धर्म के विकाश में पुराण का कार्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। पुराण का गौरव अनेक दृष्टियों से मननीय तथा माननीय है जिनमें धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि प्रमुख है। भारतीय धर्म का आधार ग्रन्थ तो वेद ही है, परन्तु सामान्य मानवों के लिए वेद को समझना नितान्त दुष्कर कार्य है। एक तो वेद की भाषा ही प्राचीनतम होने से दुरूह है और दूसरे उसमें प्रतिपादित तत्त्व भी कहीं रूपक शैली में और कहीं प्रतीकात्मक शैली में निबद्ध होने के कारण दुर्बोध हैं। अत एव धर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों को हृदयंगम करने के लिए तथा जनहृदय तक उन्हें पहुंचाने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो गम्भीरार्थप्रतिपादक होते हुए भी रोचक हो, जो वेदार्थ का निरूपक होते हुए भी सरल-सुबोध हो। इसी आवश्यकता की पूर्ति पुराण करता है। भाषा है इसकी व्यावहारिक, सरल तथा सहज बोधगम्य। शैली है रोचक आख्यानमयी। इसी भाषा की सुबोधता तथा शैली की रुचिरता पर पुराणों की लोकप्रियता आश्रित है। इस प्रकार वेदार्थ के समझने के लिए तथा वेदप्रतिपादित तात्पर्य के यथार्थ निरूपण के लिए पुराण का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। इसीलिए नारदीयपुराण की यह उक्ति सुसंगत ठहरती है—

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः[1] ॥

- नारदीय २।२४।१७

वेदार्थ से पुराणार्थ की महनीयता के तीन कारण जीव गोस्वामी ने अपने 'तत्त्व सन्दर्भ' के आरम्भ में प्रदर्शित किये हैं।[2] वैदिक साहित्य की विशालता, वेदार्थ की दुरधिगमता, तथा वेदार्थ के निर्णय में मुनियों का भी परस्पर-विरोध

---

१. इतिहास पुराण विचार एव श्रेयान् इदानीन्तनानाम्।
वेदानां दुरूहतया मन्दबुद्धीनां कलियुगीयलोकानां
यथार्थावधारणस्य वदतोऽशा क्यत्वादित्येवकारसंगतिः।

—तत्त्वसन्दर्भ की टीका पृ० ३९

२. तत्र च वेद शब्दस्य सम्प्रति दुष्पारत्वात् दुरधिगमार्थत्वाच्च तदर्थनिर्णायकानां मुनीनामपि परस्पर-विरोधाद् वेदरूपो वेदार्थनिर्णायकश्च इतिहासपुराणात्मकः शब्द एव विचारणीयः॥

—तत्त्व सन्दर्भ पृ० १६। (कलकत्ता संस्करण)

होने के कारण वेदार्थ के निर्णय के लिए पुराणों का महत्त्व स्वीकृत किया गया है। पुराण की वाणी में वेद ही बोलता है, पुराण के अर्थ-निर्णय में वेदार्थ का ही निर्णय स्फुटित होता है। इसीलिए पुराण का धार्मिक महत्त्व आज हमारे लिए बहुत ही विशिष्ट है। वेद ने ईश्वर की कल्पना को प्रतिनिष्ठित रूप दिया परन्तु पुराण ने उस ईश्वर को जनता के हृदय तक पहुँचाया। वैदिक संहिता कर्मकाण्ड का प्रधान गढ़ है, उपनिषद् ज्ञानकाण्ड का प्रमुख प्रतिपादक है। इसके विपरीत, पुराण भक्ति का प्रतिपादक शास्त्र है। फलतः जनता के कल्याण के लिए पुराण की महिमा सर्वतोभावेन ग्रहणीय है। वेद के अर्थ का उपबृंहण पुराण करता है—इस तथ्य की पुष्टि नाना दृष्टियों से ऊपर की गई है। स्कन्द-पुराण वेद तथा स्मृति से भी पुराण को नवीनार्थ प्रतिपादक होने से अधिक महत्त्व देता है—

यन्न दृष्टं हि वेदेषु न दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः।
उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रगीयते॥

—(प्रभास खण्ड २।९२)

इस प्रकार पुराण का ज्ञान विचक्षणता की कसौटी है। चारों वेदों को, षड् वेदांगों को तथा उपनिषदों को जानने वाला व्यक्ति कभी विचक्षण नहीं माना जा सकता, यदि वह पुराण से अभिज्ञ नहीं होता—

यो वेद चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजाः।
पुराणं नैव जानाति न च स स्याद् विचक्षणः॥

— ब्रह्माण्ड, प्रक्रि० १।१७०

पुराण की रचना भारतीय दृष्टि से इतिहास की भावना को स्पष्टतः प्रतिपादित करती है। साधारणतः घटनाओं का वर्णन ही इतिहास का मुख्य विषय माना जाता है; पुराण की दृष्टि इससे भिन्न है। पुराण के पञ्च लक्षण का महत्त्व इस विषय में गम्भीरतया मननीय है। पुराण ही हमारे लिए सच्चे तथा आदर्श इतिहास हैं। किसी मानव समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जा सकता है, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। जब तक मानवों की कथा सृष्टि के प्रारम्भ से न लिखी जायगी, तब तक उसे अधूरा ही समझना चाहिये। पुराण आरम्भ होता है सृष्टि से और अन्त होता है प्रलय से। और इन दोनों छोरों के बीच में उत्पन्न होने राजाओं के वंशों तथा उनमें प्रधानभूत राजाओं के चरित्र का वर्णन भी करता है। इस प्रकार पुराण का रूप ही भारतीय दृष्टि से इतिहास का सच्चा रूप है। आधुनिक विद्वानों ने इतिहासलेखन की शैली में इस प्रणाली की चिरकाल से उपेक्षा कर रखी थी; परन्तु हर्ष का विषय है कि इङ्गलैण्ड के

सुप्रसिद्ध विचारक एच० जी० वेल्स ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'आउटलाइन आफ हिस्ट्री' में इसी पौराणिक प्रणाली का अनुसरण किया है। उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध इतिहासग्रन्थ में मानवसमाज के इतिहास लिखने से पूर्व सृष्टि के आरम्भ से जीव-विकाश का इतिहास लिखा है। मानव-योनि प्राप्त होने से पूर्व जीव को कौन सा रूप धारण करना पड़ा था तथा उसका क्रमिक विकाश कैसे सम्पन्न हुआ—इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन उन्होंने किया है। सृष्टि के आरम्भकाल से मानव के विकास का विवरण देने से ही उनका इतिहास का वर्णन पूर्ण तथा प्रामाणिक माना गया है। समग्र इतिहास लिखने की यही पौराणिक सच्ची प्रणाली है जिसके लिए हम पुराणों के चिर ऋणी रहेंगे।

वर्णाश्रमधर्म का पालन भारतीय संस्कृति के संवर्धन का एकमात्र उपाय है। यह भारतीय धर्म से ही चिरकाल से अनुस्यूत नहीं है, प्रत्युत पूर्णतया वैज्ञानिक भी है। पुराणों ने इस धर्म का बड़ा ही विशद तथा स्वच्छ रूप अंकित किया है। इस विषय में वे मनुस्मृति तथा महाभारत का पूर्णतया अनुसरण करते हैं। महाभारत में धर्म के सूक्ष्म विवेचन से भी वे प्रभावित हैं। कलिधर्म के वर्णनावसर पर वे हीन तथा कदर्य आचार का वर्णन प्रस्तुत करते हैं तथा तद्-विपरित सदाचार का शुभ्र स्वरूप हमारे सामने रखते हैं। पुराण के अनेक सिद्धान्तों में इतनी आधुनिकता दृष्टिगोचर होती है कि उनके लेखक की दिव्य दृष्टि की श्लाघा करते हम तृप्त नहीं होते। उदाहरणार्थं साम्यवाद का विवेचन यहां रखते हैं। भागवत ने साम्यवाद का जो गूढ़ मन्तव्य एक श्लोक में सूत्र-रूप से रख दिया है, आजकल के प्रगतिवादियों का विशाल साहित्य उसका एक विस्तृत भाष्यमात्र ही है। भागवत का वह महत्त्वपूर्ण श्लोक यह है :—

> यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
> अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
>
> —७।१४।८

स्वत्व की मीमांसा इस पद्य में की गई है। जितने से उदर भर जाता है, बस उतने ही धन पर तो प्राणियों का स्वत्व है—अपना अधिकार है। उससे अधिक को जो अपना मानता है, वह चोर है और समाज के सामने दण्ड का भागी है। तात्पर्य यह है कि अपनी कमाई के समस्त राशि पर प्राणी का अधिकार मानना सरासर भूल है। जिससे वह अपनी देह की पुष्टि कर जीवित रहता है, उतना ही तो उसका धन है उसके अधिक तो पराया धन है। भागवत का यह श्लोक अधिकार की सच्ची मीमांसा करता है जो नव्य दृष्टि में भी भव्य प्रतीत होती है। पुराण सदाचार के सेवन के लिए आग्रह करता है। सदाचार—सज्जनों के द्वारा आचरित व्यवहार—धर्म का एक साक्षात् लक्षण

माना गया है। सदाचार ही तो धर्म के व्यवहारिक रूप को समझने के लिए प्रधान कुञ्जी है (मनु २।१२)। मत्स्यपुराण के ययाति—अष्टक संवाद में इस विषय का वड़ा सारगर्भित तथा प्राणवान् विवेचन किया गया है (अ० ३६, श्लो० ६–१२)। कुवाच्य बोलने की कितनी भर्त्सना की गई है इस श्लोक में :—

> वाक् सायका वदनान्निष्पतन्ति
> ये राहतः शोचति रात्र्यहानि ॥
> परस्य नो मर्मसु ते पतन्ति
> तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥
>
> —मत्स्य ३६।११

फलतः समाजिक आदर्श के प्रतिष्ठापन में पुराणों का बड़ा ही महत्त्वशाली योगदान है।

पुराणों के आख्यान प्रतीकात्मक हैं। उन आख्यानों में किसी ऐतिहासिक वृत्त का भी संकेत है, परन्तु एतावन्मात्र से आख्यानों का तात्पर्य गतार्थ नहीं होता। वे एक गम्भीर आध्यात्मिक रहस्य की भी अभिव्यक्ति करते हैं—तत्त्व है नितान्त निगूढ़, परन्तु अभिव्यक्ति का प्रकार है नितान्त बोधगम्य। फलतः पौराणिक आख्यानों की गहराई में जाकर उन्हें समझने की आवश्यकता है। एक-दो दृष्टान्तों से पूर्वोक्त कथन का समर्थन तथा पुष्टि की जाती है। दक्ष प्रजापति के यज्ञ का ध्वंस शिवगणों के द्वारा एक प्रख्यात पौराणिक आख्यान है (भाग० ४।२–७)। दक्ष प्रजापति ने अपने विशाल यज्ञ में शत्रुता से प्रेरित होकर शिव को कोई भाग नहीं दिया जिससे क्रुद्ध होकर सती ने योगाग्नि द्वारा अपने शरीर को उस यज्ञ में हवन कर दिया। इसी का दण्ड था यज्ञ-विध्वंस तथा दक्ष का शिरश्छेद। इस साधारण आख्यान के भीतर एक गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व का महनीय संकेत है। दक्ष जगत् में नवीन रचना चातुरी का प्रतीक है। विज्ञान के द्वारा जो नवीन निर्माण हो रहे हैं मानव के आपाततः सौख्य के लिए, दक्ष (= दक्षता) उसी का प्रतीक है। दूसरे शब्दों में दक्ष भौतिकवाद का प्रतिनिधि है। नयी-नयी सृष्टि के उत्पादक होने के कारण वह प्रजापति है। उधर शिव विश्व के समस्त सामूहिक कल्याण तथा मंगल का प्रतीक है। इसी शिव से दक्ष का विरोध है। भौतिकवाद आध्यात्मिक कल्याण की उपेक्षा कर स्वतः स्वतन्त्र रूप से अभ्युदय चाहता है। शिव का आग्रह है कि दक्ष को उसके सामने नत मस्तक होना चाहिये—आध्यात्मिक समष्टि-कल्याण के सामने भौतिकवाद को झुकना चाहिये। जगत् में यह संघर्ष महान् अनर्थ का कारण होता है। शिव से विरोध कर दक्ष रह नहीं सकता—

समष्टि-कल्याण की उपेक्षा कर भौतिकवाद जगत् की सुख-समृद्धि का उत्पादक कभी हो नहीं सकता। जामाता होने से शिव का पद उदात्त है और श्वसुर होने से दक्ष का पद उससे न्यून है। इस मौलिक तथ्य के विरुद्ध दक्ष विद्रोह करता है और इस घोर अपराध के कारण उसका सिर काटा जाता है और उसके यज्ञ का (जिससे वह संसार का कल्याण करना चाहता है) सद्यः विध्वंस किया जाता है। जब समष्टि-कल्याण के साथ भौतिकवाद का सामञ्जस्य स्थापित होता है, तभी विश्व का कल्याण है। निष्कर्ष है कि अनियन्त्रित भौतिकवाद अध्यात्मिकता को उदरस्थ करने में किसी प्रकार रुक नहीं सकता, यदि उसका मस्तक उड़ा न दिया जाय। विश्व के संतुलन में शिव का प्राधान्य अपेक्षित है, दक्ष का नहीं। विश्व को कल्याण के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में शिव का सामर्थ्य है, दक्ष का नहीं। शिव का वाहन है वृषभ, जो सांकेतिकता की दृष्टि से धर्म का ही प्रतीक है। शिव वृषभ पर चढ़ कर चलते हैं—इसका तात्त्विक तात्पर्य है कि कल्याण धर्म का आश्रय लेकर ही प्रतिष्ठित होता है। धर्म का आश्रय छोड़ देने पर कल्याण का उदय कभी नहीं हो सकता। इसलिए भौतिक सुख से सम्पन्न होने पर भी धर्मविहीन समाज की कल्पना भारत की पुण्यमयी भूमि में नितान्त निराधार है—सर्वथा अनुपादेय है। पौराणिक कथा का यही रहस्य है।

भारत के आध्यात्मचिन्तक हमारे मनीषी डंके की चोट प्रमाणित करते आ रहे हैं कि अर्थ की उपासना मानव-समाज को परम सौख्य की ओर कथमपि कदापि अग्रसर नहीं कर सकती—धन से भोगविलास से उत्पन्न क्षणिक आराम की प्राप्ति अवश्य होती है, परन्तु वास्तविक सौख्य की नहीं। आराम और सुख में अन्तर होता है। पहिला है ऊपरी, तो दूसरा है भीतरी। पहिला है क्षणिक तो दूसरा है। चिरस्थायी। इस तथ्य का प्रतिपादन प्रह्लाद का पौराणिक चरित वैशद्येन करता है। हिरण्यकशिपु के पुत्ररूप में प्रह्लाद का जन्म अवश्य होता है, परन्तु पुत्र ही पिता के सर्वनाश का कारण बनता है। कथानक के अन्तरंग पर ध्यान दीजिये। 'कशिपु' वैदिक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है कोमल 'शय्या' या मुलायम सेज। **'सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः'**—भागवत (२।२।४) की इस प्रख्यात सूक्ति में कशिपु का तात्पर्य शय्या से ही है। अतः 'हिरण्यकशिपु' का अर्थ है सोने की सेज वाली प्राणी, भोगविलास में आसक्त मानव, आधुनिक परिभाषा में पूँजीपति-कैपिटलिस्ट। 'प्रह्लाद' का स्पष्ट अर्थ है—प्रकृष्ट आह्लाद, सातिशय आनन्द। धनी के घर में ही प्रह्लाद जनमता है। 'हिरण्यकशिपु' के घर प्रह्लाद नहीं जनमेगा, तो क्या वह दीन-हीन टूटी खाट पर सोने वाले दरिद्र के घर पैदा होगा? नहीं, कभी नहीं। पर्वत से प्रह्लाद गिराया जाता है, परन्तु वह मरता नहीं। पहाड़ों पर घूमने से विलासी धन-कुबेर का आनन्द कभी कम नहीं होता, प्रत्युत वह बढ़ता है। जल

में डुबाने से प्रह्लाद मरता नहीं। आज भी समुद्र की सैर सुख उपजाती है। परन्तु हिरण्यकशिपु तथा प्रह्लाद का संघर्ष अवश्यंभावी है। भोग की भित्ति पर, धन के आधार पर, वास्तव आनन्द टिक नहीं सकता। त्याग के संग में ही आनन्द चिरस्थायी होता है। जगत् के मूलभूत तत्त्व शक्तिमान् परमेश्वर अथवा निखिल सामर्थ्यमयी शक्ति की उपेक्षा करने से चरम सौख्य की प्राप्ति कथमपि नहीं होती—

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह !
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ॥
तप्तस्य तत्-प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥

—(भाग० ७।९।१९)

भगवान् से उपेक्षित प्राणियों के लिए किसी भी रोग का प्रतीकार अकिञ्चित्-कर ही होता है। तात्पर्य यह है कि यहीं विश्व में धार्मिक सन्तुलन के प्रतिष्ठापक भगवान् नरसिंह हिरण्यकशिपु को अपने नखों से विदीर्ण कर मार डालते हैं और प्रह्लाद की रक्षा करते हैं। इस पौराणिक आख्यान का (जो सच्चा इतिहास भी है) तात्पर्य यही है कि प्रह्लाद का अस्तित्व भगवान् की सत्ता में—श्रद्धा मानने में और आध्यात्मिक जीवन-यापन में ही है, अन्यथा नहीं।

पुराण भुक्ति-मुक्ति का आदर्श मानता है। जीवन में भुक्ति तथा जीवनोपरान्त मुक्ति—दोनों की प्रतिष्ठा मानव के कल्याणार्थ पुराण का सिद्धान्त है। जीवन-यापन का संतुलित मार्ग पुराण बतलाता है। भागवतकार ने आध्यात्मिक मार्ग की कुंजी इस छोटे से पद्य में बतलाई है जो पुराणों का निजी जीवन-दर्शन है।

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ॥
हृद्-वाग्-वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

—भाग० १०।१४।८

इस रुचिर श्लोक में मानव की आचरण संहिता के लिए तीन सोपान बतलाये गये हैं:—(क) कर्मों के फल को आसक्तिविहीन होकर भोगना; (ख) भगवान् की अनुकम्पा की प्रतिक्षण प्रतीक्षा; (ग) हृदय से भगवान् का चिन्तन; वाणी द्वारा गुणकीर्तन तथा शरीर द्वारा वन्दन। इन तीनों सोपानों के अभ्यास से प्राणी को उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त होती हैं, जैसे पिता की सम्पत्ति पुत्र को दायभाग में स्वतः प्राप्त हो जाती है। आशय यह है कि ऐसे जीवन बिताने

वाले को मुक्ति भगवान् से दायभाग में प्राप्त होती है अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त होती है। पुराणों की यह चरम शिक्षा है—भगवान् में विश्वास करते हुए निष्काम कर्म का सम्पादन। पुराण व्यावहारिक दर्शन का उपदेश देता है। विचार तथा आचार, चिन्तन तथा व्यवहार—इन दोनों का सामञ्जस्य स्थापित कर जीवन बिताना प्राणी का कर्तव्य है। भक्ति के साथ ज्ञान तथा कर्म की समरसता उत्पन्न कर अपने जीवन में उसे उतारने पर हमारा जीवन नितान्त सुखमय होगा—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यही है पुराण के भुक्ति-मुक्ति का आदर्श और इसी में है पौराणिकी शिक्षा का चरम अवसान।

विशेषतः कलौ व्यास पुराणश्रवणादृते।
परो धर्मो न पुंसां हि मुक्तिध्यानपरः स्मृतः ॥ ३१ ॥
या गतिः पुण्यशीलानां यज्विनां च तपस्विनाम्।
सा गतिः सहसा तात! पुराणश्रवणात् खलु ॥ ३५ ॥
पापं संक्षीयते नित्यं धर्मश्चैव विवर्धते।
पुराणश्रवणाज्ज्ञानी न संसारं प्रपद्यते ॥ ३७ ॥
अन्यो न दृष्टः सुखदो हि मार्गः
पुराणमार्गो हि सदा वरिष्ठः ॥
शास्त्रं विना सर्वमिदं न भाति
सूर्येण हीना इव जीवलोकाः ॥ ४१ ॥

—शिवपुराण (उमा संहिता १३ अध्याय)

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

तथास्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

पुराण-विमर्श

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

पुराणों का विषय-विवेचन

[पुराणों के विषयों का विवेचन दो पुराणों में विशेष रूप से उपलब्ध होता है—मत्स्य में तथा नारदीय में। इसमें मत्स्य का विवेचन संक्षिप्त होने पर भी सारवान प्रतीत होता है। उसके ऊपर प्राचीनता की छाप स्पष्टतः दीखती है। नारदीय पुराण का वर्णन बहुत ही विस्तृत, विकीर्ण तथा तदपेक्षया अवान्तर-कालीन प्रतीत होता है। दोनों का यहाँ एकत्र संकलन तुलना करने के लिए दिया जा रहा है]

(क)

मत्स्यपुराणम् (अध्याय ५३)

पुराण-संख्यावर्णनम्

मुनय ऊचुः

पुराणसंख्यामाचक्ष्व सूत विस्तरशः क्रमात् ।
दानधर्ममशेषन्तु यथावदनुपूर्वशः ॥ १ ॥

सूत उवाच

इदमेव पुराणेषु पुराणपुरुषस्तदा ।
यदुक्तवान् स विश्वात्मा मनवे तन्निबोधत ॥ २ ॥

मत्स्य उवाच

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥ ३ ॥

पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघ ।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ४ ॥

निर्दग्धेषु च लोकेषु वाजिरूपेण वै मया ।
अङ्गानि चतुरो वेदाः पुराणं न्यायविस्तरम् ॥ ५ ॥

मीमांसां धर्मशास्त्रञ्च परिगृह्य मया कृतं ।
मत्स्यरूपेण च पुनः कल्पादावुदकार्णवे ॥ ६ ॥

अशेषमेतत् कथितमुदकान्तर्गतेन च ।
श्रुत्वा जगाद स मुनीन् प्रति देवान् चतुर्मुखः ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्ततः ।
कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ॥ ८ ॥

व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे ।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ॥ ९ ॥

तथाष्टदशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते ।
अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ १० ॥

तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षं संक्षेपेण विशेषितम् ।
पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते ॥ ११ ॥

नामतस्तानि वक्ष्यामि शृणुध्वं मुनिसत्तमाः ।
ब्रह्मणाभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये ॥ १२ ॥

ब्राह्मं त्रिदशसाहस्रं पुराणं परिकीर्त्यते ।
लिखित्वा तच्च यो दद्याज्जलधेनुसमन्वितम् ॥
वैशाखपूर्णिमायाञ्च ब्रह्मलोके महीयते ॥ १३ ॥

एतदेव यथा पद्ममभूद्धैरण्मयं जगत् ।
तद्वृत्तान्ताश्रयं तद्वत् पाद्ममित्युच्यते बुधैः ॥
पाद्मं तत् पञ्चपञ्चाशत् सहस्राणीह कथ्यते ॥ १४ ॥

तत् पुराणञ्च यो दद्यात् सुवर्णकलशान्वितम् ।
ज्येष्ठे मासि तिलैर्युक्तमश्वमेधफलं लभेत् ॥ १५ ॥

वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः ।
यत्प्राह धर्मानखिलान् तद्युक्तं वैष्णवं विदुः ॥ १६ ॥

तदाषाढे च यो दद्यात् घृतधेनुसमन्वितम् ।
पौर्णमास्यां विपूतात्मा स पदं याति वारुणम् ॥
त्रयोविंशतिसाहस्रं तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः ॥ १७ ॥

श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत् ।
यत्र तद्वायवीयं स्याद् रुद्रमाहात्म्यसंयुतम् ॥
चतुर्विंशत् सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते ॥ १८ ॥

श्रावण्यां श्रावणे मासि गुडधेनुसमन्वितम् ।
यो दद्याद् वृषसंयुक्तं ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ।
शिवलोके स पूतात्मा कल्पमेकं वसेन्नरः ॥ १९ ॥

यत्राधिकृत्य गायत्री वर्ण्यते धर्मविस्तरः ।
वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमुच्यते ॥ २० ॥

सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरोत्तमाः ।
तद् वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमुच्यते ॥ २१ ॥

लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम् ।
पौर्णमास्यां प्रौष्ठपद्यां स याति परमां गतिम् ॥
अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत्प्रचक्षते ॥ २२ ॥
यत्राह नारदो धर्मान् बृहत्कल्पाश्रयाणि च ।
पञ्चविंशत् सहस्राणि नारदीयं तदुच्यते ॥ २३ ॥

तदिदं पञ्चदश्यान्तु दद्याद्धेनुसमन्वितम् ।
परमां सिद्धिमाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ॥ २४ ॥

यत्राधिकृत्य शकुनीन् धर्माधर्मविचारणा ।
व्याख्याता वै मुनिप्रश्ने मुनिभिर्धर्मचारिभिः ॥ २५ ॥

मार्कण्डेयेन कथितं तत्सर्वं विस्तरेण तु ।
पुराणं नवसाहस्रं मार्कण्डेयमिहोच्यते ॥ २६ ॥

प्रतिलिख्य च यो दद्यात् सौवर्णकरिसंयुतम् ।
कार्त्तिक्यां पुण्डरीकस्य यज्ञस्य फलभाग्भवेत् ॥ २७ ॥

यत्तदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्य च ।
वशिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत् प्रचक्षते ॥ २८ ॥

लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमपद्मसमन्वितम् ।
मार्गशीर्ष्यां विधानेन तिलधेनुसमन्वितम् ।
तच्च षोडश साहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥ २९ ॥

यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुख ।
अघोरकल्पवृत्तान्त-प्रसङ्गेन जगत्स्थितिम् ।
मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥

चतुर्दश सहस्राणि तथा पञ्चशतानि च ।
भविष्यचरितप्रायं भविष्यन्तदिहोच्यते ॥ ३१ ॥

तत्पौषे मासि यो दद्यात् पौर्णमास्यां विमत्सरः ।
गुडकुम्भसमायुक्तमग्निष्टोमफलं भवेत् ॥ ३२ ॥

रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च ।
सावर्णिर्नारदाय श्री-कृष्णमाहात्म्यमुत्तमम् ॥ ३३ ॥

यत्र ब्रह्मवराहस्य चोदन्तं वर्णितं मुहुः ।
तदष्टादश साहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते ॥ ३४ ॥

पुराणं ब्रह्मवैवर्तं यो दद्यान्माघमासि च ।
पौर्णमास्यां शुभदिने ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३५ ॥

यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः ।
धर्मार्थकाममोक्षार्थमाग्नेयमधिकृत्य च ॥ ३६ ॥

कल्पान्ते लैङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम् ।
तदेकादश साहस्रं फाल्गुन्यां यः प्रयच्छति ।
तिलधेनुसमायुक्तं स याति शिवसाम्यताम् ॥ ३७ ॥

महावराहस्य पुनर्माहात्म्यमधिकृत्य च ।
विष्णुनाभिहितं क्षोण्यै तद्वाराहमिहोच्यते ॥ ३८ ॥

मानवस्य प्रसङ्गेन कल्पस्य मुनिसत्तमाः ।
चतुर्विंशत्सहस्राणि तत्पुराणमिहोच्यते ॥ ३९ ॥

काञ्चनं गरुडं कृत्वा तिलधेनुसमन्वितम् ।
पौर्णमास्यां मधौ दद्याद् ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ॥
वराहस्य प्रसादेन पदमाप्नोति वैष्णवम् ॥ ४० ॥

यत्र माहेश्वरान् धर्मानधिकृत्य च षण्मुखः ।
कल्पे तत् पुरुषं वृत्तं चरितैरुपबृंहितम् ॥ ४१ ॥

स्कन्दं नाम पुराणञ्च ह्येकाशीति निगद्यते ।
सहस्राणि शतं चैकमिति मर्त्येषु गद्यते ॥ ४२ ॥

परिलिख्य च यो दद्याद्धेमशूलसमन्वितम् ।
शैवं पदमवाप्नोति मीने चोपगते रवौ ॥ ४३ ॥

त्रिविक्रमस्य वृत्तान्तमधिकृत्य चतुर्मुखः ।
त्रिवर्गमभ्यधात्तञ्च वामनं परिकीर्तितम् ॥ ४४ ॥

पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम् ।
यः शरद्विषुवे दद्याद् वैष्णवं यात्यसौ पदम् ॥ ४५ ॥

यत्र धर्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले ।
माहात्म्यं कथयामास कूर्मरूपी जनार्दनः ॥ ४६ ॥

इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषिभ्यः शक्रसन्निधौ ।
अष्टादश सहस्राणि लक्ष्मीकल्पानुषङ्गिकम् ॥ ४७ ॥

यो दद्यादयने कूर्मं हेमकूर्मसमन्वितम् ।
गोसहस्रप्रदानस्य फलं सम्प्राप्नुयान्नरः ॥ ४८ ॥

श्रुतीनां यत्र कल्पादौ प्रवृत्त्यर्थं जर्नादनः ।
मत्स्यरूपेण मनवे नरसिंहोपवर्णनम् ॥ ४९ ॥

अधिकृत्याऽब्रवीत् सप्तकल्पवृत्तं मुनीश्वराः ।
तन्मात्स्यमिति जानीध्वं सहस्राणि चतुर्दश ॥ ५० ॥

विषुवे हेममत्स्येन धेन्वा चैव समन्वितम् ।
यो दद्यात् पृथिवी तेन दत्ता भवति चाखिला ॥ ५१ ॥

यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डाद् गरुडोद्भवम् ।
अधिकृत्याऽब्रवीत् कृष्णो गारुडं तदिहोच्यते ॥ ५२ ॥

तदष्टादशकञ्चैव सहस्राणीह पठ्यते ।
सौवर्णं हंससंयुक्तं यो ददाति पुमानिह ॥
स सिद्धिं लभते मुख्यां शिवलोके च संस्थितिम् ॥ ५३ ॥

ब्रह्मा ब्राह्मणमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत् पुनः ।
तच्च द्वादशसाहस्रं ब्रह्माण्डं द्विशताधिकम् ॥ ५४ ॥

भविष्याणाञ्च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तरः ।
तद्‌ब्रह्माण्डपुराणञ्च ब्रह्मणा समुदाहृतम् ॥ ५५ ॥

यो दद्याच्चद्व्यतीपाते पीतोर्णायुगसंयुतम् ।
राजसूयसहस्रस्य फलमाप्नोति मानवः ॥
हेमधेन्वा युतं तच्च ब्रह्मलोकफलप्रदम् ॥ ५६ ॥

चतुर्लक्षमिदं प्रोक्तं व्यासेनाद्भुतकर्मणा।
मत्पितुर्मम पित्रा च मया तुभ्यं निवेदितम् ॥ ५७ ॥

इहलोकहितार्थाय संक्षिप्तं परमर्षिणा।
इदमद्यापि देवेषु शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ५८ ॥

उपभेदान् प्रवक्ष्यामि लोके ये सम्प्रतिष्ठिता।
पाद्मे पुराणे तत्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनम् ॥
तच्चाष्टादशसाहस्रं नारसिंहमिहोच्यते ॥ ५९ ॥

नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्ण्यते।
नन्दीपुराणं तल्लोकैराख्यातमिति कीर्त्यते ॥ ६० ॥

यत्र साम्बं पुरस्कृत्य भविष्येऽपि कथानकम्।
प्रोच्यते तत्पुनर्लोके शाम्बमेतन्मुनिव्रताः ॥ ६१ ॥

पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुराणानामनुक्रमम्।
एवमादित्यसंज्ञा च तत्रैव परिगद्यते ॥ ६२ ॥

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत् प्रदिश्यते।
विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम्।
पञ्चाङ्गानि पुराणेषु आख्यानकमिति स्मृतम् ॥ ६३ ॥

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ ६४ ॥

ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च।
ससंहारप्रदानाञ्च पुराणे पञ्चवर्णके ॥ ६५ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धञ्च यत्फलम् ॥ ६६ ॥

सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः ॥ ६७ ॥

तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणाञ्च निगद्यते ॥ ६८ ॥

अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
भारताख्यानमखिलञ्चक्रे तदुपबृंहितम् ॥
लक्षेणकेन यत् प्रोक्तं वेदार्थपरिबृंहितम् ॥ ६९ ॥

वाल्मीकिना तु यत् प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम्।
ब्रह्मणाभिहितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ७० ॥

आहृत्य नारदायैव तेन वाल्मीकये पुनः ।
वाल्मीकिना च लोकेषु धर्मकामार्थसाधनम् ॥
एवं सपादाः पञ्चैते लक्षा मर्त्ये प्रकीर्तिताः ॥ ७१ ॥

पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुराणानामनुक्रमम् ॥
यः पठेच्छृणुयाद्वापि स याति परमाङ्गतिम् ॥ ७२ ॥

इदं पवित्रं यशसो निधान-मिदं पितॄणामतिवल्लभञ्च ।
इदञ्च देवेष्वमृतायितञ्च नित्यं त्विदं पापहरञ्च पुंसाम् ॥ ७३ ॥

इति श्रीमत्स्यपुराणे पुराणसंख्यावर्णनं नाम
त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

अष्टादशपुराणानां विषयानुक्रमणिका

(१) ब्रह्मपुराणम्

वेदव्यासप्रणीते महापुराणादि तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये ४ पा० ९२ अ० उक्ता यथा :—

ब्राह्मं पुराणं तत्रादौ सर्वलोकहिताय वै ।
व्यासेन वेदविदुषा समाख्यातं महात्मना ॥

तद्वै सर्वपुराणाग्र्यं धर्मकामार्थमोक्षदम् ।
नानाख्यानेतिहासाढ्यं दशसाहस्रमुच्यते ॥

तत्पूर्वभागे :—

"देवानामसुराणाञ्च यत्रोत्पत्तिः प्रकीर्तिता ।
प्रजापतीनाञ्च तथा दक्षादीनां मुनीश्वर ! ॥

ततो लोकेश्वरस्यात्र सूर्यस्य परमात्मनः ।
वंशानुकीर्त्तनं पुण्यं महापातकनाशनम् ॥
तत्रावतारः कथितः परमानन्दरूपिणः ।
श्रीमतो रामचन्द्रस्य चतुर्व्यूहावतारिणः ॥

ततश्च सोमवंशस्य कीर्त्तनं यत्र वर्णितम् ।
कृष्णस्य जगदीशस्य चरितं कल्मषापहम् ॥

द्वीपानाञ्चैव सिन्धूनां वर्षाणाञ्चाप्यशेषतः ।
वर्णनं यत्र पातालस्वर्गाणाञ्च प्रदृश्यते ॥

नरकाणां समाख्यानं सूर्यस्तुतिकथानकम् ।
पार्वत्याश्च तथा जन्म विवाहश्च निगद्यते ॥

दक्षाख्यानं ततः प्रोक्तमेकाम्रक्षेत्रवर्णनम् ।
पूर्वभागोऽयमुदितः पुराणस्यास्य मानद ! ॥"

तदुत्तरभागे :—

अस्योत्तरे विभागे तु पुरुषोत्तमवर्णनम् ।
विस्तरेण समाख्यातं तीर्थयात्राविधानतः ॥

अत्रैव कृष्णचरितं विस्तरात् समुदीरितम् ।
वर्णनं यम लोकस्य पितृश्राद्धविधिस्तथा ॥

वर्णाश्रमाणां धर्माश्च कीर्त्तिता यत्र विस्तरात् ।
विष्णुधर्मयुगाख्यानं प्रलयस्य च वर्णनम् ॥

योगानां च समाख्यानं सांख्यानाञ्चाऽपि वर्णनम् ।
ब्रह्मवादसमुद्देशः पुराणस्य च शंसनम् ॥

एतद् ब्रह्मपुराणन्तु भागद्वयसमाचितम् ।
वर्णितं सर्वपापघ्नं सर्वसौख्यप्रदायकम् ॥

तत्फलश्रुति :—

सूतशौनकसंवादं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ।
लिखित्वैतत्पुराणं यो वैशाख्यां हेमसंयुतम् ॥

जलधेनुयुतञ्चापि भक्त्या दद्याद् द्विजातये ।
पौराणिकाय सम्पूज्य वस्त्रभोज्यविभूषणैः ॥

स वसेद् ब्रह्मणो लोके यावच्चन्द्रार्कतारकम् ।
यः पठेच्छृणुयाच्चाऽपि ब्रह्मानुक्रमणीं द्विज ॥

सोऽपि सर्वपुराणस्य श्रोतुर्वक्तुः फलं लभेत् ।
शृणोति यः पुराणन्तु ब्राह्मं सर्वं जितेन्द्रियः ॥

हविष्याशी च नियमात् स लभेद् ब्रह्मणः पदम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन यद् यदिच्छति मानवः ॥

तत्सर्वं लभते वत्स पुराणस्यास्य कीर्त्तनात् ।

(२) पद्मपुराणम्

तत्रस्थविषयाणाम्प्रतिपादनं नारदीयपुराणे उक्तं यथा—

प्रथमे सृष्टिखण्डे :—

"पुलस्त्येन तु भीष्माय सृष्ट्यादि क्रमतो द्विज ।
नानाख्यानेतिहासाद्यैर्यत्रोक्तो धर्मविस्तरः ॥

पुष्करस्य च माहात्म्यं विस्तरेण प्रकीर्तितम् ।
ब्रह्मयज्ञविधानञ्च वेदपाठादिलक्षणम् ॥

दानानां कीर्त्तनं यत्र व्रतानाञ्च पृथक् पृथक् ।
विवाहः शैलजायाश्च तारकाख्यानकं महत् ॥

माहात्म्यञ्च गवादीनां कीर्तितं सर्वपुण्यदम् ।
कालकेयादिदैत्यानां वधो यत्र पृथक् पृथक् ॥

ग्रहाणामर्च्चनं दानं यत्र प्रोक्तं द्विजोत्तम ।
तत्सृष्टिखण्डमुद्दिष्टं व्यासेन सुमहात्मना ॥

द्वितीये भूमिखण्डे :—

पितृमात्रादिपूज्यत्वे शिवशर्मकथा पुरः ।
सुव्रतस्य कथा पश्चाद् वृत्रस्य च वधस्तथा ।

पृथोर्वेणस्य चाख्यानं धर्माख्यानं ततः परम् ।
पितृशुश्रूषणाख्यानं नहुषस्य कथा ततः ॥
ययातिचरितञ्चैव गुरुतीर्थनिरूपणम् ।
राज्ञा जैमिनिसंवादो बह्वाश्चर्यकथायुतः ॥
कथा ह्यशोकसुन्दर्या हुण्डदैत्यवधाचिता ।
कामोदकाख्यानकं तत्र विहुण्डवधसंयुतम् ॥
कुञ्जुलस्य च संवादश्च्यवनेन महात्मना ।
सिद्धाख्यानं ततः प्रोक्तं खण्डस्यास्य फलोहनम् ॥
सूतशौनकसंवादं भूमिखण्डमिदं स्मृतम् ।

तृतीये स्वर्गखण्डे :—

"ब्रह्माण्डोत्पत्तिरुदिता यत्रर्षिभ्यश्च सौतिना ।
सभूमिलोकसंस्थानं तीर्थाख्यानं ततः परम् ॥
नर्मदोत्पत्तिकथनं तत्तीर्थानां कथा पृथक् ।
कुरुक्षेत्रादितीर्थानां कथाः पुण्याः प्रकीर्तिताः ॥
कालिन्दीपुण्यकथनं काशीमाहात्म्यवर्णनम् ।
गयायाश्चैव माहात्म्यं प्रयागस्य च पुण्यकम् ॥
वर्णाश्रमानुरोधेन कर्मयोगनिरूपणम् ।
व्यासजैमिनिसंवादः पुण्यकर्मकथाचितः ॥
समुद्रमथनाख्यानं व्रताख्यानं ततः परम् ।
ऊर्जपञ्चाहमाहात्म्यं स्तोत्रं सर्वापराधनुत् ॥
एतत्स्वर्गाभिधं विप्र ! सर्वपातकनाशनम् ।"

चतुर्थे पातालखण्डे :—

"रामाश्वमेधे प्रथमं रामराज्याभिषेचनम् ।
अगस्त्याद्यागमश्चैव पौलस्त्यान्वयकीर्त्तनम् ॥
अश्वमेधोपदेशश्च हयचर्या ततः परम् ।
नानाराजकथाः पुण्या जगन्नाथानुवर्णनम् ॥
वृन्दावनस्य माहात्म्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
नित्यलीलानुकथनं यत्र कृष्णावतारिणः ॥
माधवस्नानमाहात्म्ये स्नानदानार्चने फलम् ।
धरावराहसंवादो यमब्राह्मणयोः कथा ॥
संवादो राजदूतानां कृष्णस्तोत्रनिरूपणम् ।
शिवशम्भुसमायोगो दधीच्याख्यानकन्ततः ॥
भस्ममाहात्म्यमतुलं शिवमाहात्म्यमुत्तमम् ।

देवरातसुताख्यानं पुराणाञ्च प्रशंसनम् ॥
गौतमाख्यानकं चैव शिवगीता ततः स्मृता ।
कल्पान्तरी रामकथा भारद्वाजाश्रमस्थितौ ॥
पातालखण्डमेतद्धि शृण्वतां ज्ञानिनां सदा ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वाभीष्टफलप्रदम् ॥

पञ्चमे उत्तरखण्डे :—

पर्वताख्यानकं पूर्वं गौर्यै प्रोक्तं शिवेन वै ।
जालन्धरकथा पश्चात् श्रीशैलाद्यनुकीर्तनम् ॥
सागरस्य कथा पुण्या ततः परमुदीरिता ।
गंगाप्रयागकाशीनां गयायाश्चाधिपुण्यकम् ॥
आम्लादिदानमाहात्म्यं तन्महाद्वादशीव्रतम् ।
चतुर्विंशैकादशीनां माहात्म्यं पृथगीरितम् ॥
विष्णुधर्मसमाख्यानं विष्णुनामसहस्रकम् ।
कार्तिकव्रतमाहात्म्यं माघस्नानफलन्ततः ॥
जम्बुद्वीपस्य तीर्थानां माहात्म्यं पापनाशनम् ।
साधुमत्याश्च माहात्म्यं नृसिंहोत्पत्तिवर्णनम् ॥
देवशर्मादिकाख्यानं गीतामाहात्म्यवर्णने ।
भक्ताख्यानञ्च माहात्म्यं श्रीमद्भागवतस्य ह ॥
इन्द्रप्रस्थस्य माहात्म्यं बहुतीर्थकथाचितम् ।
मन्त्ररत्नाभिधानञ्च त्रिपाद्भूत्यनुवर्णनम् ।
अवतारकथा पुण्या मत्स्यादीनामतः परम् ॥
रामनामशतं दिव्यं तन्माहात्म्यञ्च बाडव ।
परीक्षणञ्च भृगुणा श्रीविष्णोर्वैभवस्य च ।
इत्येतदुत्तरखण्डं पञ्चमं सर्वपुण्यदम् ॥

तत्फलश्रुति :—

"पञ्चखण्डयुतं पाद्मं यः शृणोति नरोत्तमः ।
स लभेद्वैष्णवं धाम भुक्त्वा भोगानिहेप्सितान् ॥
एतद्वै पञ्चपञ्चाशत् सहस्रं पद्मसञ्ज्ञकम् ।
पुराणं लेखयित्वा वै ज्यैष्ठ्यां स्वर्णाब्जसंयुतम् ॥
यः प्रदद्यात्सुमतये पुराणज्ञाय मानद ।
स याति वैष्णवं धाम सर्वदेवनमस्कृतः ॥
पद्मानुक्रमणीमेतां यः पठेच्छृणुयात्तथा ।
सोऽपि पद्मपुराणस्य लभेच्छ्रवणजं फलम् ॥"

(३) विष्णुपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये—९४ अध्याये उक्ता यथा—

श्रृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणं वैष्णवं महत् ।
त्रयोविंशतिसाहस्रं सर्वपातकनाशनम् ॥

यत्रादिभागे निर्दिष्टाः षडंशाः शक्तृजेन ह ।
मैत्रेयायादिमे तत्र पुराणस्यावतारिका ॥

तत्र प्रथमभागस्य प्रथमांशे :—

"आदिकारणसर्गश्च देवादीनाञ्च सम्भवः ।
समुद्रमथनाख्यानं दक्षादीनां कथाचयः ॥

ध्रुवस्य चरितं चैव पृथोश्चरितमेव च ।
प्राचेतसं तथाख्यानं प्रह्लादस्य कथानकम् ॥

पृथुराज्याधिकाराख्यः प्रथमोऽंश इतीरितः ।

प्रथमभागस्य द्वितीयांशे :—

पातालनरकाख्यानं सप्तसर्गनिरूपणम् ।
सूर्यादिचारकथनं पृथग्लक्षणसंगतम् ॥

चरितं भरतस्याथ मुक्तिमार्गनिदर्शनम् ।
निदाघऋतुसंवादो द्वितीयोंऽश उदाहृतः ॥

प्रथमभागस्य तृतीयांशे :—

"मन्वन्तरसमाख्यानं वेदव्यासावतारकम् ।
नरकोद्धारकं कर्म गदितञ्च ततः परम् ॥

सगरस्यौर्वसंवादे सर्वधर्मनिरूपणम् ।
श्राद्धकल्पं तथोद्दिष्टं वर्णाश्रमनिबन्धने ॥

सदाचारश्च कथितो मायामोहकथा ततः ।
तृतीयोंऽशोऽयमुदितः सर्वपापप्रणाशनः ॥"

प्रथमभागस्य चतुर्थांशे :—

"सूर्यवंशकथा पुण्या सोमवंशानुकीर्तनम् ।
चतुर्थेंऽशे मुनिश्रेष्ठ नानाराजकथाचितम् ॥"

प्रथमभागस्य पञ्चमांशे:—

"कृष्णावतारसम्प्रश्नो गोकुलीया कथा ततः ।
पूतनादिवधो बाल्ये कौमारेऽघादिहिंसनम् ॥

कैशोरे कंसहननं माथुरं चरितन्तथा ।
ततस्तु यौवने प्रोक्ता लीला द्वारवतीभवा ॥

सर्वदैत्यवधो यत्र विवाहाश्च पृथग्विधाः ।
यत्र स्थित्वा जगन्नाथः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ॥

भूभारहरणं चक्रे परस्वहननादिभिः ।
अष्टावक्रीयमाख्यानं पञ्चमोऽश इतीरितः ॥"

प्रथमभागस्य षष्ठांशे :—

कलिजं चरितम्प्रोक्तं चातुर्विध्यं लयस्य च ।
ब्रह्मज्ञानसमुद्देशः खाण्डिक्यस्य निरूपितः ॥
केशिध्वजेन चेत्येष षष्ठोऽशः परिकीर्तितः ।

तस्य द्वितीयभागे :—

अतः परन्तु सूतेन शौनकादिभिरादरात् ।
पृष्टेन चोदिताः शश्वद् विष्णुधर्मोत्तराह्वयाः ॥

नाना धर्मकथाः पुण्या व्रतानि नियमा यमाः ।
धर्मशास्त्रञ्चार्थशास्त्रं वेदान्तं ज्यौतिषन्तथा ॥

वंशाख्यानप्रकरणात् स्तोत्राणि मनवस्तथा ।
नाना विद्याश्रयाः प्रोक्ताः सर्वलोकोपकारकाः ।
एतद्विष्णुपुराणं वै सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः ॥"

तत्फलश्रुति :—

"वाराहकल्पवृत्तान्तं व्यासेन कथितन्त्विह ।
यो नरः पठते भक्त्या यः शृणोति च सादरम् ॥

तावुभौ विष्णुलोकं हि व्रजेताम्भुक्तभोगकौ ।
तल्लिखित्वा च यो दद्यादाषाढ्यां घृतधेनुना ॥

सहितं विष्णुभक्ताय पुराणार्थविदे द्विजः ।
स याति वैष्णवं धाम विमानेनार्कवर्चसा ॥

यश्च विष्णुपुराणस्य समनुक्रमणीं द्विज ।
कथयेच्छृणुयाद्वाऽपि स पुराणफलं लभेत् ॥

(४) वायुपुराणम्

"पुराणं यन्मयोक्तं हि चतुर्थं वायुसंज्ञितम् ।
चतुर्विंशतिसाहस्रं शिवमाहात्म्यसंयुतम् ॥

महिमानं शिवस्याह पूर्वे पाराशरः पुरा ।
अपरार्द्धे तु रेवाया माहात्म्यमतुलं मुने ॥

पुराणेषूत्तमं प्राहुः पुराणं वायुनोदितम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण शिवलोकमवाप्नुयात् ॥

यथा शिवस्तथा शैवं पुराणं वायुनोदितम् ।
शिवभक्तिसमायोगान्नामद्वयसमन्वितम् ॥

चतुर्थं वायुना प्रोक्तं वायवीयमिति स्मृतम् ।
शिवभक्तिसमायोगाच्छैवं तच्चापराख्यया ॥

चतुर्विंशतिसंख्यातं सहस्राणि तु शौनक ।
चतुर्भिः पर्वभिः प्रोक्तं ॥"

रेवा-माहात्म्यम्—

"शृणु विप्र प्रवक्ष्यामि पुराणं वायवीयकम् ।
तस्मिञ् श्रुते लभेद्धाम रुद्रस्य परमात्मनः ॥

चतुर्विंशतिसाहस्रं तत् पुराणं प्रकीर्तितम् ।
श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान्यत्राह मारुतः ।
तद्वायवीयमुदितं भागद्वयसमाचितम् ॥

पूर्वभागे—

स्वर्गादिलक्षणं यत्र प्रोक्तं विप्र सविस्तरात् ।
मन्वन्तरेषु वंशाश्च राज्ञां ये यत्र कीर्तिताः ॥

गयासुरस्य हननं विस्तराद् यत्र कीर्तितम् ॥
मासानां चैव माहात्म्यं माघस्योक्तं फलाधिकम् ।

दानधर्म्मा राजधर्म्मा विस्तरेणोदितास्तथा ॥
भूमिपातालककुब्व्योमचारिणां यत्र निर्णयः ।
व्रतादीनाञ्च पूर्वोऽयं विभागः समुदाहृतः ॥

तदुत्तरभागे—

उत्तरे तस्य भागे तु नर्मदातीर्थवर्णनम् ।
शिवस्य संहिताख्या वै विस्तरेण मुनीश्वर ॥

यो देवः सर्वदेवानां दुर्विज्ञेयः सनातनः ।
स तु सर्वात्मना यस्यास्तीरे तिष्ठति सन्ततम् ॥

इदं ब्रह्मा हरिरिदं साक्षाच्चेदं परो हरः ।
इदं ब्रह्म निराकारं कैवल्यं नर्म्मदाजलम् ॥

ध्रुवं लोकहितार्थाय शिवेन स्वशरीरतः ।
शक्तिः कापि सरिद्रूपा रेवेयमवतारिता ॥

ये वसन्त्युत्तरे कूले रुद्रस्यानुचरा हि ते ।
वसन्ति याम्यतीरे ये लोकं ते यान्ति वैष्णवम् ॥

ओङ्कारेश्वरमारभ्य यावत् पश्चिमसागरम् ।
सङ्गमाः पञ्च च त्रिंशन्नदीनां पापनाशनाः ॥

दशैकमुत्तरे तीरे त्रयोविंशति दक्षिणे ।
पञ्चत्रिंशत्तमः प्रोक्तो रेवासागरसङ्गमः ॥

सङ्गमे सहितान्येवं रेवातीरद्वयेऽपि च ।
चतुःशतानि तीर्थानि प्रसिद्धानि च सन्ति हि ॥

षष्टितीर्थसहस्राणि षष्टिकोटयो मुनीश्वर।
सन्ति चान्यानि रेवायास्तीरयुग्मे पदे पदे॥

संहितेयं महापुण्या शिवस्य परमात्मनः।
नर्म्मदाचरितं यत्र वायुना परिकीर्त्तितम्॥

—नारदपुराण

(५) शिवपुराणम्

तत्स्थविषयाणां प्रतिपादनम्

ज्ञानसंहितायाम् :—

ऋषिगणस्य प्रश्नः। ब्रह्मनारदसंवादः ज्योतिर्लिङ्गप्रादुर्भावश्च। ओंकारप्रादुर्भावः, शिवस्यानुग्रहः, विष्णुकृतशिवस्तुतिः। उभयोः कृते शिवस्य वरदानम्। ब्रह्मणो हंसरूपधारणस्य विष्णोः वराहरूपधारणस्य च कारणरूपनिर्देशः, ब्रह्मादीनामुत्पत्तिकथनम्। ऋष्यादीनां सृष्टिः। भगवत्याः देहत्यागस्य संक्षेपेण वृत्तान्तकथनम् शिवपूजाविधिश्च। पावमानमन्त्रैः शिवपूजाविधिः। तारकोपाख्यानं, ब्रह्मणः समीपे देवादीनां गमनञ्च। ब्रह्मदेवसंवादः शिवस्य तपोवर्णनञ्च मदनदहनम्, पार्वत्याश्च प्रत्यावर्त्तनम्। पार्वत्यास्तपः। पार्वतीतपः समुद्दिश्य देवगणानामृषीणाञ्च शिवसन्निधाने गमनम्, जटिलब्राह्मणवेशे पार्वत्याः सकाशं शिवस्यागमनम्। हरपार्वतीसंवादः। शिवविवाहोद्योगः। शिवविवाहयात्रा। शिवरूपदर्शने मेनकायाः खेदस्तां प्रति भगवत्या ज्ञानोपदेशः। हरपार्वत्योर्विवाहः। कार्तिकेयस्य जन्म देवसेनापतित्वं तारकवधश्च एवं ब्रह्मणो वरेण तारकपुत्राणां त्रिपुरेऽधिष्ठानम्। विष्णुसृष्टौ मुण्डिकर्तृकदैत्यगणानाम्मोहोत्पादनम्। मुण्डिन उपदेशेन दैत्यानां धर्मनाशः दरिद्रताञ्च दृष्ट्वा विष्णुप्रभृतिदेवगणानां शिवस्तवः। विष्णूपदेशेन देवगणानां कोटिशिवमन्त्रजापः शिवस्तवश्च। देवमयरथारोहणे शिवकर्तृकत्रिपुरनाशः। देवगणानां वरलाभश्च। हरिकर्तृक-लिङ्गार्चनफलकथनम्। अधिकारानुसारेण देवेभ्यस्तैजसादिलिङ्गदानम्। शिवपूजाविधिकथनम्। आह्निककर्तव्यशिवपूजाविधिः। षोडशोपचारेण साम्बशिवपूजा। धान्यादिभिः शिवपूजायाः फलविशेषकथनम्। जानकीशापेन केतकीपुष्पेण शिवपूजाया निषेधः रामचरित्रकीर्तनञ्च। चम्पकपुष्पस्य शिवपूजार्थं राज्ञो मोहस्तदुत्पादनपूर्वकं कृतदुष्कर्मब्राह्मण-चम्पकपुष्पयोश्च नारदस्य शापः। गणेशचरित्रम्। गणेशकर्तृकशिवगणानांपराजयः शिवकर्तृकगणेशशिरश्छेदनञ्च। शिरश्छेदनेन देव्याः क्रोधः महादेवस्य च गणपतेः प्राणदानं गाणपत्यप्रदानञ्च। कार्त्तिक-गणेशयोर्विवादः गणेशस्य जयलाभश्च। गणेशस्य विवाहस्तच्छ्रुत्वा कार्त्तिकस्य क्रोधः क्रौञ्चपर्वतगमनञ्च। रुद्राक्ष-

धारणमाहात्म्यकथनम् । प्रधानज्योतिर्लिङ्गोपलिङ्गानां नामस्थानकथनम् । नन्दिकेशतीर्थमाहात्म्ये गोवत्ससंवादादिः । नन्दिकेशतीर्थमाहात्म्यकथनम् । अत्रीश्वरलिङ्गमाहात्म्यकथनम् । ज्योतिर्लिंगादीनां समस्तवस्तूनां प्राधान्यकथनम् शिवलिंगमाहात्म्यकथनञ्च । अश्वकेश्वरवर्णनप्रसंगेऽश्वकमर्दनकथनम् । शिवरात्रिव्रतसंशयहेतुदधीचितनयानां दोषकथनम् । सोमेश्वरकथा ज्योतिर्लिंगोत्पत्तिकथनञ्च । महाकालोंकारेश्वरयोरुत्पत्तिः । केदारेश्वरप्रसङ्गः । भीमशङ्करप्रादुर्भावः । विश्वेश्वरस्य माहात्म्यम् गौरीं प्रति शिवस्य काशीमाहात्म्यकथनम् । गोपेश्वरमाहात्म्यकथनम् । काशीमरणान्मोक्षप्राप्तेः शङ्कानिवारणम् । गौतमस्य तपस्या-तत्क्षेत्रकथनञ्च । गणेशपूजनं गौतमचरित्रञ्च । गौतमप्रशंसा, गंगास्थितिः कुशावर्तमाहात्म्यं त्र्यम्बकमाहात्म्यञ्च । रावणस्य तपस्यामाहात्म्यम्, वैद्यनाथस्योत्पत्तिः । रामेश्वरमाहात्म्ये नागेशमाहात्म्यञ्च । घुस्मेश्वरमाहात्म्यञ्च, वराहरूपेण हिरण्याक्षवधः प्रह्लादचरित्रञ्च । प्रह्लादहिरण्यकशिपु-प्रस्तावः । हिरण्यकशिपुवधः नृसिंहचरित्रञ्च । नलजन्मान्तरकथा । पाण्डवगणकर्तृकदुर्वाससः प्रीत्युत्पादनम् । व्यासादेशेन इन्द्रकीलपर्वते अर्जुनस्य तपः इन्द्रसमागमश्च । भिल्लरूपस्य शिवस्यागमनञ्च । भिल्लवेषधारिशिवस्य अर्जुनेन सह युद्धम् । अर्जुनस्य वरदानम् । पार्थिवशिवपूजाविधिः । बिल्वेश्वरमाहात्म्यम् । विष्णुकर्तृकसहस्रकमलशिवपूजा । शिवकृपया सुदर्शनचक्रलाभः । शिवसहस्रनामवर्णनम् । विष्णुप्रभृतीन् शिवस्य शिवरात्रिव्रतकथनम् । शिवरात्रिव्रतस्योद्यापनविधिः । व्याधास्येतिहासकथनम् । अज्ञानेन कृतस्य शिवरात्रिव्रतस्य प्रशंसा । शिवरात्रिव्रतकरणेन पापिनो वेदनिधेर्मुक्तिः । चतुर्विधमुक्तिवर्णनम् । शिवकर्तृकविष्णुप्रभृतीनामुत्पत्तिकथनम् । एकमात्रभक्तिसाधनेन शिवभक्तेर्लाभकथनम् ।

विद्येश्वरसंहितायाम्—

साध्यसाधननिरूपणम् । मननादिस्वरूपवर्णनम् । श्रवणाद्यशक्तव्यक्तीनां लिङ्गपूजनसाधनकथनम् । ब्रह्मविष्ण्वोः युद्धं दृष्ट्वा शिवसमीपे देवतानां गमनम् । ज्योतिर्मयलिङ्गप्रादुर्भावस्तद् दृष्ट्वा ब्रह्मविष्ण्वोर्विवादशान्तिः । भैरवकर्तृकब्रह्मणः शिरश्छेदनम् । ब्रह्माणं प्रति शिवस्यानुग्रहः । ब्रह्मविष्णुकृता शिवपूजा लिंगनिर्माणं लिंगप्रतिष्ठा । लिङ्गपूजायाः नियमकथनम् । शिवतीर्थसेवामाहात्म्यम् । विप्रादिसदाचारस्य नित्यकृत्यता । पञ्चमहायज्ञकथनम् । दिनविशेषे देवपूजायाः कर्तव्यताकथनम् । देशकालादिविशेषे पूजाफलकथनम् । पार्थिवप्रतिमापूजाविधिः । प्रणवमाहात्म्यम् । शिवभक्तपूजाकथनम् । षड्लिंगमाहात्म्यम् । बन्धनमुक्त्योः स्वरूपकथनम् । लिंगक्रमकथनम् ।

कैलाशसंहितायाम्ः—

वाराणसीधाम्नि सूतकर्तृकमुनीनां निकटे प्रणवार्थकथनारम्भः। कैलाशधाम्नि देवीकृता शिवं प्रति प्रणवार्थजिज्ञासा। प्रणवोक्तमन्त्रदीक्षादिकथनम् । प्रणवोद्धारः, विविधपूजा एवं न्यासान्तरादिविधिः।

कार्तिकेयं प्रति वामदेव ऋषेः प्रणवस्य कृते प्रश्नः। कुमारकर्तृकं वामदेवं प्रति प्रणवोपासनाकथनम् । षड्विधार्थपरिज्ञानं । विस्तृतप्रणवार्थःकलातन्त्रादि विवर्णकथनम्।

सनत्कुमारसंहितायाम्ः—

नैमिषारण्ये सनत्कुमारस्यागमनम् । व्यासादिभिर्मिलनम्। शिवपूजाविषये ऋषीणां प्रश्नः। सनत्कुमारस्य पृथ्व्यादेः संस्थानक्रमप्रभृतीनां कथनम्। प्रकृतितः महदादिक्रमे जगतः सृष्टिः सप्तद्वीपवर्णनञ्च। नरकादिवर्णनम्। ऊर्द्ध्वलोकयोगमाहात्म्यकथनम्। सविस्तरं रुद्रमाहात्म्यं, पंचमूर्तिकथनम्। रुद्रकीर्तनफलम्। रुद्रस्तवः। सनत्कुमारस्य चरित्रम्; परमसिद्धिश्च। शिवसर्वज्ञादिकथनम्। रुद्रलोकब्रह्मलोकविष्णुलोकानां कथनम् । रुद्रस्थानस्य सर्वश्रेष्ठत्वकथनम्। विभीषण-महेश्वरसंवादः । लिङ्गपूजा शिवनामकीर्तनफलञ्च । स्थानमाहात्म्यकथनम् । ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां मध्ये कस्य ज्येष्ठत्वम् इति व्यासप्रश्ने सनत्कुमारसमुत्तरदानं शिवलिङ्गमाहात्म्यादिकथनञ्च । लिङ्गस्थापनं शिवशक्त्योः पूजनविधिः शिवपूजायां पुष्पनिरूपणम्। अनशनविधिः। शिवप्रीतिकरः धर्मस्य संक्षिप्त उपदेशः। लक्ष्मणाष्टमीव्रतकथनञ्च। अन्नदानमाहात्म्यं भिन्न २ दानानां प्रशंसा च। विविधधर्मकार्याणामुपदेशः। सविस्तरं नियमफलकथनम्। पार्वत्याः शिवस्य शिरसि चन्द्रधारणे विषभक्षणविषये च प्रश्नः। भस्मप्रशंसा भस्मधारणस्य फलकथनम्। शिवस्य श्मशानवासहेतुः। शिवपूजायाः फलकथनम्। शिवविभूतिकथनम्। शिवस्थाननिर्देशः। प्रणवस्योपासना। प्रणवदेवताकथनम्। ध्यानयोगकथनम्। दुर्वाससः महादेवं प्रति पुनर्ध्यानवर्णनम् तदर्थं काशीवासनिर्देशश्च। वायुनाडिकादिनिरूपणम्। ध्याननिधेः प्रशंसा। प्रणवोपासना निरूपणम्। शरीरस्य सर्वदेवमयत्वकथनम्। नाडीविस्तारकथनम्। हरपार्वतीसंवादः काशीमाहात्म्यकथनञ्च। मधूकस्योपाख्यानम् । सपुत्रस्य प्रतापमुकुटराज्ञ ओंकारेश्वरदर्शनम्। ओंकारस्तवः। नन्दीश्वरस्य तपस्या। नन्दिनं प्रति शिवस्य वरदानम्। महादेवस्य स्मरणम्। देवानामागमनम्। शिवस्यादेशेन देवानां नन्दिनः गाणपत्याभिषेककरणम्। नन्दिनः स्तवः नन्दिविवाहश्च। नीलकण्ठमाहात्म्यं, स्तोत्रञ्च, त्रिपुरवृत्तान्तम्। देवानां मुखं दृष्ट्वा महादेवस्य सन्तोषः। त्रिपुरनाशस्योद्योगः।

त्रिपुरदाहः। पार्वत्याः प्रश्नः। शिवस्य ब्रह्मणश्च माहात्म्यकीर्तनम्। पाशुपतयोगः। देहस्थनाडीनां विवरणम्। विमलज्ञानेन ईश्वरषद्प्राप्तिः। शिवस्थितिलोककथनम्।

वायवीयसंहितायाम् :—

महादेवकृपया श्रीकृष्णस्य पुत्रलाभकथनम्। वेदादिव्यवस्था। पुराणसंख्याकथनम्। ब्रह्मणो निकटे ऋषीणां शिवतत्त्वकथनम्। ब्रह्मण आदेशेन नैमिषारण्ये यज्ञार्थं गमनम्। नैमिषारण्ये ऋषीन् प्रति वायोः कुशलप्रश्नोक्तिः। शिवतत्त्वम् मायास्वरूपकथनञ्च। शिवस्य कालरूपत्वप्रकटनम्। सविस्तरं कालमानकथनम्। प्रकृतिसृष्टिकथनम्। ब्रह्मकर्तृकवराहरूपे ब्रह्मणि जगद्व्यवस्थापनम्। शिवप्रसादाद् ब्रह्मणः सृष्टिकरणम्।

ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां परस्परं वशवर्त्तित्वम्। ब्रह्मणश्च महादेवादुत्पत्तिकथनम्। ब्रह्माणं प्रति सृष्टिकरणार्थं रुद्रस्यादेशः। प्रजावृद्ध्यर्थं ब्रह्मणः अर्धनारीश्वरप्रसादनम्। रुद्रकर्तृकस्त्रियाः सृष्टिः मैथुनसृष्टिश्च। दक्षयज्ञकथनम् देव्याश्च देहत्यागः। वीरभद्रनिरूपणम्। काल्याः सृष्टिः। दक्षयज्ञनाशः। वीरभद्रस्य शिवनिकटे देवानयनम्। दक्षस्य छागमुखता च। व्याघ्रं प्रति पार्वत्या अनुग्रहः। शिवसमीपे देव्यागमनम् व्याघ्रस्य सोमन्ददीनामकरणञ्च। देव्याः समीपे शिवकर्तृकम् अग्निष्टोमात्मकविश्वप्रपञ्चकथनम्। त्रिविधशब्दार्थकथनम्। जगतः शब्दरूपित्वकीर्तनम्। महर्षीणां शिवशक्त्योः कीर्तनम्। नास्तिकताविनाशाय तयोर्जन्म। वायुना सविस्तरं शिवतत्त्वकथनम् मुक्त्यर्थं ज्ञानस्य चोपदेशः। पाशुपतयोगे मुक्तिलाभकथनम्। पाशुपतव्रतकथनं भस्ममाहात्म्यकथनञ्च। दुग्धप्राप्त्यर्थमुपमन्योः महादेवस्य प्रसादेन दुग्धसमुद्रप्राप्तिः।

उत्तरभागे :—

श्वेतकल्पे प्रयागे मुनिगणैर्जिज्ञासितं प्रश्नं प्रति सूतस्य वायुकथित-शिवमाहात्म्यकथनरूपमुत्तरम्। श्रीकृष्णम्प्रति उपमन्योः पाशुपतज्ञानकथनम्। सुरेन्द्रादिपरीक्षा। ब्रह्मविष्णुप्रभृतिभिः शिवस्वरूपकथनम्। श्रीपुरुषात्मक उमामहेश्वरयोर्जगत्प्रपञ्चकत्वकथनम्। परब्रह्मापरब्रह्मणोरेकत्वकथनम्। महादेवस्य अप्राकृतरूपस्य प्रणवात्मकत्वकथनं प्रणवस्वरूपकथनञ्च। भक्त्यादिद्वारा मानवानां शिवप्राप्तियोग्यता। ब्रह्मादिदेवान् देवीम्प्रति च शिवस्य वेदसारज्ञानोपदेशः। शिवावतारस्य कल्पयोगेश्वरस्य च कथनम् शिवपञ्चाक्षरमन्त्रस्वरूपम् माहात्म्यञ्च। शैवमन्त्रग्रहणस्य कथा। दीक्षाप्रयोगः। षडध्वशुद्धिप्रभृतिकथनम्। शिवनाम्नः शिवमन्त्रस्य च साधनविधिः। आचार्यत्वसिद्धेरभिषेकादीनां संस्काराणाञ्च कथनम्।

शैवादीनामाह्निककर्मकथनम् । अन्तर्याग-बहिर्याग-कथनक्रमश्च । नानाविधानेषु हरपार्वत्योः पूजाविधिः । होमकुण्डानां परिमाणादीनां निर्णयः । मासादिविशेषेषु नैमित्तिकशिवपूजाकथनम् । काम्यशिवपूजाकथनम् । शिवस्तोत्रम् प्रकारान्तरेण लिङ्गपूजा च । शिवपूजाफले ब्रह्मादीनां स्वीयस्वीयपदप्राप्तिः । ब्रह्मविष्ण्वोः लिङ्ग-दर्शनम् । शिवप्रतिष्ठा शिवप्रोक्षणविधिश्च । योगोपदेशः । मुनीनां समीपे शिव-चरितपूर्वकवायोरन्तर्धानम् । यज्ञसमाप्तौ ब्रह्मणो निकटे मुनीनामागमनम् । ब्रह्मण आदेशेन सुमेरुपर्वते सनत्कुमारसमीपे मुनीनामागमनम् । नन्दिसमागमः । नन्दिकर्तृकशिवकथावर्णनम् ।

धर्मसंहितायाम् :—

शिवमाहात्म्यनिरूपणम् । उपमन्योः समीपे श्रीकृष्णस्य शिवमन्त्रे दीक्षाग्रह-णम् । रुरुदैत्यवधः । गोपीप्रभृतिरूपमहादेवेन सह अप्सरसां विहारः । उषाऽनिरु-द्धयोः समागमः । बाणराज्ञो युद्धादिकथनम् । काल्यास्तपस्या, आडीदैत्यवृत्तान्तः । वीरकस्य नन्दिरूपेण जन्मकारणम् शिवस्य कामाचारो लिङ्गोद्भवकथा च । शक्रा-दीनां कामकिंकरत्वकथनम् । महात्मनां कामक्षोभः । विश्वामित्रप्रभृतीनां काम-वश्यताकथनम् । श्रीरामस्य कामाधीनत्वकथनम् । नित्यनैमित्तिकशिवपूजा-विधिः । शङ्करक्रियायोगस्तत्फलञ्च । शिवभक्तपूजा तत्फलञ्च । विविधपापकथनम् पापफलानि च । धर्म्मप्रसङ्गः । अन्नदानविधिः । जलदानमाहात्म्यम् । पुराण-पाठस्य माहात्म्यम् धर्म्मश्रवणमाहात्म्यञ्च । महादानकथनम् । सुवर्णपृथिवी-दानम् । कान्तारहस्तिदानम् । एकदिनस्याराधनेनैव शङ्करस्य कृपा । शिवसहस्र-नामवर्णनम् धर्म्मोपदेशस्तुलापुरुषदानञ्च । परशुरामस्य तुलापुरुषदानम् । ब्रह्मणः प्रसङ्गः । नरकादिकीर्त्तनम् । द्वीपादिकथनम् । भारतवर्षादिकथनम् । ग्रहादीनां कथा मृत्युञ्जयोद्धारश्च । मन्त्रराजप्रभावकीर्त्तनम् । पञ्चब्रह्मकथनं पञ्चब्रह्मविधानञ्च । तत्पुरुषविधानम् । अघोरकल्प-वामदेवकल्प-सद्योजातकल्पादिकथनम् । संसार-कथा स्त्रीस्वभावादिकथनञ्च । अरुन्धतीदेवानां संवादः । विवाहकथा । मृत्युचिह्न-स्य आयुषः प्रमाणम् । कालजयः । छायापुरुषलक्षणम् । धार्मिकाणां गतिर्लिङ्गपू-जायाः कारणञ्च । विष्णुकृतः शिवस्तवः लिङ्गपूजायाः फलञ्च । सृष्टिकथनम् । प्रजापतिकृतसृष्टिकथनम् । पृथुराज्ञः पूजायाः कथा । देवदानवादीनां सृष्टि विस्तारः । आधिपत्यनिर्णयः । पृथुचरितवर्णनम् । मन्वन्तरादिवर्णनम् । सञ्ज्ञा-छायादीनां कथनम् । सूर्यवंशवर्णनम् । सत्यव्रत-सगरराज्ञोश्च विवरणकथनम् पितृ-कल्पस्य श्राद्धस्य च कथा, पितृसप्तकवर्णनम् । मुनीनां जात्यन्तरप्राप्तिः । साधुसङ्गेन मुनिसप्तकस्य सद्गतिलाभः । व्यासपूजा ।

विधानसहितं सम्यक् पुराणं फलदं श्रुतम् ।
तस्माद्विधानयुक्तन्तु पुराणं फलमुत्तमम् ॥

(६) देवीभागवतम्

तत्प्रतिपादितविषयाश्च

प्रथमस्कन्धे :—

देवीभागवतस्य महापुराणत्वादिसिद्धान्तनिर्णयः । ग्रन्थारम्भमंगलम्, ऋषीणां-पुराणविषयप्रश्नः ग्रन्थसङ्ख्या विषयश्च । ससंख्याक–पुराणाख्या तत्तद्युगीयव्यासानुकथनञ्च । देवीसर्वोत्तमेतिकथनं प्रसङ्गतः शुकजन्म च । देव्या महोत्कर्षः । मधुकैटभयोर्युद्धोद्योगः । ब्रह्मणा मधुकैटभभीतेन पराम्बिकायाः स्तुतिः । आराध्यनिर्णयः । देवीप्रसादान्मधुकैटभयोर्हरिणा वधः । शिवस्य वरदानम् । बुधोत्पत्तिः । पुरूरवस उत्पत्तिः । पुरूरवस उर्वश्याश्चरितम् । शुकस्योत्पत्तिः । शुकवैराग्यम् । शुकायैतत्पुराणोपदेशः । जनकस्य परीक्षार्थं शुकस्य मिथिलागमनम् । शुकाय जनकोपदेशः । शुकस्य विवाहादिकम् । शुकनिर्गमनोत्तरं व्यासकृत्योपवर्णनम् ।

द्वितीयस्कन्धे :—

व्यासजन्मवृत्तान्तवर्णनम् । पराशराद्दाशकन्योदरे व्यासस्य जन्म । शन्तनोः सत्यवत्या गङ्गया च सह विवाहः वसूनामुत्पत्तिश्च । शन्तुना सत्यवत्या वरणम् । व्यासात् पुत्रत्रयोत्पत्तिः पाण्डवोत्पत्तिश्च । पाण्डवानां कथानकं मृतानां दर्शनञ्च । यदुकुलस्य नाशः उत्तरासूनोर्वृत्तञ्च । रुरुपुरावृत्तकथनपूर्वको गुप्तगृहे राज्ञो वासः । तक्षकद्विजयोः सम्भाषणं तक्षकेण राज्ञो दर्शनञ्च सर्पसत्राय बद्धपरिकरस्य जनमेजयस्यास्तीकेन निवारणम् । आस्तीकस्योद्भवो भागवतमाहात्म्यञ्च ।

तृतीयस्कन्धे :—

भुवनेश्वरीनिर्णयः । विमानेन ब्रह्मादीनां गतिः । विमानस्थैर्हरादिभिर्देवीदर्शनम् । विष्णुना कृतं देवीस्तोत्रं तदूर्ध्वं हरस्तुतिर्ब्रह्मस्तुतिश्च । ब्रह्मणे श्रीदेव्या उपदेशः । तत्त्वनिरूपणम् । गुणानां रूपसंस्थानादि । पुनरपि गुणानां लक्षणमधिकृत्य नारदप्रश्नः । सत्यव्रतकथा । वाग्बीजोच्चारणात् सत्यव्रतस्य सिद्धिलाभः । अम्बायज्ञविधिः । अम्बिकामखस्य विष्णुनानुष्ठानम् । राजप्रश्नोत्तरं वैभववर्णनञ्च । युधाजिद्वीरसेनयोर्दौहित्रार्थयुद्धम् । युधाजितः सुदर्शनजिघांसया भरद्वाजाश्रमं प्रति गमनम् । विश्वामित्रकथोत्तरं राजपुत्रस्य कामबीजप्राप्तिः काशीराजस्य स्वसुताविवाहोद्योगः । सुदर्शनेन सह राज्ञां स्वयम्बरागमनम् । राजसंवादनिवृत्तिपूर्वकं कन्याबोधः । राज्ञां कोलाहले कन्यासम्मतस्य राज्ञः स्थानम् । सुदर्शन-

विवाहः सुबाहोः कन्याया विवाहश्च। महारणे शत्रूणां देव्या व्यापादनम्। देवी-महिमा काश्यां दुर्गावासश्च। अंबिकातोषणं तत्पुरे देवीस्थापनञ्च। नवरात्रविधे-र्नृपाय व्यासेन कथनम्। कुमारिकाकथनम्। रामायणकथाप्रश्नः। रामशोकः। नारदेन व्रतकथनम्।

चतुर्थस्कन्धे :—

कृष्णावतारप्रश्नः। कर्मणो जन्मादिकारणत्वनिरूपणम्। अदितेः शापकथनम्। अधमजगतः स्थितिः। नारायणकथा। नराग्रजेनोर्वशीसृष्टिः। अहंकारावर्तनम्। प्रह्लादनारायणयोः समागमः प्रह्लादनारायणयोर्युद्धम्। हरये भृगुणा शापदानम्। शुक्रस्य मन्त्रलाभार्थं गमनं शुक्रमातुर्वधश्च। भृगुणा शुक्रमातुरुज्जीवनम्। जयन्त्याः शुक्रसेवार्थं प्रेषणम्। शुक्ररूपेण देवानां गुरुणा दैत्यवञ्चना। दैत्यानां शुक्र सम्प्राप्तिः। देवदानवयोर्युद्धशान्तिः। हरेर्नानावताराः। सुराङ्गनानां नारायणाश्रमे गमनम्। दुष्टराजभाराक्रान्ताया मेदिन्या ब्रह्माणं प्रति गमनम्। देवैः शक्तिस्तवनम्। वासुदे-वांशावतारकथा। देवक्याः सप्तानां पुत्राणां वधः। देवानामंशावतारणम्। कृष्णजन्म-कथनम्। कृष्णकथा। पराशक्तेः सर्वज्ञत्वकथनम्।

पञ्चमस्कन्धे :—

विष्णोरपेक्षया रुद्रस्य श्रेष्ठत्वम्। देवीमाहात्म्यवर्णनम् महिषोत्पत्तिः। देवेन्द्रेण सह समरोद्योगः। देवानां संसदिविमर्शः। देवसेनापराजयः। देवदानवयुद्धम्। परा-भूतानां देवानां कैलासगमनम्। जगदम्बायाः पलाशसमिधां ज्वालनयोत्पत्ति-कथनम्। देवैर्महायुधैर्देव्यर्चनम्। रक्तदूतसंवादकीर्तनम्। महिषासुरसंसदि विम्र-श्यानाम्नो दूतस्य प्रेषणम्। ताम्रस्यागमनोत्तरं बाष्कल-दुर्मुखयोः प्रेषणम्। बाष्कल-दुर्मुखयोर्वधः। ताम्रचिक्षुरयोर्देव्या वधः। महारणेऽसिलोमादीनां निधनम्। महिषा-सुरस्य देव्या संवादः। मंदोदर्याः कथानकम्। महिषस्य वधः। देवैः कृता महादेवीस्तु-तिः अन्तर्धानोत्तरं वृत्तकथनम्। शुम्भासुरकथा। परादेव्याः सुरकार्यार्थं प्रादुर्भावः। कौशिकीतिप्रसिद्धाया देव्या गिरौ प्रादुर्भावः। दूतसंवादकीर्तनम्। धूम्रलोचनवधः। चण्डमुण्डयोः श्रीदेव्या सह युद्धम्। रक्तबीजयुद्धम्। रक्तबीधवधः शुम्भस्य युद्धस्य-विस्तारः। शुंभस्य युद्धोयोगः। निशुम्भवधः। शुम्भासुरवधाश्रितकथा। राजवैश्यो-श्चरित्रश्रय सेवकयोर्वार्ता। भुवनसुन्दर्या राज्ञे कथनम्। राज्ञे तापसोपदेशः। राजवै-श्ययोर्देव्याः प्रत्यक्षदर्शनम्।

षष्ठस्कन्धे :—

वृत्रदैत्यवधकथारम्भः। त्रिशिरोवधवर्णनम्। पित्राज्ञया वृत्रस्य तपोर्थं वनग-मनम्। वृत्रेण वरगर्वेण पराभूतानां देवानां शंकरसमीपे गमनम्। देवीस्तुत्या

देवैर्वरप्रापणम्। वृत्रदैत्यवधाश्रिता कथा। वासवस्य गुप्तवासो नहुषस्य चेन्द्रपदेऽभिषेकः। नहुषेण प्रार्थितायाः शच्याश्चिन्ता, देवीप्रसादतस्तस्या इन्द्रदर्शनम्। नहुषस्याधःपातः त्रिविधस्य कर्मणो रूपकथनम्। युगोद्भवानां धर्माणां कथनं सदसद्धर्मविनिर्णयश्च। आडीबकमहायुद्धस्य तीर्थयात्राप्रसङ्गत उपवर्णनम् शुनःशेपकथान्ते युद्धस्य स्मरणम्। वसिष्ठस्य मित्रावरुणापत्यत्वविस्तरः। निमेर्देहान्तरे गतिः हैहयानां कथा। हैहयेन भार्गवाणां वधः। देवीकृपया भृगुवंशस्तुतिः। हैहयस्यकथा। हरेरश्विन्यां जन्म। हयीजातस्य हरेः कथानकम्। एकवीराभिषेचनोद्भवंवृत्तकथनम्। एकावल्याः कथानकम्। हैहयभूभृतः कालकेतुना महायुद्धम्। विक्षेपशक्तिकथनम्। व्यासेन स्वमोहोपपादनम्। नारदेनापि तथाकरणम्। नारदस्य विवाहः। पुनरपि तस्यैव विस्तारः। स्त्रीभावं गतस्य नारदस्य पुनः पुरुषत्वप्राप्तिः। हरिणा महामायाप्रभावकथनम्। भगवतीध्यानादिकम्।

सप्तमस्कन्धे :—

सूर्यसोमोद्भवानां कथारम्भः। तदन्वयस्य विस्तारः। सुकन्यकायाश्च्यवनाय प्रदानम्। सुकन्यादेवभिषजोः संवादः। रविपुत्रप्रसादजा च्यवनस्य युवावस्था। शर्यातेर्यज्ञकरणम्। तत्राश्विनोः सोमपानम्। तद्वंशकथनम्। ककुत्स्थादीनामुत्पत्तिः। सत्यव्रतकथा। त्रिशङ्कोः कथानकम्। त्रिशङ्कोः स्वर्गवासः। हरिश्चन्द्रे नृपे सति त्रिशङ्कोर्विश्वामित्रेण समागमः। हरिश्चन्द्रकथा। राज्ञः पुत्रोत्सवः। शुनःशेपवधाश्रया कथा। विश्वामित्रेण शुनःशेपस्य मोचनम्। हरिश्चन्द्रेण विश्वामित्रवैरम्। हरिश्चन्द्रस्य राज्यविध्वंसः। नृपस्य दक्षिणादानयत्नः। तत्कृतः शोकः। हरिश्चन्द्रेणात्मविक्रयः। चाण्डालेन हरिश्चन्द्रक्रयः। हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालगृहेऽवस्थानम्। भूभृतः पुत्रभार्याकथा। पत्नीमभिज्ञाय हरिश्चन्द्रस्य शोकः। हरिश्चन्द्रस्य स्वर्गवासः। शताक्षी महिमा। राजवार्तायाः प्रश्नः। गौरीजन्म नानापीडोद्भवश्च। पार्वत्या हिमालयाज्जन्म। आत्मतत्त्वनिरूपणम्। विश्वरूपदर्शनम्। ज्ञानस्य मोक्षार्थत्वम्। मन्त्रसिद्धेः साधनम्। ब्रह्मतत्त्वम्। भक्तिमहिमा। देव्या महोत्सवव्रतानि स्थानानि च। भगवतीपूजनम्। ब्रह्मपूजाविधानम्।

अष्टमस्कन्धे :—

मनवे देव्या वरदानम्। वराहेण धरोद्धरणम्। मनुवंशवर्णनम्। प्रियव्रतकथानकम्। भूमण्डलस्य विस्तारः। देवीवर्णनं देव्युपास्तिश्च। मूलादूर्ध्वमहार्यवर्णनम्। इलावृत्तवर्णनम्। वर्षान्तर्गतसेव्यसेवकत्वकथनम्। तत्र सेव्यसेवकरूपाणां वर्णनम्। वर्षान्तरे क्रमप्राप्ता सेव्यसेवकता। द्वीपान्तरसमाचारः। शिष्टद्वीपसमाचारः। लोकालोकगिरिव्यवस्था। रवेर्गमनमान्द्यादिप्रकारः। सोमादीनां गत्यनु-

सारेण विविधं फलम्। ध्रुवमण्डलसंस्थानम्। राहुमण्डलं सूर्यचन्द्रोपरागश्च। तला-देर्वर्णनम्। तलातलस्थितिः। नरकस्वरूपम्। पातकोपपादनम्। शिष्टानां नरकाणां वर्णनम्। देव्याराधनम्।

नवमस्कन्धे :—

संक्षेपेण शक्तिवर्णनम्। पंचप्रकृतिसंभवः देवतादिसृष्टिः। सरस्वतीस्तोत्रपूजादि। धर्मात्मजेन नारदाय सरस्वतीमहास्तोत्रकथनम्। लक्ष्मीगंगाभारतीनां जन्म पृथ्वी-लोके। तासां शापोद्धारप्रकारः। गङ्गादीनां समुत्पत्तिः कलौ वर्त्तनञ्च। शक्त्युत्पत्ति-प्रसङ्गतो भूमिशक्तेः समुत्पत्तिः। धरादेव्या अपराधे कृते सति नरकादिफलप्राप्ति-कथनम्। गङ्गोत्पत्तिः। राधाकृष्णाऽङ्गसंभवाया गङ्गाया गोलोके समुत्पत्तिः। जाह्नवी नारायणप्रिया जातेति कथनम्। गङ्गाविष्ण्वोः परस्परसम्बन्धकरणम्। तुलस्युपा-ख्यानप्रश्नः। महालक्ष्म्या राजगृहे जन्म। धर्मध्वजसुतायास्तुलस्याः कथा। शङ्ख-चूडेन तुलस्याः सङ्गतिः संवादश्च। तयोर्विवाहानन्तरं देवानां वैकुण्ठगमनम्। शङ्ख-चूडस्य देवैः सह संग्रामः। शङ्खचूडमहेशयोर्युद्धम्। युद्धारम्भः जनार्दनेन शङ्खचूड-स्य कवचहरणम्। तुलसीसंगमवर्णनं तन्माहात्म्यञ्च। महामन्त्रसहितं तुलसीपूजनम्। साविच्याख्यानम्। तस्या राजोदरे जन्म। अध्यात्मप्रश्नः। दानधर्मफलम्। नाना-दानफलम्। साविच्यै मूलशक्तिमहामन्त्रदानम्। पातकानां फलानि। कुण्डेषु ये पतन्ति तेषां लक्षणम्। अवशिष्टानां कुण्डानां कथनम्। पुनरपि शिष्टानां कुण्डानां कथनम्। देवीभक्त्या यमपुरीत्रयनाशकथनम्। कुण्डानां लक्षणम्। देवीमहोत्कर्षः। महालक्ष्म्याख्यानम्। लक्ष्मीजन्मादेर्नारदाय कथनम्। शक्रस्य ब्रह्मलोकं प्रति गम-नम्। महालक्ष्म्यर्चनक्रमादि। स्वाहाशक्तेरुपाख्यानम्। स्वधायाः समुपाख्यानम्। दक्षिणाया उपाख्यानम्। षष्ठीदेव्या उपाख्यानम्। मंगलचण्ड्याः कथा। मनसायाः कथास्तोत्रादि। सुरभ्याख्यानम्। राधाया दुर्गायाश्च चरित्रम्।

दशमस्कन्धे :—

मनोः स्वायम्भुवस्याख्यानम्। भगवत्या विन्ध्याद्रिगमनम्। विन्ध्येन भानुमार्गनिरोधः। वृषध्वजस्तुतिस्तस्मै वृत्तान्तकथनञ्च। महाविष्णुस्तोत्रम्। अगस्त्येन देवीप्रार्थनातो विन्ध्याद्रेर्वृद्धिकुण्ठनम्। मुनिना विन्ध्यवृद्धिकुण्ठनम्। स्वारोचिषस्य मनोः कथा। चाक्षुषस्य मनोः कथा। सावर्णेर्मनोः कथा। महा-कालीचरितम्। महालक्ष्मीमहासरस्वत्योश्चरितम्। नवमादिमनूनां चरित्रवर्णनम्।

एकादशस्कन्धे :—

प्रातःकृत्यम्। शौचादिविधिः। स्नानादिविधिः रुद्राक्षधारणमहिमा च। रुद्राक्षाणां बहुविधत्वकथनम्। जपमालाविधानम्। रुद्राक्षमहिमा। एकवक्त्रादि-

रुद्राक्षाणां वर्णनम् । भूतशुद्धिः । शिरोव्रतविधानम् । गौणभस्मादिवर्णनम् । तस्य त्रिविधत्वं माहात्म्यञ्च । भस्मधारणविस्तरः । भस्मनो-महिमा । विभूति-धारणमाहात्म्यम् । त्रिपुंड्रोर्ध्वपुण्ड्रयोर्महिमा । सन्ध्योपासनम् । सन्ध्यादि-कृत्यम् । पूर्णोपचारादिकथनम् । मध्याह्नसंध्याकरणम् । ब्रह्मयज्ञादिकम् । गायत्री-पुरश्चरणम् । वैश्वदेवादिकम् । भोजनान्ते करणीयं तप्तकृच्छ्रादिलक्षणञ्च । काम्यकर्म-संग्रहणं प्रायश्चित्तविधानञ्च ।

द्वादशस्कन्धे :—

गायत्र्या ऋष्यादिकथनम् । वर्णानां शक्त्यादि । जगन्मातुः कवचम् । गायत्री-हृदयम् । गायत्रीस्तोत्रम् । गायत्रीनामसहस्रम् । दीक्षाविधिः । केनोपनिषत्कथा । गौतमशापेन ब्राह्मणानामन्यदेवतोपासनश्रद्धा । द्वीपवर्णनम् । पद्मरागादिनिर्मित-प्राकारवर्णनम् । चिन्तामणिगृहवर्णनम् । जनमेजयेन देवीमखकरणम् । उपसंहारः पुराणफलदर्शनञ्च ।

(७) भविष्यपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारदीयपुराणे ४ पा० १०० अ० उक्ता यथा :—

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि पुराणं सर्वसिद्धिदम् ।
भविष्यं भवतः सर्वलोकाभीष्टप्रदायकम् ॥

तत्राहं सर्वदेवानामादिकर्त्ता समुद्यतः ।
सृष्ट्यर्थं यत्र सञ्जातो मनुः स्वायम्भुवः पुरा ॥

स मां प्रणम्य पप्रच्छ धर्मं सर्वार्थसाधकम् ।
अहं तस्मै तदा प्रीतः प्रावोचं धर्मसंहिताम् ॥

पुराणानां यदा व्यासो व्यासञ्चक्रे महामतिः ।
तदा तां संहितां सर्वां पञ्चधा व्यभजन्मुनिः ॥

अघोरकल्पवृत्तान्तनानाश्चर्यकथाचिताम् ।”

तत्र प्रथमपर्वणि :—

“तत्रादिमं स्मृतं पर्व ब्राह्मं यत्रास्त्युपक्रमः ।
सूतशौनकसंवादे पुराणप्रश्नसंक्रमः ॥

आदित्यचरितप्रायः सर्वाख्यानसमाचितः ।
सृष्ट्यादिलक्षणोपेतः शास्त्रसर्वस्वरूपकः ॥

पुस्तलेखकलेखानां लक्षणञ्च ततः परम् ।
संस्काराणाञ्च सर्वेषां लक्षणञ्चात्र कीर्तितम् ॥

पक्षत्यादितिथीनाञ्च कल्पाः सप्त च कीर्तिताः ।
अष्टमाद्याः शेषकल्पा वैष्णवे पर्वणि स्मृताः ॥

शैवे च कामतो भिन्ना सौरे चान्त्यकथाचयः ।
प्रतिसर्गाह्वयं पश्चान्नानाख्यानसमाचितम् ॥

पुराणस्योपसंहारः सहितं पर्व पञ्चमम् ।
एषु पञ्चसु पूर्वस्मिन् ब्रह्मणो महिमाधिकः ॥

द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमपर्वसु :—

"धर्मे कामे च मोक्षे तु विष्णोश्चापि शिवस्य च ।
द्वितीये च तृतीये च सौरो वर्गचतुष्टये ॥

प्रतिसर्गाह्वयन्त्वन्त्यं प्रोक्तं सर्वं कथाचितम् ।
एतद्भविष्यं निर्दिष्टं पर्व व्यासेन धीमता ॥

चतुर्दशसहस्रं तु पुराणं परिकीर्तितम् ।
भविष्यं सर्वदेवानां साम्यं यत्र प्रकीर्तितम् ।
गुणानां तारतम्येन समं ब्रह्मेति हि श्रुतिः" ॥

तत्फलश्रुतिः :—

तल्लिखित्वा तु यो दद्यात्पौष्यां विद्वान्विमत्सरः ।
गुडधेनुयुतं हेम वस्त्रमाल्यविभूषणैः ॥

वाचकम्पुस्तकञ्चापि पूजयित्वा विधानतः ।
गन्धाद्यैर्भोज्यभक्ष्यैश्च कृत्वा नीराजनादिकम् ॥

यो वै जितेन्द्रियो भूत्वा सोपवासः समाहितः ।
अथवा यो नरो भक्त्या कीर्तयेच्छृणुयादपि ॥

स मुक्तः पातकैर्घोरैः प्रयाति ब्रह्मणः पदम् ।
योऽप्यनुक्रमणीमेतां भविष्यस्य निरूपिताम् ।
पठेद्वा शृणुयाच्चैतौ भुक्तिं मुक्तिञ्च विन्दतः ॥

(८) नारदीयपुराणम्

तद्विषयाश्च :—

"शृणु विप्र ! प्रवक्ष्यामि पुराणं नारदीयकम् ।
पञ्चविंशतिसाहस्रं बृहच्चित्रकथाश्रयम् ॥ १ ॥

तत्र पूर्वभागे प्रथमपादे :—

"सूत-शौनकसंवादः सृष्टिसंक्षेपवर्णनम् ।
नानाधर्मकथाः पुण्याः प्रवृत्तेः समुदाहृताः ।
प्राग्भागे प्रथमे पादे सनकेन महात्मना ॥"

पूर्वभागे द्वितीयपादे :—

"द्वितीये मोक्षधर्माख्ये मोक्षोपायनिरूपणम् ।
वेदाङ्गानाञ्च कथनं शुकोत्पत्तिश्च विस्तरात् ।
सनन्दनेन गदिता नारदाय महात्मने ॥"

पूर्वभागे तृतीयपादे :—

महातन्त्रे समुद्दिष्टं पशुपाशविमोक्षणम् ।
मन्त्राणां शोधनं दीक्षा मन्त्रोद्धारश्च पूजनम् ॥
प्रयोगाः कवचं चैव सहस्रं स्तोत्रमेव च ।
गणेशसूर्यविष्णूनां शिवशक्त्योरनुक्रमात् ।
सनत्कुमारमुनिना नारदाय तृतीयके ।।"

पूर्वभागे चतुर्थपादे :—

पुराणलक्षणञ्चैव प्रमाणं दानमेव च ।
पृथक् पृथक् समुद्दिष्टं दानकालपुरःसरम् ॥
चैत्रादिसर्वमासेषु तिथीनां च पृथक् पृथक् ।
प्रोक्तम्प्रतिपदादीनां व्रतं सर्वाघनाशनम् ॥
सनातनेन मुनिना नारदाय चतुर्थके ।
पूर्वभागोऽयमुदितो बृहदाख्यानसञ्ज्ञितः ॥"

तदुत्तरभागे :—

अस्योत्तरे विभागे तु प्रश्न एकादशीव्रते ।
वशिष्ठेनाथ संवादो मान्धातुः परिकीर्तितः ॥
रुक्माङ्गदकथा पुण्या मोहिन्युत्पत्तिकर्म च ।
वसुशापश्च मोहिन्यै पश्चादुद्धरणक्रिया ॥
गंगाकथा पुण्यतमा गयायात्रानुकीर्त्तनम् ।
काश्या माहात्म्यमतुलम्पुरुषोत्तमवर्णनम् ॥
यात्राविधानं क्षेत्रस्य बह्वाख्यानसमन्वितम् ।
प्रयागस्याथ माहात्म्यं कुरुक्षेत्रस्य तत्परम् ॥
हरिद्वारस्य चाख्यानं कामोदाख्यानकन्तथा ।
बदरीतीर्थमाहात्म्यं कामाख्यायास्तथैव च ॥
प्रभासस्य च माहात्म्यं पुराणाख्यानकन्तथा ।
गौतमाख्यानकम् पश्चाद् वेदपादस्तवस्ततः ॥
गोकर्णक्षेत्रमाहात्म्यं लक्ष्मणाख्यानकं तथा ।
सेतुमाहात्म्यकथनं नर्मदातीर्थवर्णनम् ॥
अवन्त्याश्चैव माहात्म्यं मथुरायास्ततः परम् ।
वृन्दावनस्य महिमा वसोर्ब्रह्मान्तिके गतिः ।
मोहिनीचरितम् पश्चादेवं वै नारदीयकम् ॥

तत्फलश्रुतिः :—

यः शृणोति नरो भक्त्या श्रावयेद्वा समाहितः ।
स याति ब्रह्मणो धाम नात्र कार्या विचारणा ॥

यस्त्वेतद्विषपूर्णायां धेनूनां सप्तकांचितम् ।
प्रदद्याद् द्विजवर्याय स लभेन्मोक्षमेव च ॥
यश्चानुक्रमणीमेतां नारदीयस्य वर्णयेत् ।
शृणुयाद्वैकचित्तेन सोऽपि स्वर्गगतिं लभेत् ॥

(९) मार्कण्डेयपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारदपुराणे पूर्वभागे ८७ अ० उक्ता यथा :—

"यत्राधिकृत्य शकुनीन् सर्वधर्मनिरूपणम् ।
मार्कण्डेयेन मुनिना जैमिनेः प्राक् समीरितम् ॥
पक्षिणां धर्मसंज्ञानां ततो जन्मनिरूपणम् ।
पूर्वजन्मकथा चैषां विक्रिया च दिवस्पतेः ॥
तीर्थयात्रा बलस्यातो द्रौपदेयकथानकम् ।
हरिश्चन्द्रकथा पुण्या युद्धमाडीबकाभिधम् ॥
पितापुत्रसमाख्यानं दत्तात्रेयकथा ततः ।
हैहयस्याथ चरितं महाख्यानसमाचितम् ॥
मदालसाकथा प्रोक्ता ह्यलर्काचरिताचिता ।
सृष्टिसंकीर्तनं पुण्यं नवधा परिकीर्तितम् ॥
कल्पान्तकालनिर्देशो यचमसृष्टिनिरूपणम् ।
रुद्रादिसृष्टिरप्युक्ता द्वीपवर्षानुकीर्त्तनम् ॥
मनूनां च कथा नाना कीर्त्तिताः पापहारिकाः ।
तासु दुर्गाकथात्यन्तं पुण्यदा चाष्टमेऽन्तरे ॥
तत्पश्चात्प्रणवोत्पत्तिस्त्रयीतेजःसमुद्भवः ।
मार्त्तण्डस्य च जन्माख्या तन्माहात्म्यसमाचिता ॥
वैवस्वतान्वयश्चापि वत्सस्याश्चरितं ततः ।
खनित्रस्य ततः प्रोक्ता कथा पुण्या महात्मनः ॥
अविक्षिच्चरितं चैव किमिच्छव्रतकीर्तनम् ।
नरिष्यन्तस्य चरितमिक्ष्वाकुचरितं ततः ॥
तुलस्याश्चरितं पश्चाद्रामचन्द्रस्य सत्कथा ।
कुशवंशसमाख्यानं सोमवंशानुकीर्तनम् ॥
पुरूरवःकथा पुण्या नहुषस्य कथाद्भुता ।
ययातिचरितं पुण्यं यदुवंशानुकीर्तनम् ॥
श्रीकृष्णबालचरितं माथुरं चरितं ततः ।
द्वारकाचरितञ्चाथ कथा सर्वावतारजा ॥
ततः सांख्यसमुद्देशः प्रपञ्चासत्त्वकीर्त्तनम् ।
मार्कण्डेयस्य चरितं पुराणश्रवणे फलम् ।

यः शृणोति नरो भक्त्या पुराणमिदमादरात् ।
मार्कण्डेयाभिधं वत्स स लभेत्परमां गतिम् ॥

यस्तु व्याकुरुते चैतच्छैवं स लभते पदम् ।
तत्प्रयच्छेल्लिखित्वा यः सौवर्णकरिसंयुतम् ॥

कार्तिक्यां द्विजवर्याय स लभेद् ब्रह्मणः पदम् ।
शृणोति श्रावयेद्वापि यश्चानुक्रमणीमिमाम् ॥
मार्कण्डेयपुराणस्य स लभेद्वाञ्छितन्फलम् ।

(१०) अग्निपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च :—

भगवतोऽवतारः, सृष्टिप्रकारः, विष्णुपूजा, अग्निपूजा, मुद्रादिलक्षणम् , दीक्षा, अभिषेकः, मण्डपलक्षणम् , कुशमार्जनविधिः, पवित्रारोपः, देवतायतनादिनिर्माणप्रकारः, शालग्रामलक्षणपूजे, देवप्रतिष्ठानियामकदीक्षा, देवप्रतिष्ठाविधिः, ब्रह्माण्डस्वरूपं गङ्गादितीर्थमाहात्म्यं, दीपवर्णनम् , ऊर्ध्वाधोलोकवर्णनम् , ज्योतिश्चक्रस्वरूपम् । युद्धजयोपायषट्कर्मविधानम्, यन्त्रमन्त्रौषधप्रकारः, कुब्जिकार्चनविधिः, कोटिहोमविधानम् , ब्रह्मचर्य्यधर्मः, श्राद्धकल्पः, ग्रहयज्ञः, वैदिकस्मार्त्तकर्म्मणी, प्रायश्चित्तम् , तिथिभेदे व्रतभेदः, वारव्रतनक्षत्रव्रते, मासव्रतम् , दीपदानविधिः, नूतनव्यूहारम्भादि, नरकनिरूपणम् , दानव्रतम् , नाडीचक्रम् । सन्ध्याविधिः, गायत्र्यर्थः, शिवस्तोत्रं, राज्याभिषेकः, राजधर्म्मः, राजाध्येयशास्त्रम् , शुभाशुभशकुनादि, मण्डलादि, रमणदीक्षाविधिः, श्रीरामनतिः, रत्नलक्षणम् , धनुर्विद्या, व्यवहारविधिः, देवासुरयोर्युद्धम् , आयुर्वेदः, गजादिचिकित्सा, पूजाप्रकारः । शान्तिविधिः, छन्दः शास्त्रम्, साहित्यम् , शिष्टानुशासनम् , सृष्ट्यादिप्रलयवर्णने, शारीरिकरूपम् , नरकवर्णनम् , योगः, ब्रह्मज्ञानम् , पुराणमाहात्म्यञ्च ।

(११) ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये ४ पा० १०१ अ० उक्ता यथा—

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणं दशमं तव ।
ब्रह्मवैवर्त्तकं नाम वेदमार्गानुदर्शकम् ॥

सावर्णिर्यत्र भगवान् साक्षाद्देवर्षयेऽतिथिः ।
नारदाय पुराणार्थं प्राह सर्वमलौकिकम् ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां सारः प्रीतिर्हरौ हरे ।
तयोरभेदसिद्ध्यर्थं ब्रह्मवैवर्त्तमुत्तमम् ॥

रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तं यन्मयोदितम् ।
शतकोटिपुराणं तद् संक्षिप्य प्राह वेदवित् ॥

व्यासश्चतुर्धा संन्यस्य ब्रह्मवैवर्तसंज्ञितम् ।
अष्टादशसहस्रन्तत्पुराणं परिकीर्त्तितम् ॥

ब्रह्म १ प्रकृति २ विघ्नेश ३ कृष्ण खण्ड ४ समाचितम् ।
तत्र सूतर्षिसंवादः पुराणोपक्रमो मतः ॥

तत्र प्रथमे ब्रह्मखण्डे :—

सृष्टिप्रकरणं त्वाद्यं ततो नारदवेधसोः ।
विवादः सुमहान् यत्र द्वयोरासीत्पराभवः ॥

शिवलोकगतिः पश्चाज्ज्ञानलाभः शिवान्मुनेः ।
शिववाक्येन तत्पश्चात् मरीचेर्नारदस्य तु ॥

मननञ्चैव सावर्णिर्ज्ञानार्थं सिद्धसेविते ।
आश्रमे सुमहापुण्ये त्रैलोक्याश्चर्यकारिणि ॥
एतद्धि ब्रह्मखण्डं हि श्रुतं पापविनाशनम् ।

द्वितीये प्रकृतिखण्डे :—

"ततः सावर्णिसंवादो नारदस्य समीरितः ।
कृष्णमाहात्म्यसंयुक्तो नानाख्यानकथोत्तरः ॥

प्रकृतेरंशभूतानां कलानाञ्चापि वर्णितम् ।
माहात्म्यं पूजनाद्यञ्च विस्तरेण यथास्थितम् ॥
एतत्प्रकृतिखण्डं हि श्रुतं भूतिविधायकम् ।

तृतीये गणेशखण्डे :—

गणेशजन्मसम्प्रश्नः सपुण्यकमहाव्रतम् ।
पार्वत्याः कार्त्तिकेयेन सह विघ्नेशसम्भवः ॥

चरितं कार्त्तवीर्यस्य जामदग्न्यस्य चाद्भुतम् ।
विवादः सुमहान्पश्चाज्जामदग्न्यगणेशयोः ॥
एतद्विघ्नेशखण्डं हि सर्वं विघ्नविनाशनम् ।"

चतुर्थे श्रीकृष्णजन्मखण्डे :—

"श्रीकृष्णजन्मसम्प्रश्नो जन्माख्यानं ततोऽद्भुतम् ।
गोकुले गमनं पश्चात्पूतनादिवधोऽद्भुतः ॥

बाल्यकौमारजा लीला विविधास्तत्र वर्णिताः ।
रासक्रीडा च गोपीभिः शारदी समुदाहृता ॥

रहस्ये राधया क्रीडा वर्णिता बहुविस्तरा ।
सहाक्रूरेण तत्पश्चान्मधुरागमनं हरेः ॥

कंसादीनां वधे वृत्ते सदस्यद्विजसंस्कृतिः ।
कांश्यसान्दीपनेः पश्चाद् विद्योपादानमद्भुतम् ॥

यवनस्य वधः पश्चाद् द्वारकागमनं हरेः ।
नरकादिवधस्तत्र कृष्णेन विहितोऽद्भुतः ॥

कृष्णखण्डमिदं विप्र ! नृणां संसारखण्डनम् ।

तत्फलश्रुतिः :—

"पठितञ्च श्रुतं ध्यातं पूजितं चाभिवर्णितम् ।
इत्येतद् ब्रह्मवैवर्त्तं पुराणं चात्यलौकिकम् ॥

व्यासोक्तं चादिसम्भूतं पठन् शृण्वन् विमुच्यते ।
विज्ञानज्ञानशमनाद् घोरात्संसारसागरात् ॥

लिखित्वेदं च यो दद्यान्माघ्यां धेनुसमाचितम् ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति स मुक्तोऽज्ञानबन्धनात् ॥

यश्चानुक्रमणीं वाऽपि पठेद् वा शृणुयादपि ।
सोऽपि कृष्णप्रसादेन लभते वाञ्छितम्फलम् ॥

(१२) लिङ्गपुराणम्

व्यासप्रणीते महापुराणे प्रतिपाद्यविषयाः नारदपुराणे १०२ अ० उक्ता यथा—

ब्रह्मोवाच :—

शृणु पुत्र ! प्रवक्ष्यामि पुराणं लिंगसंज्ञितम् ।
पठतां शृण्वताञ्चैव भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥

यच्च लिङ्गाभिधे तिष्ठन् वह्निलिंगे हरोऽभ्यधात् ।
मह्यं धर्मादिसिद्ध्यर्थमग्निकल्पकथाश्रयम् ॥

तदेव व्यासदेवेन भागद्वयसमाचितम् ।
पुराणं लिंगमुदितं बह्वाख्यानविचित्रितम् ॥

तदेकादशसाहस्रं हरमाहात्म्यसूचकम् ।
परं सर्वपुराणानां सारभूतं जगत्त्रये ।

पुराणोपक्रमे प्रश्नः सृष्टिसंक्षेपतः पुरा ॥

तत्र पूर्वभागे—

योगाख्यानं ततः प्रोक्तं कल्पाख्यानं ततः परम् ।
लिंगोद्भवस्तदर्चा च कीर्तिता हि ततः परम् ॥

सनत्कुमारशैलादिसंवादश्चाथ पावनः ।
ततो दधीचिचरितं युगधर्मनिरूपणम् ॥

ततो भुवनकोषाख्या सूर्यसोमान्वयस्ततः ।
ततश्च विस्तरात्सर्गस्त्रिपुराख्यानकस्तथा ॥

लिंगप्रतिष्ठा च ततः पशुपाशविमोक्षणम् ।
शिवव्रतानि च तथा सदाचारनिरूपणम् ॥

प्रायश्चित्तान्यरिष्टानि काशीश्रीशैलवर्णनम् ।
अन्धकाख्यानकं पश्चाद् वाराहचरितं पुनः ॥
नृसिंहचरितं पश्चाज्जलन्धरवधस्ततः ।
शैवं सहस्रनामाथ दक्षयज्ञविनाशनम् ॥
कामस्य दहनं पश्चाद् गिरिजायाः करग्रहः ।
ततो विनायकाख्यानं नृत्याख्यानं शिवस्य च ॥
उपमन्युकथा चापि पूर्वभाग इतीरितः ।”

उत्तरभागे —

विष्णुमाहात्म्यकथनमम्बरीषकथा ततः ।
सनत्कुमारनन्दीशसंवादश्च पुनर्मुने ॥
शिवमाहात्म्यसंयुक्तस्नानयागादिकं ततः ।
सूर्यपूजाविधिश्चैव शिवपूजा च मुक्तिदा ॥
दानानि बहुधोक्तानि श्राद्धप्रकरणन्ततः ।
प्रतिष्ठा तत्र गदिता ततोऽघोरस्य कीर्त्तनम् ॥
व्रजेश्वरी-महाविद्या-गायत्रीमहिमा ततः ।
त्र्यम्बकस्य च माहात्म्यं पुराणश्रवणस्य च ॥
एतस्योपरिभागस्ते लैंगस्य कथितो मया ।
व्यासेन हि निबद्धस्य रुद्रमाहात्म्यसूचिनः ॥
लिखित्वैतत्पुराणन्तु तिलधेनुसमाचितम् ।
फाल्गुन्यां पूर्णिमायां यो दद्याद्भक्त्या द्विजातये ॥
यः पठेच्छृणुयाद्वापि लैङ्गं पापापहं नरः ।
स भुक्तभोगो लोकेऽस्मिन्नन्ते शिवपुरम्व्रजेत् ॥
लिंगानुक्रमणीमेतां पठेद्यः शृणुयात्तथा ।
तावुभौ शिवभक्तौ तु लोकद्वितयभोगिनौ ॥
जायेतां गिरिजाभर्त्तुः प्रसादान्नात्र संशयः ।

(१३) वराहपुराणम्

तद्विषयाश्च नारदीयपुराणे पूर्वभागे बृहदुपाख्याने चतुर्थभागे १०३ अध्याये उक्ता यथा—

श्रीब्रह्मोवाच :—

“शृणु वत्स ! प्रवक्ष्यामि वाराहं वै पुराणकम् ।
भागद्वययुतं शश्वद्विष्णुमाहात्म्यसूचकम् ॥
मानवस्य तु कल्पस्य प्रसङ्गं मत्कृतं पुरा ।
निबबन्ध पुराणेऽस्मिश्चतुर्विंशसहस्रके ॥

व्यासो हि विदुषां श्रेष्ठः साक्षान्नारायणो भुवि।
तत्रादौ शुभसंवादः स्मृतो भूमिवराहयोः।"

तत्र पूर्वभागे :—

"अथादिकृतवृत्तान्ते रभ्यस्य चरितं ततः।
दुर्जयाय च तत्पश्चाच्छ्राद्धकल्प उदीरितः॥
महातपस आख्यानं गौर्य्युत्पत्तिस्ततः परम्।
विनायकस्य नागानां सेमान्यादित्ययोरपि॥
गणानाञ्च तथा देव्या धनदस्य वृषस्य च।
आख्यानं सत्यतपसो व्रताख्यानसमन्वितम्॥
अगस्त्यगीता तत्पश्चाद्रुद्रगीता प्रकीर्तिता।
महिषासुरविध्वंसे माहात्म्यञ्च त्रिशक्तिजम्॥
पर्व्वाध्यायस्ततः श्वेतोपाख्यानं गोप्रदानिकम्।
इत्यादिकृतवृत्तान्तं प्रथमोद्देशनामकम्॥
भगवद्धर्मके पश्चाद् व्रततीर्थकथानकम्।
द्वात्रिंशदपराधानां प्रायश्चित्तं शरीरकम्॥
तीर्थानाञ्चापि सर्व्वेषां माहात्म्यं पृथगीरितम्।
मथुराया विशेषेण श्राद्धादीनां विधिस्ततः॥
वर्णनं यमलोकस्य ऋषिपुत्रप्रसङ्गतः।
विपाकः कर्म्मणाञ्चैव विष्णुव्रतनिरूपणम्॥
गोकर्णस्य च माहात्म्यं कीर्त्तितं पापनाशनम्।
इत्येष पूर्वभागोऽस्य पुराणस्य निरूपितः॥

उत्तरभागे :—

उत्तरे प्रविभागे तु पुलस्त्यकुरुराजयोः।
संवादे सर्वतीर्थानां माहात्म्यं विस्तरात्पृथक्॥
अशेषधर्माश्चाख्याताः पौष्करं पुण्यपर्व च।
इत्येवं तव वाराहं प्रोक्तं पापविनाशनम्॥

तत्फलश्रुतिः :—

पठतां शृण्वतान्चैव भगवद्भक्तिवर्द्धनम्।
काञ्चनं गरुडं कृत्वा तिलधेनुसमाचितम्॥
लिखित्वैतच्च यो दद्याच्चैत्र्यां विप्राय भक्तितः।
स लभेद्वैष्णवं धाम देवर्षिगणवन्दितः॥
यो वानुक्रमणीमेतां शृणोत्यपि पठत्यपि।
सोऽपि भक्तिं लभेद्विष्णौ संसारोच्छेदकारिणीम्॥

(१४) वामनपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारदपुराणे उक्ता यथा :—

ब्रह्मोवाच :—

"शृणु वत्स ! प्रवक्ष्यामि पुराणं वामनाभिधम् ।
त्रिविक्रमचरित्राढ्यं दशसाहस्रसंख्यकम् ॥
कूर्मकल्पसमाख्यानं वर्गत्रयकथानकम् ।
भागद्वयसमायुक्तं वक्तृ-श्रोतृशुभावहम् ॥"

तत्र पूर्वभागे :—

"पुराणप्रश्नः प्रथमं ब्रह्मशीर्षच्छिदा ततः ।
कपालमोचनाख्यानं दक्षयज्ञविहिंसनम् ॥

हरस्य कालरूपाख्या कामस्य दहनन्ततः ।
प्रह्लादनारायणयोर्युद्धं देवासुराह्वयम् ॥

सुकेश्यर्कसमाख्यानं ततो भुवनकोषकम् ।
ततः काम्यव्रताख्यानं श्रीदुर्गाचरितं ततः ॥

तपतीचरितं पश्चात्कुरुक्षेत्रस्य वर्णनम् ।
सरोमाहात्म्यमतुलं पार्वतीजन्मकीर्त्तनम् ॥

तपस्तस्या विवाहश्च गौर्युपाख्यानकन्ततः ।
ततः कौशिक्युपाख्यानं कुमारचरितं ततः ॥

ततोऽन्धकवधाख्यानं साध्योपाख्यानकन्ततः ।
जाबालिचरितं पश्चादरजायाः कथाद्भुता ॥

अन्धकेश्वरयोर्युद्धं गणत्वं चान्धकस्य च ।
मरुतां जन्म कथनं बलेश्च चरितं ततः ॥

ततस्तु लक्ष्म्याश्चरितं त्रैविक्रममतः परम् ।
प्रह्लादतीर्थयात्रायां प्रोच्यन्ते तत्कथाः शुभाः ॥

ततश्च धुन्धुचरितं प्रेतोपाख्यानकं ततः ।
नक्षत्रपुरुषाख्यानं श्रीदामचरितं ततः ॥
त्रिविक्रमचरित्रान्ते ब्रह्मप्रोक्तः स्तवोत्तमः ।
प्रह्लादबलिसंवादे सुतले हरिशंसनम् ॥
इत्येष पूर्वभागोऽस्य पुराणस्य तवोदितः ॥"

तदुत्तरे भागे वृहद्वामनाख्ये :—

शृणु तस्योत्तरं भागं बृहद्वामनसंज्ञकम् ।
माहेश्वरी भगवती सौरी गाणेश्वरी तथा ॥

चतस्रः संहिताश्चात्र पृथक् साहस्रसंख्यया ।
माहेश्वर्यान्तु कृष्णस्य तद्भक्तानाञ्च कीर्त्तनम् ॥

भागवत्यां जगन्मातुरवतारकथाद्भुता।
सौर्य्यां सूर्य्यस्य महिमा गदितः पापनाशनः॥
गाणेश्वर्य्यां गणेशस्य चरितञ्च महेशितुः।
इत्येतद् वामनं नाम पुराणं सुविचित्रकम्॥
पुलस्त्येन समाख्यातं नारदाय महात्मने।
ततो नारदतः प्राप्तं व्यासेन सुमहात्मना॥
व्यासात्तु लब्धवान् वत्स तच्छिष्यो रोमहर्षणः।
स चाख्यास्यति विप्रेभ्यो नैमिषीयेभ्य एव च॥
एवं परम्पराप्राप्तं पुराणं वामनं शुभम्॥"

तत्फलश्रुतिः :—

"ये पठन्ति च श्रृण्वन्ति तेऽपि यान्ति परां गतिम्।
लिखित्वैतत्पुराणन्तु यः शरद्विषुवेऽर्पयेत्॥
विप्राय वेदविदुषे घृतधेनुसमाचितम्।
स समुद्धृत्य नरकान्नयेत्स्वर्गं पितॄन् स्वकान्॥
देहान्ते भुक्तभोगोऽसौ याति विष्णोः परम्पदम्।

(१५) मत्स्यपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च तत्रैव २९० अध्याय उक्ता यथा—

सूत उवाच :—

एतद्वः कथितं सर्वं यदुक्तं विश्वरूपिणा।
मात्स्यं पुराणमखिलं धर्मकामार्थसाधनम्॥
यत्रादौ मनुसंवादो ब्रह्माण्डकथनन्तथा।
सांख्यं शरीरकम्प्रोक्तं चतुर्मुखमुखोद्भवम्॥
देवासुराणामुत्पत्तिर्मारुतोत्पत्तिरेव च।
मदनद्वादशीतद्वल्लोकपालाभिपूजनम्॥
मन्वन्तराणामुद्देशो वैन्यराजाभिवर्णनम्।
सूर्य्याद्वैवस्वतोत्पत्तिर्बुधस्यागमनन्तथा॥
पितृवंशानुकथनं श्राद्धकालस्तथैव च।
पितृतीर्थप्रवासश्च सोमोत्पत्तिस्तथैव च॥
कीर्त्तनं सोमवंशस्य ययातिचरितं तथा।
कार्त्तवीर्यस्य माहात्म्यं वृष्णिवंशानुकीर्त्तनम्॥
भृगुशापस्तथा विष्णोर्दैत्यशापस्तथैव च।
कीर्त्तनं पुरुवंशस्य वंशो हौताशनस्तथा॥

पुराणकीर्त्तनं तद्वत् क्रियायोगस्तथैव च ।
व्रतं नक्षत्रसंख्याकं मार्कण्डशयनं तथा ॥

कृष्णाष्टमीव्रतं तद्वद्रोहिणीचन्द्रसंज्ञितम् ।
तडागविधिमाहात्म्यं पादपोत्सर्ग एव च ॥

सौभाग्यशयनं तद्वदगस्त्यव्रतमेव च ।
तथानन्ततृतीया तु रसकल्याणिनी तथा ॥

आर्द्रानन्दकरी तद्वद्व्रतं सारस्वतं पुनः ।
उपरागाभिषेकश्च सप्तमीस्नपनं पुनः ॥

भीमाख्या द्वादशी तद्वदनङ्गशयनं तथा ।
अशून्यशयनं तद्वत्तथैवांगारकव्रतम् ॥

सप्तमीसप्तकं तद्वद्विशोकद्वादशी तथा ।
मेरुप्रदानं दशधा ग्रहशान्तिस्तथैव च ॥

ग्रहस्वरूपकथनं तथा शिवचतुर्द्दशी ।
तथा सर्वफलत्यागः सूर्यवारव्रतं तथा ॥

संक्रान्तिस्नपनं तद्वद्विभूतिद्वादशी व्रतम् ।
षष्टिव्रतानां माहात्म्यं तथा स्नानविधिक्रमः ॥

प्रयागस्य तु माहात्म्यं सर्वतीर्थानुकीर्तनम् ।
पैलाश्रमफलं तद्वद् द्वीपलोकानुकीर्तनम् ॥

तथान्तरिक्षचारश्च ध्रुवमाहात्म्यमेव च ।
भवनानि सुरेन्द्राणां त्रिपुरायोधनं तथा ॥

पितृपिण्डदमाहात्म्यं मन्वन्तरविनिर्णयः ।
वज्राङ्गस्य तु सम्भूतिः तारकोत्पत्तिरेव च ॥

तारकासुरमाहात्म्यं ब्रह्मदेवानुकीर्त्तनम् ।
पार्वतीसम्भवस्तद्वत् तथा शिवतपोवनम् ॥

अनङ्गदेहदाहस्तु रतिशोकस्तथैव च ।
गौरीतपोवनं तद्वद्विश्वनाथप्रसादनम् ॥

पार्वतीऋषिसंवादस्तथैवोद्वाहमङ्गलम् ।
कुमारसम्भवस्तद्वत् कुमारविजयस्तथा ॥

तारकस्य वधो घोरो नरसिंहोपवर्णनम् ।
पद्मोद्भवविसर्गस्तु तथैवान्धकघातनम् ॥

वाराणस्यास्तु माहात्म्यं नर्मदायास्तथैव च ।
प्रवरानुक्रमस्तद्वत् पितृनाथानुकीर्त्तनम् ॥

ततोभयमुखीदानं दानं कृष्णाजिनस्य च ।
तथा सावित्र्युपाख्यानं राजधर्मास्तथैव च ॥

यात्रानिमित्तकथनं स्वप्नमाङ्गल्यकीर्त्तनम् ।
वामनस्य तु माहात्म्यं तथैवादिवराहकम् ॥

क्षीरोदमथनं तद्वत्कालकूटाभिशासनम् ।
प्रासादलक्षणन्तद्वन्मण्डपानान्तु लक्षणम् ॥

पुरुवंशे तु सम्प्रोक्तं भविष्यद्राजवर्णनम् ।
तुलादानादि वहुशो महादानानुकीर्त्तनम् ॥

कल्पानुकीर्त्तनं तद्वद्ग्रन्थानुक्रमणी तथा ।
एतत्पवित्रमायुष्यमेतत्कीर्त्तिविवर्धनम् ॥

एतत्पवित्रं कल्याणं महापापहरं शुभम् ।
अस्मात् पुराणादपि पादमेकं पठेत्तु यः सोऽपि विमुक्तपापः ।
नारायणाख्यं पदमेति नूनमनङ्गवद्दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥

(१६) कूर्मपुराणम्

व्यासप्रणीतेषु अष्टादशमहापुराणेषु पञ्चदशे पुराणे तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये दर्शिता यथाः—

श्रीब्रह्मोवाच :—

शृणु वत्स ! मरीचेऽद्य पुराणं कूर्म्मसंज्ञितम् ।
लक्ष्मीकल्पानुचरितं यत्र कूर्म्मवपुर्हरिः ॥

धर्म्मार्थकाममोक्षाणां माहात्म्यञ्च पृथक् पृथक् ।
इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन प्राहर्षिभ्यो दयाधिकम् ॥

तत्सप्तदशसाहस्रं सचतुःसंहितं शुभम् ।
यत्र ब्राह्मया (संहितया)पुरा प्रोक्ता धर्म्मा नानाविधा मुने ॥
नानाकथाप्रसङ्गेन नृणां सद्गतिदायकाः ।"

तत्पूर्वभागे :—

"तत्र पूर्वविभागे तु पुराणोपक्रमः पुरा ।
लक्ष्मीप्रद्युम्नसंवादः कूर्मर्षिगणसत्कथा ॥

वर्णाश्रमाचारकथा जगदुत्पत्तिकीर्त्तनम् ।
कालसंख्या समासेन लयान्ते स्तवनं विभोः ॥

ततः सङ्क्षेपतः सर्गः शाङ्करं चरितं तथा ।
सहस्रनाम पार्वत्या योगस्य च निरूपणम् ॥

भृगुवंशसमाख्यानं ततः स्वायम्भुवस्य च ।
देवादीनां समुत्पत्तिर्दक्षयज्ञाहतिस्ततः ॥

दक्षसृष्टिकथा पश्चात् कश्यपान्वयकीर्त्तनम् ।
आत्रेयवंशकथनं कृष्णाय चरितं शुभम् ॥

मार्कण्डकृष्णसंवादो व्यासपाण्डवसंकथा ।
युगधर्म्मानुकथनं व्यासजैमिनिकी कथा ॥
वाराणस्याश्च माहात्म्यं प्रयागस्य ततः परम् ।
त्रैलोक्यवर्णनञ्चैव वेदशाखानिरूपणम् ॥"

तदुत्तरभागे :—

उत्तरेऽस्य विभागे तु पुरा गीतेश्वरी ततः ।
व्यासगीता ततः प्रोक्ता नाना धर्म्मप्रबोधिनी ॥
नानाविधानां तीर्थानां माहात्म्यञ्च पृथक् ततः ।
नानाधर्मप्रकथनं ब्राह्मीयं संहिता स्मृता ॥
अतः परं भगवती संहितार्थनिरूपणे ।
कथिता यत्र वर्णानां पृथग् वृत्तिरुदाहृता ॥

तदुत्तरभागे भगवत्याख्यद्वितीयसंहितायाः पञ्चसु पादेषु—

"पादेऽस्याः प्रथमे प्रोक्ता ब्राह्मणानां व्यवस्थितिः ।
सदाचारात्मिका वत्स ! भोगसौख्यविवर्द्धिनी ॥
द्वितीये क्षत्रियाणान्तु वृत्तिः सम्यक्प्रकीर्तिता ।
यया ह्याश्रितया पापं विधूयेह व्रजेद्दिवम् ॥
तृतीये वैश्यजातीनां वृत्तिरुक्ता चतुर्विधा ।
यया चरितया सम्यग् लभते गतिमुत्तमाम् ॥
चतुर्थेऽस्यास्तथा पादे शूद्रवृत्तिरुदाहृता ।
यया सन्तुष्यति श्रीशो नृणां श्रेयोविवर्द्धनः ॥
पञ्चमेऽस्यास्ततः पादे वृत्तिः सङ्करजन्मनाम् ।
यया चरितयाऽऽप्नोति भाविनीमुत्तमां जनिम् ॥
इत्येषा पञ्चपादुक्ता द्वितीया संहिता मुने ।
तृतीयात्रोदिता सौरी नृणां कामविधायिनी ॥
षोढा षट्कर्मसिद्धिं सा बोधयन्ती च कामिनाम् ।
चतुर्थी वैष्णवी नाम मोक्षदा परिकीर्तिता ॥
चतुष्पदी द्विजातीनां साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपिणी ।
ताः क्रमात् षट्चतुर्द्वीषुसहस्राः परिकीर्तिताः ॥

तत्फलश्रुतिः :—

"एतत्कूर्मपुराणन्तु चतुर्वर्गफलप्रदम् ।
पठतां शृण्वतां नृणां सर्वोत्कृष्टगतिप्रदम् ॥
लिखित्वैतत्तु यो भक्त्या हेमकूर्मसमन्वितम् ।
ब्राह्मणायायने दद्यात् स याति परमां गतिम् ॥

(१७) स्कन्दपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च

श्रीनारदीयपुराणे पूर्वभागे बृहदुपाख्याने चतुर्थपादे १०४ अध्याये उक्ता यथा—

ब्रह्मोवाच :—

शृणु वत्स्ये मरीचे च पुराणं स्कन्दसंज्ञितम्।
यस्मिन् प्रतिपदं साक्षान्महादेवो व्यवस्थितः॥
पुराणे शतकोटौ तु यच्छैवं वर्णितं मया।
लक्षितस्यार्थजातस्य सारो व्यासेन कीर्तितः॥
स्कन्दाह्वयस्यात्र खण्डाः सप्तैव परिकल्पिताः॥
एकाशीतिसहस्रन्तु स्कान्दं सर्वाघकृन्तनम्॥
यः शृणोति पठेद्वापि स तु साक्षाच्छिवः स्थितः।
यत्र माहेश्वरा धर्माः षण्मुखेन प्रकाशिताः।
कल्पे तत्पुरुषे वृत्ताः सर्वसिद्धिविधायिकाः॥

तत्र माहेश्वरखण्डे :—

"तस्य माहेश्वरश्चाद्यः खण्डः पापप्रणाशनः॥
किञ्चिन्न्यूनार्कसाहस्रो बहुपुण्यो बृहत्कथः।
सुचरित्रशतैर्युक्तः स्कन्दमाहात्म्यसूचकः॥
यत्र केदारमाहात्म्ये पुराणोपक्रमः पुरा।
दक्षयज्ञकथा पश्चाच्छिवलिङ्गार्चने फलम्॥
समुद्रमथनाख्यानं देवेन्द्रचरितं ततः।
पार्वत्याः समुपाख्यानं विवाहस्तदनन्तरम्॥
कुमारोत्पत्तिकथनं ततस्तारकसङ्गरः।
ततः पशुपताख्यानं चण्डाख्यानसमाचितम्॥
द्यूतप्रवर्त्तनाख्यानं नारदेन समागमः।
ततः कुमारमाहात्म्ये पञ्चतीर्थकथानकम्॥
धर्म्मवर्म्मनृपाख्यानं नदीसागरकीर्त्तनम्।
इन्द्रद्युम्नकथा पश्चान्नाडीजङ्घकथाचिता॥
प्रादुर्भावस्ततो मह्याः कथा दमनकस्य च।
महीसागरसंयोगः कुमारेशकथा ततः॥
ततस्तारकयुद्धञ्च नानाख्यानसमाचितम्।
वधश्च तारकस्याथ पञ्चलिङ्गनिवेशनम्॥
द्वीपाख्यानं ततः पुण्यमूर्ध्वलोकव्यवस्थितः।
ब्रह्माण्डस्थितिमानञ्च वर्करेशकथानकम्॥

महाकालसमुद्भूतिः कथा चास्य महाद्भुता ।
वासुदेवस्य माहात्म्यं कोटितीर्थं ततः परम् ॥

नानातीर्थसमाख्यानं गुप्तक्षेत्रे प्रकीर्त्तितम् ।
पाण्डवानां कथा पुण्या महाविद्याप्रसाधनम् ॥

तीर्थयात्रासमाप्तिश्च कौमारमिदमद्भुतम् ।
अरुणाचलमाहात्म्ये सनकब्रह्मसंकथा ॥

गौरीतपःसमाख्यानं तत्ततीर्थनिरूपणम् ।
महिषासुरजाख्यानं वधश्चास्य महाद्भुतः ॥

शोणाचले शिवास्थानं नित्यदा परिकीर्त्तितम् ।
इत्येष कथितः स्कान्दे खण्डो माहेश्वरोऽद्भुतः ॥

द्वितीये वैष्णवखण्डे :—

द्वितीयो वैष्णवः खण्डस्तस्याख्यानानि मे शृणु ।
प्रथमं भूमिवाराहं समाख्यानं प्रकीर्तितम् ॥

यत्र वेंकटकुधस्य माहात्म्यं पापनाशनम् ।
कमलायाः कथा पुण्या श्रीनिवासस्थितिस्ततः ॥

कुलालाख्यानकञ्चात्र सुवर्णमुखरीकथा ।

नानाख्यानसमायुक्ता भारद्वाजकथाद्भुता ॥

मतङ्गाञ्जनसंवादः कीर्त्तितः पापनाशनः ।
पुरुषोत्तममाहात्म्यं कीर्त्तितं चोत्कले ततः ॥

मार्कण्डेयसमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः ।
इन्द्रद्युम्नस्य चाख्यानं विद्यापतिकथा शुभा ॥

जैमिनेः समुपाख्यानं नारदस्यापि वाडव ।
नीलकण्ठसमाख्यानं नारसिंहोपवर्णनम् ॥

अश्वमेधकथा राज्ञो ब्रह्मलोकगतिस्तथा ।
रथयात्राविधिः पश्चाज्जन्मस्नानविधिस्तथा ॥

दक्षिणामूर्त्युपाख्यानं गुण्डिचाख्यानकं ततः ।
रथरक्षाविधानञ्च शयनोत्सवकीर्त्तनम् ॥

श्वेतोपाख्यानमत्रोक्तं वह्न्युत्सवनिरूपणम् ।
दोलोत्सवो भगवतो व्रतं सांवत्सराभिधम् ॥

पूजा च कामिभिर्विष्णोरुद्दालकनियोगकः ।
मोक्षसाधनमत्रोक्तं नानायोगनिरूपणम् ॥

दशावतारकथनं स्नानादिपरिकीर्तनम् ।
ततो बदरिकायाश्च माहात्म्यं पापनाशनम् ॥

अग्न्यादितीर्थमाहात्म्यं वैनतेयशिलाभवम् ।
कारणं भगवद्वासे तीर्थं कापालमोचनम् ॥

पञ्चधाराभिधं तीर्थं मेरुसंस्थापनं तथा ।
ततः कार्त्तिकमाहात्म्ये माहात्म्यं मदनालसम् ॥

धूम्रकेशसमाख्यानं दिनकृत्यानि कार्त्तिके ।
पञ्चभीष्मव्रताख्यानं कीर्त्तितं भुक्तिमुक्तिदम् ॥
तदव्रतस्य च माहात्म्ये विधानं स्नानजं तथा ।
पुण्ड्रादिकीर्त्तनञ्चात्र मालाधारणपुण्यकम् ॥

पञ्चामृतस्नानपुण्यं घण्टानादादिजं फलम् ।
नानापुष्पार्च्चनफलं तुलसीदलजम्फलम् ॥

नैवेद्यस्य च माहात्म्यं हरिवासन (र) कीर्तनम् ।
अखण्डैकादशीपुण्यं तथा जागरणस्य च ॥

मत्स्योत्सवविधानञ्च नाममाहात्म्यकीर्त्तनम् ।
ध्यानादिपुण्यकथनं माहात्म्यं मथुराभवम् ॥

मथुरातीर्थमाहात्म्यं पृथगुक्तं ततः परम् ।
वनानां द्वादशानाञ्च माहात्म्यं कीर्त्तितं ततः ॥

श्रीमद्भागवतस्यात्र माहात्म्यं कीर्त्तितं परम् ।
वज्रशाण्डिल्यसंवादमन्तर्लीलाप्रकाशकम् ॥

ततो माघस्य माहात्म्यं स्नानदानजपोद्भवम् ।
नानाख्यानसमायुक्तं दशाध्याये निरूपितम् ॥

ततो वैशाखमाहात्म्ये शय्यादानादिजम्फलम् ।
जलदानादिविधयः कामाख्यानमतः परम् ॥

श्रुतदेवस्य चरितं व्याधोपाख्यानमद्भुतम् ।
तथाक्षयतृतीयादेर्विशेषात्पुण्यकीर्त्तनम् ।

ततस्त्वयोध्यामाहात्म्ये चक्रब्रह्माह्वतीर्थके ॥
ऋणपापविमोचाख्ये तथाधारसहस्रकम् ।

स्वर्गद्वारं चन्द्रहरिधर्म्महर्य्युपवर्णनम् ॥
स्वर्णवृष्टेरुपाख्यानं तिलोदासरयूयुतिः ।

सीताकुण्डं गुप्तहरिः सरयूर्घर्घराद्वयः ॥
गोप्रचारञ्च दुग्धोदं गुरुकुण्डादिपञ्चकम् ।

घोषार्कादीनि तीर्थानि त्रयोदश ततः परम् ॥
गयाकूपस्य माहात्म्यं सर्व्वाघविनिवर्त्तकम् ।

माण्डव्याश्रमपूर्व्वाणि तीर्थानि तदनन्तरम् ॥
अजितादिमानसादितीर्थानि गदितानि च ।
इत्येष वैष्णवः खण्डो द्वितीयः परिकीर्तितः ॥

तृतीये ब्रह्मखण्डे :—

"अतः परं ब्रह्मखण्डं मरीचे शृणु पुण्यदम् ।
यत्र वै सेतुमाहात्म्ये फलं स्नानेक्षणोद्भवम् ॥
गालवस्य तपश्चर्या राक्षसाख्यानकं ततः ।
चक्रतीर्थादिमाहात्म्यं देवीपत्तनसंयुतम् ॥
वेतालतीर्थमहिमा पापनाशादिकीर्त्तनम् ।
मङ्गलादिकमाहात्म्यं ब्रह्मकुण्डादिवर्णनम् ॥
हनूमत्कुण्डमहिमागस्त्यतीर्थभवम्फलम् ।
रामतीर्थादिकथनं लक्ष्मीतीर्थनिरूपणम् ॥
शङ्खादितीर्थमहिमा तथासाध्यामृतादिजः ।
धनुष्कोट्यादिमाहात्म्यं क्षीरकुण्डादिजं तथा ॥
गायत्र्यादिकतीर्थानां माहात्म्यं चात्र कीर्त्तितम् ।
रामनाथस्य महिमा तत्त्वज्ञानोपदेशनम् ॥
यात्राविधानकथनं सेतौ मुक्तिप्रदं नृणाम् ।
धर्म्मारण्यस्य माहात्म्यं ततः परमुदीरितम् ॥
स्थाणुः स्कन्दाय भगवान् यत्र तत्त्वमुपादिशत् ।
धर्म्मारण्यसुसंभूतिस्तत्पुण्यपरिकीर्त्तनम् ॥
कर्म्मसिद्धेः समाख्यानं ऋषिवंशनिरूपणम् ।
अप्सरातीर्थमुख्यानां माहात्म्यं यत्र कीर्त्तनम् ॥
वर्णानामाश्रमाणाञ्च धर्म्मतत्त्वनिरूपणम् ।
देवस्थानविभागश्च वकुलार्ककथा शुभा ॥
छत्रा नन्दा तथा शान्ता श्रीमाता च मतङ्गिनी ।
पुण्यदाम्यः समाख्याता यत्र देव्यः समास्थिताः ॥
इन्द्रेश्वरादिमाहात्म्यं द्वारकादिनिरूपणम् ।
लोहासुरसमाख्यानं गङ्गाकूपनिरूपणम् ॥
श्रीरामचरितञ्चैव सत्यमन्दिरवर्णनम् ।
जीर्णोद्धारस्य कथनं शासनप्रतिपादनम् ॥
जातिभेदप्रकथनं स्मृतिधर्म्मनिरूपणम् ।
ततस्तु वैष्णवा धर्म्मा नानाख्यानैरुदीरिताः ॥
चातुर्म्मास्ये ततः पुण्ये सर्वधर्म्मनिरूपणम् ।
दानप्रशंसा तत्पश्चाद् व्रतस्य महिमा ततः ॥
तपसश्चैव पूजायाः सच्छिद्रकथनन्ततः ।
प्रकृतीनां भिदाख्यानं शालग्रामनिरूपणम् ॥
तारकस्य वधोपायो गवार्चामहिमा तथा ।
विष्णोः शापश्च वृक्षत्वं पार्व्वत्यनुनयस्ततः ॥

हरस्य ताण्डवं नृत्यं रामनामनिरूपणम् ।
हरस्य लिङ्गपतनं कथा योजिवनस्य च ॥
पार्वतीजन्मचरितं तारकस्य वधोऽद्भुतः ।
प्रणवैश्वर्यकथनं तारकाचरितं पुनः ॥
दक्षयज्ञसमाप्तिश्च द्वादशाक्षररूपणम् ।
ज्ञानयोगसमाख्यानं महिमा द्वादशार्णजः ॥
श्रवणादिकपुण्यञ्च कीर्त्तितं शर्म्मदं नृणाम् ।

तृतीयब्रह्मखण्डस्योत्तरभागे :—

"ततो ब्रह्मोत्तरे भागे शिवस्य महिमाद्भुतः ।
पञ्चाक्षरस्य महिमा गोकर्णमहिमा ततः ॥
शिवरात्रेश्च महिमा प्रदोषव्रतकीर्त्तनम् ।
सोमवारव्रतञ्चापि सीमन्तिन्याः कथानकम् ॥
भद्रायूत्पत्तिकथनं सदाचारनिरूपणम् ।
शिवधर्म्मसमुद्देशो भद्रायूद्वाहवर्णनम् ॥
भद्रायुमहिमा चापि भस्ममाहात्म्यकीर्त्तनम् ।
शवराख्यानकञ्चैव उमामाहेश्वरव्रतम् ॥
रुद्राक्षस्य च माहात्म्यं रुद्राध्यायस्य पुण्यकम् ।
श्रवणादिकपुण्यञ्च ब्रह्मखण्डोऽयमीरितः ।"

चतुर्थे काशीखण्डे :—

"अतः परं चतुर्थन्तु काशीखण्डमनुत्तमम् ।
विन्ध्यनारदयोर्यत्र संवादः परिकीर्त्तितः ॥
सत्यलोकप्रभावश्चागस्त्यावासे सुरागमः ।
पतिव्रताचरित्रञ्च तीर्थचर्य्याप्रशंसनम् ॥
ततश्च सप्त पुर्याख्या संयमिन्या निरूपणम् ।
ब्रध्नस्य च तथेन्द्राग्न्योर्लोकाप्तिः शिवशर्म्मणः ॥
अग्नेः समुद्भवश्चैव क्रव्याद्वरुणसम्भवः ।
गन्धवत्यलकापुर्य्योरीश्वर्य्याश्च समुद्भवः ॥
चन्द्रोडुबुधलोकानां कुजेज्यार्कभुवां क्रमात् ।
सप्तर्षीणां ध्रुवस्यापि तपोलोकस्य वर्णनम् ॥
ध्रुवलोककथा पुण्या सत्यलोकनिरीक्षणम् ।
स्कन्दागस्त्यसमालापो मणिकर्णीसमुद्भवः ॥
प्रभावश्चापि गङ्गाया गङ्गानामसहस्रकम् ।
वाराणसीप्रशंसा च भैरवाविर्भवस्ततः ॥

दण्डपाणीज्ञानवाप्योरुद्भवः समनन्तरम् ।
ततः कलावत्याख्यानं सदाचारनिरूपणम् ॥
ब्रह्मचारिसमाख्यानं ततः स्त्रीलक्षणानि च ।
कृत्याकृत्यविनिर्देशो ह्यविमुक्तेशवर्णनम् ॥
गृहस्थयोगिनो धर्म्माः कालज्ञानं ततः परम् ।
दिवोदासकथा पुण्या काशीवर्णनमेव च ॥
योगिचर्या च लोलार्कोत्तरशाम्बार्कजा कथा ।
द्रुपदार्कस्य तार्क्ष्याख्यारुणार्कस्योदयस्ततः ॥
दशाश्वमेधतीर्थाख्या मन्दराच्च गणागमः ।
पिशाचमोचनाख्यानं गणेशप्रेषणन्ततः ॥
मायागणपतेश्चाथ भुवि प्रादुर्भवस्ततः ।
विष्णुमायाप्रपञ्चोऽथ दिवोदासविमोचनम् ॥
ततः पञ्चनदोत्पत्तिर्बिन्दुमाधवसम्भवः ।
ततो वैष्णवतीर्थाख्या शूलिनः काशिकागमः ॥
जैगीषव्येण संवादो ज्येष्ठे शाख्या महेशितुः ।
क्षेत्राख्यानं कन्दुकेशव्याघ्रेश्वरसमुद्भवः ॥
शैलेशरत्नेश्वरयोः कृत्तिवासस्य चोद्भवः ।
देवतानामधिष्ठानं दुर्गासुरपराक्रमः ॥
दुर्गाया विजयश्चाथ ओङ्कारेशस्य वर्णनम् ।
पुनरोङ्कारमाहात्म्यं त्रिलोचनसमुद्भवः ॥
केदाराख्या च धर्म्मेशकथा विश्वभुजोद्भवा ।
वीरेश्वरसमाख्यानं गङ्गामाहात्म्यकीर्त्तनम् ॥
विश्वकर्म्मेशमहिमा दक्षयज्ञोद्भवस्तथा ।
सतीशस्यामृतेशादेर्भुजस्तम्भः पराशरेः ॥
क्षेत्रतीर्थकदम्बश्च मुक्तिमण्डपसंकथा ।
विश्वेशविभवश्चाथ ततो यात्रा परिक्रमः ॥

पञ्चमे अवन्तीखण्डे :—

"अतः परं त्ववन्त्याख्यं शृणु खण्डञ्च पञ्चकम् ।
महाकालवनाख्यानं ब्रह्मशीर्षच्छिदा ततः ॥
प्रायश्चित्तविधिश्चाग्नेरुत्पत्तिश्च समागमः ।
देवदीक्षा शिवस्तोत्रं नानापातकनाशनम् ॥
कपालमोचनाख्यानं महाकालवनस्थितिः ।
तीर्थं कलकलेशस्य सर्व्वपापप्रणाशनम् ॥

कुण्डमत्सरसञ्ज्ञञ्च सर्गो रुद्रस्य पुण्यदम् ।
कुटुम्बेशञ्च विद्याभ्रमर्कटेश्वरतीर्थकम् ॥

स्वर्गद्वारं चतुःसिन्धुतीर्थं शङ्करवापिका ।
सङ्कराकं गन्धवती तीर्थं पापप्रणाशनम् ॥

दशाश्वमेधैकानंशा तीर्थे च हरिसिद्धिदम् ।
पिशाचकादियात्रा च हनूमत्कयमेश्वरौ ॥

महाकालेशयात्रा च वल्मीकेश्वरतीर्थकम् ।
शुक्रेशमेशोपाख्यानं कुशस्थल्याः प्रदक्षिणम् ॥

अक्रूरमन्दाकिन्यङ्कपादचन्द्रार्कवैभवम् ।
करमेशकुक्कुटेशलड्डुकेशादि तीर्थकम् ॥

मार्कण्डेशं यज्ञवापी सोमेशं नरकान्तकम् ।
केदारेश्वररामेशसौभाग्येशनरार्ककम् ॥

केशार्कं शक्तिभेदञ्च स्वर्णक्षुरमुखानि च ।
ओङ्कारेशादितीर्थानि अन्धकस्तुतिकीर्त्तनम् ॥

कालारण्ये लिङ्गसंख्या स्वर्णशृङ्गाभिधानकम् ।
कुशस्थल्या अवन्त्याश्चोज्जयिन्या अभिधानकम् ॥

पद्मावती कुमुद्वत्यमरावतीतिनामकम् ।
विशाला प्रतिकल्पाभिधाने च ज्वरशान्तिकम् ॥

शिप्रास्नानादिकफलं नागोन्मीता शिवस्तुतिः ।
हिरण्याक्षवधाख्यानं तीर्थं सुन्दरकुण्डकम् ॥

नीलगङ्गा पुष्कराख्यं विन्ध्यावासनतीर्थकम् ।
पुरुषोत्तमाधिमासं तत्तीर्थञ्चाघनाशनम् ॥

गोमती वामने कुण्डे विष्णोर्नामसहस्रकम् ।
वीरेश्वरसरःकालभैरवस्य च तीर्थके ॥

महिमा नागपञ्चम्यां नृसिंहस्य जयन्तिका ।
कुटुम्बेश्वरयात्रा च देवसाधककीर्त्तनम् ॥

कर्कराजाख्यतीर्थञ्च विघ्नेशादिसुरोहनम् ।
रुद्रकुण्डप्रभृतिषु बहुतीर्थनिरूपणम् ॥

यात्राष्टतीर्थजा पुण्या रेवामाहात्म्यमुच्यते ।
धर्म्मपुण्यस्य वैराग्ये मार्कण्डेयेन सङ्गमः ॥

प्रागल्भ्यानुभवाख्यानं अमृतापरिकीर्त्तनम् ।
कल्पे कल्पे पृथक् नाम नर्म्मदायाः प्रतीर्त्तितम् ॥

स्तवमार्षं नार्मदञ्च कालरात्रिकथा ततः ।
महादेवस्तुतिः पश्चात् पृथक्कल्पकथाद्भुता ॥

विशल्याख्यानकं पश्चाज्जालेश्वरकथा तथा ।
गौरीव्रतसमाख्यानं त्रिपुरज्वालनन्ततः ॥

देहपातविधानञ्च कावेरीसङ्गमस्ततः ।
दारुतीर्थं ब्रह्मवज्जं यत्रेश्वरकथानकम् ॥

अग्नितीर्थं रवितीर्थं मेघनादं दिदारुकम् ।
देवतीर्थं नर्म्मदेशं कपिलाख्यं करञ्जकम् ।

कुण्डलेशं पिप्पलादं विमलेशञ्च शूलभित् ॥
शचीहरणमाख्यातमन्धकस्य वधस्ततः ।

शूलभेदोद्भवो यत्र दानधर्म्माः पृथग्विधाः ॥

आख्यानं दीर्घतपसऋष्यश्रृङ्गकथा ततः ।
चित्रसेनकथा पुण्या काशिराजस्य मोक्षणम् ॥

ततो देवशिलाख्यानं शबरी चरिताञ्चितम् ।
व्याधाख्यानं ततः पुण्यं पुष्करिण्यर्कतीर्थकम् ॥

आदित्येश्वरतीर्थञ्च शक्रतीर्थं करोटिकम् ।
कुमारेशमगस्त्येशं च्यवनेशञ्च मातृजम् ॥

लोकेशं धनदेशञ्च मङ्गलेशञ्च कामजम् ।
नागेशञ्चापि गोपारं गौतमं शङ्खचूडजम् ॥

नारदेशं नन्दिकेशं वरुणेश्वरतीर्थकम् ।
दधिस्कन्दादितीर्थानि हनूमन्तेश्वरन्ततः ॥

रामेश्वरादितीर्थानि सोमेशं पिङ्गलेश्वरम् ।
ऋणमोक्षं कपिलेशं पूतिकेशं जलेशयम् ॥

चण्डार्कंयमतीर्थञ्च कल्होडीशञ्च नान्दिकम् ।
नारायणञ्च कोटीशं व्यासतीर्थं प्रभासिकम् ॥

नागेशं सङ्कर्षणकं मन्मथेश्वरतीर्थकम् ।
एरण्डीसङ्गमं पुण्यं सुवर्णशिलतीर्थकम् ॥

करञ्जं कामदं तीर्थं भाण्डीरं रोहिणीभवम् ।
चक्रतीर्थं धौतपापं स्कान्दमाङ्गिरसाह्वयम् ॥

कोटितीर्थमपोन्याख्यमङ्गाराख्यं त्रिलोचनम् ।
इन्द्रेशं कम्बुकेशञ्च सोमेशं कोहनेशकम् ॥

नार्म्मदं चार्कमाग्नेयं भार्गवेश्वरसत्तमम् ।
ब्राह्मं दैवं च भागेशमादिवाराहणंकवे ॥

रामेशमथ सिद्धेशमाहात्म्यं कङ्कटेश्वरम् ।
शाक्रं सौम्यञ्च नान्देशं तापेशं रुक्मिणीभवम् ॥

योजनेशं वराहेशं द्वादशी शिवतीर्थके ।
सिद्धेशं मङ्गलेशञ्च लिङ्गवाराहतीर्थकम् ॥

कुण्डेशं श्वेतवाराहं भार्गवेशं रवीश्वरम् ।
शुक्रादीनि च तीर्थानि हुँकारस्वामितीर्थकम् ॥

सङ्गमेशं नारकेशं मोक्षं सार्पञ्च गोपकम् ।
नागं साम्बञ्च सिद्धेशं मार्कण्डाक्रूरतीर्थके ॥

कामोदशूलारोपाख्यो माण्डव्यं गोपकेश्वरम् ।
कपिलेशं पिंगलेशं भूतेशं गांगगौतमे ॥

आश्वमेधं भृगुकच्छं केदारेशञ्च पापनुत् ।
कनखलेशं जालेशं शालग्रामं वराहकम् ॥

चन्द्रप्रभासमादित्यं श्रीपत्याख्यञ्च हंसकम् ।
मूलस्थानञ्च शूलेशमरनायाचित्रदैवकम् ॥

शिखीशं कोटितीर्थञ्च दशकन्दं सुवर्णकम् ।
ऋणमोक्षं भारभूतिरत्रास्ते पुंखमुण्डमम् ॥

आमलेशं कपालेशं शृङ्गेरण्डीभवन्ततः ।
कोटितीर्थं लोटनेशं फलस्तुतिरतः परम् ॥

हमिजङ्गलमाहात्म्ये रोहिताश्वकथा ततः ।
धुन्धुमारसमाख्यानं वधोपायस्ततोऽस्य च ।

वधो धुन्धोस्ततः पश्चात् सतश्चित्रवहोद्भवः ।
महिमास्य ततश्चण्डीशप्रभावोरतीश्वरः ॥

केदारेशो लक्षतीर्थं ततो विष्णुपदीभवम् ।
मुखारं च्यवनान्धाख्यं ब्रह्मणश्च सरस्ततः ॥

चक्राख्यं ललिताख्यानं तीर्थञ्च बहुगोमथम् ।
रुद्रावर्त्तञ्च मार्कण्डं तीर्थं पापप्रणाशनम् ॥

रावणेशं शुद्धपटं देवान्धुः प्रेततीर्थकम् ।
जिह्वोदतीर्थसम्भूतिः शिवोद्भेदं फलस्तुतिः ॥
एष खण्डो ह्यवन्त्याख्यः शृण्वतां पापनाशनः ।

षष्ठे नागरखण्डे :—

"अतः परं नागराख्यः खण्डः षष्ठोऽभिधीयते ।
लिङ्गोत्पत्तिसमाख्यानं हरिश्चन्द्रकथा शुभा ॥

विश्वामित्रस्य माहात्म्यं त्रिशङ्कुस्वर्गतिस्तथा ।
हाटकेश्वरमाहात्म्ये वृत्रासुरवधस्तथा ॥

नागबिलं शङ्खतीर्थमचलेश्वरवर्णनम् ।
चमत्कारपुराख्यानं चमत्कारकरं परम् ॥

गयशीर्षं बालशाख्यं बालमण्डं मृगाह्वयम् ।
विष्णुपादञ्च गोकर्णं युगरूपं समाश्रयः ।
सिद्धेश्वरं नागसरः सप्तार्षेयं ह्यगस्तकम् ॥

ऋणगर्त्तनलेशञ्च भीष्मं द्रुवैरमर्ककम् ।
शार्मिष्ठं सोमनाथञ्च दौर्गमानर्जकेश्वरम् ॥

जमदग्निवधाख्यानं नैःक्षत्रियकथानकम् ।
रामह्रदं नागपुरं जडलिङ्गञ्च यज्ञभूः ॥

मुण्डीरादि त्रिकार्कञ्च सतीपरिणयस्तथा ।
बालखिल्यञ्च यागेशं बालखिल्यञ्च गारुडम् ॥

लक्ष्मीशापः साप्तविंशः सोमप्रासादमेव च ।
अम्बावृद्धं पादुकाख्यमाग्नेयं ब्रह्मकुण्डकम् ॥

गोमुखं लोहयष्टयाख्यमजापालेश्वरी तथा ।
शानैश्वरं राजवापी रामेशो लक्ष्मणेश्वरः ॥

कुशेशाख्यं लवेशाख्यं लिङ्गं सर्व्वोत्तमोत्तमम् ।
अष्टषष्टिसमाख्यानं दमयन्त्यास्त्रिजातकम् ॥

ततोऽम्बारेवती चात्र भट्टिकातीर्थसम्भवम् ।
क्षेमङ्करी च केदारं शुक्लतीर्थं मुखारकम् ॥

सत्यसन्धेश्वराख्यानं तथा कर्णोत्पलाकथा ।
अटेश्वरं याज्ञवल्क्यं गौर्य्यं गाणेशमेव च ॥

ततो वास्तुपदाख्यानमजागृहकथानकम् ।
सौभाग्यान्धकशूलेशं धर्म्मराजकथानकम् ॥

मिष्टान्नदेश्वराख्यानं गाणपत्यत्रयं ततः ।
जाबालिचरितञ्चैव मकरेशकथा ततः ॥

कालेश्वर्यन्धकाख्यानं कुण्डमाप्सरसन्तथा ।
पुष्यादित्यं रौहिताश्वं नागरोत्पत्तिकीर्त्तनम् ॥

भार्गवं चरितं चैव वैश्वामित्रं ततः परम् ।
सारस्वतं पैप्पलादं कंसारीशञ्च पैण्डिकम् ॥

ब्रह्मणो यज्ञचरितं सावित्र्याख्यानसंयुतम् ।
रैवतं भर्तृयज्ञाख्यं मुख्यतीर्थनिरीक्षणम् ।
कौरवं हाटकेशाख्यं प्रभासं क्षेत्रकत्रयम् ॥

पौष्करं नैमिषं धार्म्ममरण्यत्रितयं स्मृतम् ।
वाराणसीद्वारकाख्यावन्त्याख्येति पुरीत्रयम् ॥

वृन्दावनं खाण्डवाख्यं मद्वैकाख्यं वनत्रयम् ।
कल्पः शालस्तथा नन्दो ग्रामत्रयमनुत्तमम् ॥

असिशुक्लपितृसञ्ज्ञं तीर्थत्रयमुदाहृतम् ।
श्रयर्बुदौ रैवतश्चैव पर्व्वतत्रयमुत्तमम् ॥

नदीनां त्रितयं गङ्गा नर्मदा च सरस्वती ॥

सार्द्धकोटित्रयफलमेकैकञ्चैषु कीर्तितम् ।
कूपिका शङ्खतीर्थञ्चामरकं बालमण्डनम् ।
हाटकेशक्षेत्रफलप्रदं प्रोक्तं चतुष्टयम् ॥

शाम्बादित्यं श्राद्धकल्पं यौधिष्ठिरमथान्धकम् ।
जलशायि चतुर्म्मास्यमशून्यशयनव्रतम् ॥

मङ्कणेशं शिवरात्रिस्तुलापुरुषदानकम् ।
पृथ्वीदानं बाणकेशं कपालमोचनेश्वरम् ॥

पापपिण्डं साप्तलैङ्गं युगमानादिकीर्त्तनम् ।
निम्बेशशाकम्भर्याख्या रुद्रैकादशकीर्त्तनम् ॥

दानमाहात्म्यकथनं द्वादशादित्यकीर्त्तनम् ।
इत्येष नागरः खण्डः प्रभासाख्योऽधुनोच्यते ॥

सप्तमे प्रभासखण्डे :—

"सोमेशो यत्र विश्वेशोऽर्कस्थलं पुण्यदं महत् ।
सिद्धेश्वरादिकाख्यानं पृथगत्र प्रकीर्त्तितम् ॥

अग्नितीर्थं कपर्द्दीशं केदारेशं गतिप्रदम् ।
भीमभैरवचण्डीशभास्कराङ्गारकेश्वराः ॥

बुधेज्यभृगुसौरेन्द्रशिखीशा हरविग्रहाः ।
सिद्धेश्वराद्याः पञ्चान्ये रुद्रास्तत्र व्यवस्थिताः ॥

वरारोहा ह्यजापाला मंगला ललितेश्वरी ।
लक्ष्मीशोऽवाडवेशश्चाधीशः कामेश्वरस्तथा ॥

गौरीशवरुणेशाख्यमुशीषञ्च गणेश्वरम् ।
कुमारेशञ्च शाकल्यं शकुलोत्तङ्कगौतमम् ॥

दैत्यघ्नेशं चक्रतीर्थं सन्निहत्याह्वयन्तथा ।
भूतेशादीनि लिङ्गानि आदिनारायणाह्वयम् ॥

ततश्चक्रधराख्यानं शाम्बादित्यकथानकम् ।
कथा कण्टकशोधिन्या महिषघ्न्यास्ततः परम् ॥
कपालीश्वरकोटीशबालब्रह्माह्वसत् कथा ।
नरकेश-सम्वर्त्तेश-निधीश्वरकथा ततः ।
बलभद्रेश्वरस्याथ गंगाया गणपस्य च ॥

जाम्बवत्याख्यसरितः पाण्डुकूपस्य सत्कथा ।
शतमेधलक्षमेधकोटिमेधकथा तथा ॥

दुर्व्वासार्कयदुस्थान-हिरण्यासंगमोत्कथा ।
नगरार्कस्य कृष्णस्य सङ्कर्षणसमुद्रयोः ॥

कुमार्य्याः क्षेत्रपालस्य ब्रह्मेशस्य कथा पृथक् ।
पिंगला संगमेशस्य शंकरार्कघटेशयोः ॥

ऋषितीर्थस्य नन्दार्कत्रितकूपस्य कीर्त्तनम् ।
शशोपानस्य पर्णार्कन्यङ्कुमत्योः कथाद्भुता ॥

वाराहस्वामिवृत्तान्तं छायालिंगाख्यगुल्फयोः ।
कथा कनकनन्दायाः कुन्तीगंगेशयोस्तथा ॥

चमसोद्भेदविदुरत्रिलोकेशकथा ततः ।
मङ्कणेश-त्रैपुरेश-षण्डतीर्थ-कथा तथा ॥

सूर्यप्राचीत्रीक्षणयोरुमानाथकथा तथा ।
भूद्वारशूलस्थलयोश्च्यवनार्केशयोस्तथा ॥

अजापालेशबालार्ककुबेरस्थलजा कथा ।
ऋषितोया कथा पुण्या संगालेश्वरकीर्त्तनम् ॥

नारदादित्यकथनं नारायणनिरूपणम् ।
तप्तकुण्डस्य माहात्म्यं मूलचण्डीशवर्णनम् ॥

चतुर्वक्त्र गणाध्यक्ष कलम्बेश्वरयोः कथा ।
गोपालस्वामिबकुलस्वामिनोर्म्मरुतीकथा ॥

क्षेमार्कोन्नतविघ्नेशजलस्वामिकथा तथा ।
कालमेघस्य रुक्मिण्या उर्व्वशीश्वरभद्रयोः ॥

शङ्खावर्त्तमोक्षतीर्थ-गोष्पदाच्युतसद्मनाम् ।
जालेश्वरस्य हुङ्कारकूपचण्डीशयोः कथा ॥

आशापुरस्थविघ्नेशकलाकुण्डकथाऽद्‌भुता ।
कपिलेशस्य च कथा जरद्गवशिवस्य च ॥

नलकर्कोटकेश्वरयोर्हाटकेश्वरजा कथा ।
नारदेशमन्त्रभूषा दुर्गकूटगणेशजा ॥

सुपर्णैलाख्यभैरव्योर्मल्लतीर्थभवा कथा ।
कीर्त्तनं कर्द्दमालस्य गुप्तसोमेश्वरस्य च ॥

बहुस्वर्णेशश्रृंगेश-कोटीश्वरकथा ततः ।
मार्कण्डेश्वरकोटीश-दामोदरगृहोत्कथा ॥

स्वर्णरेखा ब्रह्मकुण्डं कुन्तीभीमेश्वरौ तथा ।
मृगीकुण्डञ्च सर्वस्वं क्षेत्रे वस्त्रापथे स्मृतम् ॥

दुर्वासेश्वेशगंगेशरैवतानां कथाऽद्भुता ।
ततोऽर्बुदेश्वरकथा अचलेश्वरकीर्त्तनम् ॥

नागतीर्थस्य च कथा वशिष्ठाश्रमवर्णनम् ।
भद्रं कर्णस्य माहात्म्यं त्रिनेत्रस्य ततः परम् ॥

केदारस्य च माहात्म्यं तीर्थागमनकीर्त्तनम् ।
कोटीश्वररूपतीर्थहृषीकेशकथा ततः ॥

सिद्धेशशुक्रेश्वरयोर्म्मणिकर्णीशकीर्त्तनम् ।
पङ्कुतीर्थ-यमतीर्थ-वाराहतीर्थवर्णनम् ॥

चन्द्रप्रभासपिण्डोद् श्रीमाता शुक्लतीर्थजम् ।
कात्यायन्याश्च माहात्म्यं ततः पिण्डारकस्य च ॥

ततः कनखलस्याथ चक्रमानुषतीर्थयोः ।
कपिलाग्नितीर्थकथा तथा रक्तानुबन्धजा ॥

गणेशपार्थेश्वरयोर्यात्राया मुद्गलस्य च ।
चण्डीस्थानं नागभवशिरः कुण्डमहेशजा ॥

कामेश्वरस्य मार्कण्डेयोत्पत्तेश्च कथा ततः ।
उद्दालकेश सिद्धेश गततीर्थकथा पृथक् ॥

श्रीदेवमातोत्पत्तिश्च व्यासगौतमतीर्थयोः ।
कुलसन्तारमाहात्म्यं रामकोट्याहतीर्थयोः ॥

चन्द्रोद्भेदेशानशृङ्ग ब्रह्मस्थानोद्भवोहनम् ।
त्रिपुष्कर रुद्रह्रद-गुहेश्वर-कथा शुभाः ॥

अविमुक्तस्य माहात्म्यमुमामाहेश्वरस्य च ।
महौजसः प्रभावश्च जम्बुतीर्थस्य वर्णनम् ॥

गङ्गाधरमिश्रकयोः कथा चाथ फलश्रुतिः ।
द्वारकायाश्च माहात्म्ये चन्द्रशर्म्मकथानकम् ॥

जागराद्याख्यव्रतञ्च व्रतमेकादशीभवम् ।
महाद्वादशीकाख्यानं प्रह्लादर्षिसमागमः ॥

दुर्व्वासस उपाख्यानं यात्रोपक्रमकीर्त्तनम् ।
गोमत्युत्पत्तिकथनं तस्यां स्नानादिजफलम् ॥

चक्रतीर्थस्य माहात्म्यं गोमत्युदधिसङ्गमः ।
सनकादिह्रदाख्यानं नृगतीर्थकथा ततः ॥

गोप्रचारकथा पुण्या गोपीनां द्वारकागमः ।
गोपीसरःसमाख्यानं ब्रह्मतीर्थादिकीर्त्तनम् ॥

पञ्चनद्यागमाख्यानं नानाख्यानसमन्वितम् ।
शिवलिङ्गमहातीर्थकृष्णपूजादिकीर्त्तनम् ॥

त्रिविक्रमस्य मूर्त्त्याख्या दुर्वासःकृष्णसंकथा ।
कुशदैत्यवधोऽर्च्चाख्या विशेषार्च्चनजफलम् ॥

गोमत्यां द्वारकायाञ्च तीर्थागमनकीर्त्तनम् ।
कृष्णमन्दिरसंप्रेचा द्वारवत्यभिषेचनम् ॥

तत्र तीर्थावासकथा द्वारका पुण्यकीर्त्तनम् ।
इत्येष सप्तमः प्रोक्तः खण्डः प्राभासिको द्विजः ॥
स्कान्दे सर्वोत्तरकथा शिवमाहात्म्यवर्णने ।

तत्फलश्रुतिः :—

लिखित्वैतत्तु यो दद्याद्धेमशूलसमाचितम् ॥
माघ्यां सत्कृत्य विप्राय स शैवे मोदते पदे ।

(१८) गरुडपुराणम्

गरुडायोक्तं विष्णुना पुराणम् नारदीयपुराणे १०८ अध्याये तद्विषयाश्च—

ब्रह्मोवाच—

मरीचे ! शृणुवक्ष्यद्य पुराणं गारुडं शुभम् ।
गरुडायाब्रवीत्पृष्टो भगवान्गरुडासनः ॥
एकोनविंशसाहस्रं तार्क्ष्यकल्पकथाचितम् ॥

तत्र पूर्वखण्डे :—

पुराणोपक्रमो यत्र सर्गः संक्षेपतस्ततः ।
सूर्यादिपूजनविधिर्दीक्षाविधिरतः परम् ॥

श्र्यादिपूजा ततः पश्चान्नवव्यूहार्च्चनं द्विज ।
पूजाविधानञ्च वैष्णवं तथा पञ्जरन्ततः ॥

योगाध्यायस्ततो विष्णोर्नामसाहस्रकीर्त्तनम् ।
ध्यानं विष्णोस्ततः सूर्यपूजामृत्युञ्जयार्च्चनम् ॥

माला मंत्रा शिवार्च्चाथ गणपूजा ततः परम् ।
गोपालपूजा त्रैलोक्यमोहनं श्रीधरार्च्चनम् ॥

विष्ण्वर्चा पञ्चतत्त्वार्च्चा चक्रार्च्चा देवपूजनम् ।
न्यासादि सन्ध्योपास्तिश्च दुर्गार्चाथ सुरार्चनम् ॥

पूजा माहेश्वरी चातः पवित्रारोहणार्च्चनम् ।
मूर्तिध्यानं वास्तुमानं प्रासादानाञ्च लक्षणम् ॥

प्रतिष्ठा सर्वदेवानां पृथक् पूजाविधानतः ।
योगोऽष्टाङ्गो दानधर्मः प्रायश्चित्तविधिक्रिया ॥

द्वीपेशनरकाख्यानं सूर्यव्यूहश्च ज्यौतिषम् ।
सामुद्रिकं स्वरज्ञानं नवरत्नपरीक्षणम् ॥

माहात्म्यमथ तीर्थानां गयामाहात्म्यमुत्तमम् ।
ततो मन्वन्तराख्यानं पृथक्पृथग्विभागशः ॥

पित्राख्यानं वर्णधर्मा द्रव्यशुद्धिः समर्पणम् ।
श्राद्धं विनायकस्यार्चा ग्रहयज्ञस्तथाऽऽश्रमाः ॥

मलहाख्या प्रेताशौचं नीतिसारो व्रतोक्तयः ।
सूर्यवंशः सोमवंशोऽवतारकथनं हरेः ॥

रामायणं हरिवंशो भारताख्यानकन्ततः ।
आयुर्वेदे निदानम्प्राक् चिकित्साद्रव्यजा गुणाः ॥

रोगघ्नं कवचं विष्णोर्गारुडस्त्रैपुरो मनुः ।
प्रश्नचूडामणिश्चान्ते हयायुर्वेदकीर्त्तनम् ॥
ओषधीनामकथनं ततो व्याकरणोहनम् ।
छन्दः शास्त्रं सदाचारस्ततः स्नानविधिः स्मृतः ॥
तर्पणं वैश्वदेवञ्च सध्यापार्वणकर्म च ।
नित्यश्राद्धं सपिण्डाख्यं धर्मसारोऽघनिष्कृतिः ॥
प्रतिसङ्क्रम उक्तोऽस्माद् युगधर्माः कृतेः फलम् ।
योगशास्त्रं विष्णुभक्तिर्नमस्कृतिफलं हरेः ॥
माहात्म्यं वैष्णवञ्चाथ नारसिंहस्तवोत्तमम् ।
ज्ञानामृतं गुह्याष्टकं स्तोत्रं विष्ण्वर्च्चनाह्वयम् ॥
वेदान्तसांख्यसिद्धान्तं ब्रह्मज्ञानात्मकं तथा ।
गीतासारः फलोत्कीर्त्तिः पूर्वखण्डोऽयमीरितः ॥

उत्तरखण्डे प्रेतकल्पे :—

अथास्यैवोत्तरे खण्डे प्रेतकल्पः पुरोदितः ।
यत्र तार्क्ष्येण संस्पृष्टो भगवानाह वाडवः ॥
धर्मप्रकटनं पूर्वं योनीनां गतिकारणम् ।
दानादिकफलञ्चापि प्रोक्तमत्रौर्ध्वदेहिकम् ॥
यमलोकस्य मार्गस्य वर्णनञ्च ततः परम् ।
षोडशश्राद्धफलकं वृत्तानाञ्चात्र वर्णितम् ॥
निष्कृतिर्यममार्गस्य धर्मराजस्य वैभवम् ।
प्रेतपीडा विनिर्देशः प्रेतचिह्ननिरूपणम् ॥
प्रेतानां चरिताख्यानं कारणम्प्रेततां प्रति ।
प्रेतकृत्यविचारश्च सपिण्डीकरणोक्तयः ॥
प्रेतत्वमोक्षणाख्यानं दानानि च विमुक्तये ।
आवश्यकोत्तरं दान प्रेतसौख्यकरं हितम् ॥
शारीरकविनिर्देशो यमलोकस्य वर्णनम् ।
प्रेतत्वोद्धारकथनं कर्मकर्तृविनिर्णयः ॥
मृत्योः पूर्वक्रियाख्यानं पश्चात्कर्मनिरूपणम् ।
मध्यं षोडशकं श्राद्धं स्वर्गप्राप्तिक्रियोहनम् ॥
सूतकस्याथ संख्यानं नारायणबलिक्रिया ।
वृषोत्सर्गस्य माहात्म्यं निषिद्धपरिवर्जनम् ॥
अपमृत्युक्रियोक्तिश्च विपाकः कर्मणां नृणाम् ।
कृत्याकृत्यविचारश्च विष्णुध्यानं विमुक्तये ॥
स्वर्गतौ विहिताख्यानं स्वर्गसौख्यनिरूपणम् ।
भूर्लोकवर्णनञ्चैव सप्तधा लोकवर्णनम् ॥

पञ्चोर्ध्वलोककथनं ब्रह्माण्डस्थितिकीर्त्तनम् ।
ब्रह्माण्डानेकचरितं ब्रह्मजीवनिरूपणम् ॥

आत्यन्तिकलयाख्यानं फलस्तुतिनिरूपणम् ।
इत्येतद् गारुडं नाम पुराणं भुक्तिमुक्तिदम् ॥

तत्फलश्रुतिः :—

कीर्तितं पापशमनं पठतां शृण्वतां नृणाम् ।
लिखित्वेतत्पुराणन्तु विषुवे यः प्रयच्छति ॥
सौवर्णं हंसयुग्माढ्यं विप्राय स दिवं व्रजेत् ।

(१९) ब्रह्माण्डपुराणम्

नारदीयपुराणे ४ पा० १०९ अध्याय उक्ता अस्य विषयाः—

श्रृणु वत्स ! प्रवक्ष्यामि ब्रह्माण्डाख्यं पुरातनम् ।
तच्च द्वादशसाहस्रं भाविकल्पकथायुतम् ॥

प्रक्रियाख्योऽनुषङ्गाख्य उपोद्घातस्तृतीयकः ।
चतुर्थं उपसंहारः पादाश्चत्वार एव हि ॥
पूर्वपादद्वयं पूर्वो भागोऽत्र समुदाहृतः ।
तृतीयो मध्यमो भागश्चतुर्थस्तूत्तरो मतः ॥

तत्र पूर्वभागे प्रक्रियापादे :—

"आदौ कृत्यसमुद्देशो नैमिषाख्यानकं ततः ॥
हिरण्यगर्भोत्पत्तिश्च लोककल्पनमेव च ।
एष वै प्रथमः पादो द्वितीयं श्रृणु नारद ॥

पूर्वभागेऽनुषङ्गपादे :—

कल्पमन्वन्तराख्यानं लोकज्ञानं ततः परम् ।
मानससृष्टिकथनं रुद्रप्रसववर्णनम् ॥

महादेवविभूतिश्च ऋषिसर्गस्ततः परम् ।
अग्नीनां विचयश्चाथ कालसद्भाववर्णनम् ॥

प्रियव्रताच्च योद्देशः पृथिव्यायामविस्तरः ।
वर्णनं भारतस्यास्य ततोऽन्येषां निरूपणम् ॥

जम्ब्वादिसप्तद्वीपाख्या ततोऽधोलोकवर्णनम् ।
ऊर्ध्वलोकानुकथनं ग्रहचारस्ततः परम् ॥

आदित्यव्यूहकथनं देवग्रहानुकीर्त्तनम् ।
नीलकण्ठाह्वयाख्यानं महादेवस्य वैभवम् ॥

अमावास्यानुकथनं युगतत्त्वनिरूपणम् ।
यज्ञप्रवर्तनञ्चाथ युगयोरन्त्ययोः कृतिः ॥

युगप्रजालक्षणञ्च ऋषिप्रवरवर्णनम् ।
वेदानां व्यसनाख्यानं स्वायम्भुवनिरूपणम् ॥
शेषमन्वन्तराख्यानं पृथिवीदोहनन्ततः ।
चाक्षुषेऽद्यतने सर्गो द्वितीयोऽङ्घ्रिपुरोदले ॥

मध्यभागे उपोद्घातपादे :—

"अथोपोद्घातपादे च सप्तर्षिपरिकीर्त्तनम् ।
राजापत्यचयस्तस्माद्देवादीनां समुद्भवः ॥
ततो जयाभिव्याहारौ मरुदुत्पत्तिकीर्त्तनम् ।
काश्यपेयानुकथनं ऋषिवंशनिरूपणम् ॥
पितृकल्पानुकथनं श्राद्धकल्पस्ततः परम् ।
वैवस्वतसमुत्पत्तिस्सृष्टिस्तस्य ततः परम् ॥
मनुपुत्रचयश्चातो गान्धर्वश्च निरूपणम् ।
इक्ष्वाकुवंशकथनं वंशोऽत्रेः सुमहात्मनः ॥
अमावसोराचयश्च रचेश्चरितमद्भुतम् ।
ययातिचरितञ्चाथ यदुवंशनिरूपणम् ॥
कार्तवीर्यस्य चरितं जामदग्न्यं ततः परम् ।
वृष्णिवंशानुकथनं सगरस्याथ सम्भवः ॥
भार्गवस्यानुचरितं तथार्यंकवधाश्रयम् ।
सगरस्याथ चरितं भार्गवस्य कथा पुनः ॥
देवासुराहवकथाः कृष्णाविर्भाववर्णनम् ।
इनस्य च स्तवः पुण्यः शुक्रेण परिकीर्त्तितः ॥
विष्णुमाहात्म्यकथनं बलिवंशनिरूपणम् ।
भविष्यराजचरितं सम्प्राप्तेऽथ कलौ युगे ॥
एवमुद्घातपादोऽयं तृतीयो मध्यमे दले ।

उत्तरभागे उपसंहारपादे :—

चतुर्थमुपसंहारं वक्ष्ये खण्डे तथोत्तरे ॥
वैवस्वतान्तराख्यानं विस्तरेण यथातथम् ।
पूर्वमेव समुद्दिष्टं संक्षेपादिह कथ्यते ॥
भविष्याणां मनूनां च चरितं हि ततः परम् ।
कल्पप्रलयनिर्देशः कालमानं ततः परम् ॥
लोकाश्चतुर्दश ततः कथिता मानलक्षणैः ।
वर्णनं नरकाणाञ्च विकर्माचरणैस्ततः ॥
मनोमयपुराख्यानं लयः प्राकृतिकस्ततः ।
शैवस्याथ पुरस्यापि वर्णनञ्च ततः परम् ॥

त्रिविधाद् गुणसम्बन्धाज्जन्तूनां कीर्तिता गतिः ।
अनिर्देश्याप्रतर्क्यस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्णनं हि ततः परम् ।
इत्येष उपसंहारः पादो वृत्तः सचोत्तरः ॥

चतुष्पादं पुराणान्ते ब्रह्माण्डं समुदाहृतम् ।
अष्टादशमनौपम्यं सारात्सारतरं द्विज ! ॥

ब्रह्मांडञ्च चतुर्लक्षं पुराणत्वेन पठ्यते ।
तदेव व्यस्य गदितमत्राष्टादशधा पृथक् ॥

पाराशर्येण मुनिना सर्वेषामपि मानद ।
वस्तुद्रष्ट्राथ तेनैव मुनीनां भावितात्मनाम् ॥

मत्तः श्रुत्वा पुराणानि लोकेभ्यः प्रचकाशिरे ।
मुनयो धर्मशीलास्ते दीनानुग्रहकारिणः ॥

मया चेदं पुराणन्तु वशिष्ठाय पुरोदितम् ।
तेन शक्तिसुतायोक्तं जातूकर्णाय तेन च ॥

व्यासो लब्ध्वा ततश्चैतत् प्रभञ्जनमुखोद्गतम् ।
प्रमाणीकृत्य लोकेऽस्मिन् प्रावर्त्तयदनुत्तमम् ॥

तत्फलश्रुतिः :—

य इदं कीर्तयेद्वत्स ! शृणोति च समाहितः ।
स विधूयेह पापानि याति लोकमनामयम् ॥

लिखित्वैतत् पुराणन्तु स्वर्णसिंहासनस्थितम् ।
पात्रेणाच्छादितं यस्तु ब्राह्मणाय प्रयच्छति ॥

स याति ब्रह्मणो लोकं नात्र कार्या विचारणा ।
मरीचे ! ऽष्टादशैतानि मया प्रोक्तानि यानि ते ॥

पुराणानि तु संक्षेपाच्छ्रोतव्यानि च विस्तरात् ।
अष्टादश पुराणानि यः शृणोति नरोत्तमः ॥

कथयेद्वा विधानेन नेह भूयः स जायते ।
सूत्रमेतत्पुराणानां यन्मयोक्तं तवाऽधुना ॥

तन्नित्यं शीलनीयं हि पुराणं फलमिच्छता ।
न दाम्भिकाय पापाय देवगुर्वनुसूयवे ॥

देयं कदापि साधूनां द्वेषिणे न शठाय च ।
शान्तायारागिचित्ताय शुश्रूषाभिरताय च ॥

निर्मत्सराय शुचये देयं सद्वैष्णवाय च ।

(२०) विष्णुभागवतम् ।

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारद पु० ९६ अ० उक्ता यथा—

मरीचे ! शृणु वच्यामि वेदव्यासेन यत्कृतम् ।
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम् ॥
तदष्टादशसाहस्रं कीर्त्तितं पापनाशनम् ।
सुरपादपरूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्युतः ॥
भगवानेव विप्रेन्द्र ! विश्वरूपी समीरितः ।

तस्य प्रथमस्कन्धे :—

तत्र तु प्रथमे स्कन्धे सूतर्षीणां समागमः ।
व्यासस्य चरितं पुण्यं पाण्डवानां तथैव च ॥
पारीक्षितमुपाख्यानमितीदं समुदाहृतम् ।"

द्वितीयस्कन्धे :—

"परीक्षिच्छुकसंवादे सृतिद्वयनिरूपणम् ।
ब्रह्मनारदसंवादेऽवतारचरितामृतम् ॥
पुराणलक्षणञ्चैव सृष्टिकारणसम्भवः ।
द्वितीयोऽयं समुदितः स्कन्धो व्यासेन धीमता ॥"

तृतीयस्कन्धे :—

"चरितं विदुरस्याथ मैत्रेयेणास्य सङ्गमः ।
सृष्टिप्रकरणं पश्चाद् ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
कापिलं सांख्यमप्यत्र तृतीयोऽयमुदाहृतः ।

चतुर्थस्कन्धे :—

"सत्याश्चरितमादौ तु ध्रुवस्य चरितं ततः ।
पृथोः पुण्यसमाख्यानं ततः प्राचीनबर्हिषः ॥
इत्येष तुर्य्यो गदितो विसर्गे स्कन्ध उत्तमः ।"

पञ्चमस्कन्धे :—

"प्रियव्रतस्य चरितं तद्वंश्यानाञ्च पुण्यदम् ।
ब्रह्माण्डान्तर्गतानाञ्च लोकानां वर्णनन्ततः ॥
नरकस्थितिरित्येव संस्थाने पञ्चमो मतः ।

षष्ठस्कन्धे :—

अजामिलस्य चरितं दक्षसृष्टिनिरूपणम् ।
वृत्राख्यानं ततः पश्चान्मरुतां जन्म पुण्यदम् ॥
षष्ठोऽयमुदितः स्कन्धो व्यासेन परिपोषणे ।

सप्तमस्कन्धे :—

"प्रह्लादचरितं पुण्यं वर्णाश्रमनिरूपणम् ।
सप्तमो गदितो वत्स ! वासनाकर्मकीर्त्तने ॥

अष्टमस्कन्धे :—

"गजेन्द्रमोक्षणाख्यानं मन्वन्तरनिरूपणम् ।
समुद्रमथनञ्चैव बलिवैभवबन्धनम् ॥
मत्स्यावतारचरितमष्टमोऽयं प्रकीर्त्तितः ।

नवमस्कन्धे :—

"सूर्यवंशसमाख्यानं सोमवंशनिरूपणम् ।
वंश्यानुचरिते प्रोक्तो नवमोऽयं महामते ॥

दशमस्कन्धे :—

"कृष्णस्य बालचरितं कौमारञ्च व्रजस्थितिः ।
कैशोरं मथुरास्थानं यौवने द्वारकास्थितिः ॥
भूभारहरणञ्चात्र निरोधे दशमः स्मृतः ।

एकादशस्कन्धे :—

"नारदेन तु संवादो वसुदेवस्य कीर्तितः ।
यदोश्च दत्तात्रेयेण श्रीकृष्णेनोद्धवस्य च ॥
यादवानां मिथोऽन्तश्च मुक्तावेकादशः स्मृतः ।

द्वादशस्कन्धे :—

"भविष्यकलिनिर्देशो मोक्षो राज्ञः परीक्षितः ।
वेदशाखाप्रणयनं मार्कण्डेयतपः स्मृतम् ॥
सौरी विभूतिरुदिता सात्वती च ततः परम् ।
पुराणसंख्याकथनमाश्रये द्वादशो ह्ययम् ॥
इत्येवं कथितं वत्स ! श्रीमद्भागवतं तव ।

तत्फलश्रुतिः :—

"वक्तुः श्रोतुश्चोपदेष्टुरनुमोदितुरेव च ।
साहाय्यकर्तुर्गदितं भक्तिभुक्तिविमुक्तिदम् ॥
प्रौष्ठपद्यां पूर्णिमायां हेमसिंहसमाचितम् ।
देयं भागवतायेदं द्विजस्य प्रीतिपूर्वकम् ॥
सम्पूज्य वस्त्रहेमाद्यैर्भगवद्भक्तिमिच्छता ।
सोऽप्यनुक्रमणीमेतां श्रावयेच्छृणुयात्तथा ॥
स पुराणश्रवणजं प्राप्नोति फलमुत्तमम् ।

अष्टादशपुराणानामनुक्रमतोऽवतरणवर्णनं वायुपुराणे प्रतिपादितम् :—

सर्वपापहरं पुण्यं पवित्रं च यशस्वि च।
ब्रह्मा ददौ शास्त्रमिदं पुराणं मातरिश्वने ॥ ५८ ॥

तस्माच्चोशनसा प्राप्तं तस्माच्चपि बृहस्पतिः।
बृहस्पतिस्तु प्रोवाच सवित्रे तदनन्तरम् ॥ ५९ ॥

सविता मृत्यवे प्राह मृत्युश्चन्द्राय वै पुनः।
इन्द्रश्चापि वशिष्ठाय सोऽपि सारस्वताय च ॥ ६० ॥

सारस्वतस्त्रिधाम्ने च त्रिधामा च शरद्वते।
शरद्वतस्त्रिविष्टाय सोऽन्तरिक्षाय दत्तवान् ॥ ६१ ॥

वर्षिणे चान्तरिक्षो वै सोऽपि त्रय्यारुणाय च।
त्रय्यारुणो धनञ्जये स च प्रादात्कृतञ्जये ॥ ६२ ॥

कृतञ्जयात्तृणंजयो भरद्वाजाय सोऽप्यथ।
गौतमाय भरद्वाजः सोऽपि निर्यन्तरे पुनः ॥ ६३ ॥

निर्यन्तरस्तु प्रोवाच तथा वाजश्रवाय च।
स ददौ सोमसुष्माय स ददौ तृणबिन्दवे ॥ ६४ ॥

तृणविन्दुस्तु दक्षाय दक्षः प्रोवाच शक्तये।
शक्तेः पराशरश्चापि गर्भस्थः श्रुतवानिदम् ॥ ६५ ॥

पराशराज्जातुकर्णस्तस्माद्द्वैपायनः प्रभुः।
द्वैपायनात्पुनश्चापि मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ॥ ६६ ॥

शांशपायन उवाच :—

मया वै तत्पुनः प्रोक्तं पुत्रायामितबुद्धये।
इत्येव वाचा ब्रह्मादिगुरुणा समुदाहृताः ॥

परिशिष्ट २

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. H. H. Wilson's Introduction to the English translation of the Visnupurana, Vol. I. (1864).

2. F. E. Pargiter's :—

1—'Purana texts of the Dynasties of the Kali age' (1913).
2—'Ancient Indian Genealogies' in Sir R. G. Bhandarkar Presentation Volume P.P. 107–113.
3—'Ancient Indian Historical tradition' (Oxford, 1922)

3. W. Kerfel's—

1—Das Purana Pancalaksana (Bonn. 1927).
2—Die Cosmography der inder (1920).
3—Bharatavarsa (Stuttgart, 1931).

4. Vries on 'Purana-studies' in Pavry commemoration Vol. PP. 482–487 (applies Kirfel's Method to the subject of Sraddha in the Brahmanda, Harivamsa, Matsya, Padma and Vayu).

5. Harprasad Shastri's descriptive cat. of Mss. at the Asiatic Society of Bengal, Vol. V. Preface PP. LXXIII–CCXXV and his paper on 'Mahapuranas' in J. B. O. R. S. Vol. XV. P. 323–340.

6. Prof. B. C. Majumdar's paper in Sir Asutosh Mookerji Silver Jubilee Vol. III, Orientalia, part 2. PP. 9–30.

7. A. Banerji Shastri's paper on—

'Ancient Indian Historical Tradition' in J. B. O. R. S. Vol. XIII. PP. 62–79 (Supplies a useful corrective to many sweeping assertions of such scholars as Macdonell, Pargiter and others).

8. Cambridge History of India, Vol. I. PP. 296–318.

9. Prof. H. C. Hazra—

1—'Studies in the Puranic record of Hindu rites and customs' (Dacca 1940).

Papers on 'Puranas in the history of Smṛti' in Indian Culture, Vol. I. PP. 586-614, Mahapuranas, (In Dacca University studies' Vol. II. PP. 62-69.)

2—Smrti Chapters in Puranas. (I. H. Q. Vol. XI. PP. 108-130).

3—Prepuranic Hindu Society before 200 A. D., (I. H. Q. Vol. XV. PP. 403-431).

4—'Puranic rites and customs influenced by the economic and social views of the sacerdotal class' (in Dacca University studies, Vol. XII. PP. 91-101).

5—'Influence of Tantra on Smrtinibandhas' (in A. B. O. R. I. Vol. XV. PP. 220-235 and Vol. XVI. PP. 202-211).

6—'The Upapuranas' (in A. B. O. R. I. Vol. XXI. PP. 38-62).

7—'Purana literature as known to Ballalasena' (in J. O. R., Madras, Vol. XII. PP. 67-79).

8—'The Aswamedha, the common source of origin of the Purana Pancalaksana and Mahabharata' A. B. O. R. I. Vol. 36 (1955. PP. 15-38).

9—"Studies in the Upapurāṇas" 2 Vols. (Published by the Sanskrit College, Calcutta, 1960-1963).

10. Das Gupta's :—Indian Philosophy, Vol. III. PP. 496-511 on 'Philosophical Speculations of Some Puranas.

11. Dr. D. R. Patil's paper on—'Gupta inscriptions and Puranic tradition' (in Bulletin of D. C. R. I. Vol. II. PP. 2-58, comparing passages from Gupta's—inscriptions and Puranas).

12. Prof. V. R. Ramchandra Diksitar's—

1—'The Purana a Study' (in I. H. Q. Vol. VIII. PP. 747-67).

2—'Purana index' in three Volumes (Madras).

13. Dr. A. D. Pusalkar.s paper in—'Progress of Indic studies' (1917-1942) in Silver Jubilee Volume of B. O. R. I. PP. 139-152).

2—'Studies in Epics and Puranas of India' (B. V. Bombay, 1953).

14. Prof. D. R. Mankad's papers on 'Yugas' (in P. O. Vol.

VI. Part 3-4. PP. 6-10), on 'Manvantaras' (I. H. Q. Vol. XVIII. PP. 208-230 and B. V. Vol. VI. PP. 6-10).

15. Dr. Ghurye's Presidential address in the second ethnology an Foklore in Pro. of 6th. A. I. O. C. (1937) PP. 911-954.

16. Dr. A. S. Altekar's paper 'Can we Reconstruct Pre-Bharata war history ?' In J. B. H. U. Vol. IV. PP. 183-223 (holding that the various Pre-Bharata war dynasties mentioned in the Puranas are as historical and real as the dynasties of Mauryas and Andhras and the Pauranic Geneologies really refer to kings who figure in the Vedic literature also.)

17. Dr. Jadunath Sinha—

"A History of Indian Philosophy", Vol. I. PP. 125-177 on the philosophy of the Puranas (1956).

18. Martin Smith—

Two papers on the ancient chronology of India in J. A. O. S. Vol. 77. No. 2. (April-June 1957) and No. 4. (Dec. 1957). (He follows Pargiter in his texts).

19. C. R. Krishnamacharlu : 'The Cradle of Indian History' (Adyar Library series No. 56; Adyar Library, 1947)—

20. S. L. Katre : 'Avatāras of God' (Allahabad University studies, Vol. X., 1934).

21. Annie Besant : 'Avataras' (Adyar Library, Madras 1925).

22. Aurobindo : Vyāsa and Valmiki (Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1960).

23. P. V. Kane : History of Dharmashāstra (Vol. V. Part II. PP. 815-1002) Poona, 1962.

24. D. C. Sarkar : 'Studies in the Geography of Ancient and medieaval India' (Motilal Banarasidas, Delhi, 1960).

25. B. C. Law : 'Historical Geography of Ancient India', Paris 1954.

26. V. S. Agrawal : Vaman Purana : A Study (Varanasi 1964).

27. V. S. Agrawal : 'Matsya Purana : A Study' (All India Kashiraj Trust, Ramanagar Fort, Varanasi, 1963).

28. R. G. Bhandarkar : 'A Peep into the Early History India.' (new edition 1920) pp. 68 ff.

29. F. E. Pargiter : Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol. X. 1918, pp. 448 ff.

30. J. N. Farquhar : An Outline of the Religious Literature of India, London, 1920, pp, 136 ff.

31. E. J. Rapson : Cambridge History of India, Vol. I. pp. 296ff.

32. A. Barth : Religions of India. second edition, London, 1889, pp. 153 ff.

33. Monier Williams : Brahmanism and Hinduism, London, 1891.

34. E. W. Hopkins : Religions of India, Boston, 1895.

35 Sir Charles Eliot : Hinduism and Buddhism, London, 1921, Vol. II.

36. Glaspenapp : Der Hinduismus, Munich, 1922.

37. Jacobi : E. R. E. Vol. I. pp. 200 ff. (on the Ages of the world according to the Puranas).

38. Bhandarkar : Vaishnavism, Shaivism and Minor sects. (Poona, 1960).

39. Grierson : J. R. A. S. 1911, p. 800 ff. (on the date of Bhāgavat).

40. Purnendunath Sinha : The Bhāgavata Purana (Secon edition, Adyar, Madras).

41. M. Winternitz : A History of Indian Literature, Vol. Calcutta University, 1927. pp. 517-586.

42. R. K. Sharma : Elements of Poetry in the Mahābhārata (University of California Press, 1964).

43. Purana (a research bulletin wholly devoted to the study of Puranas. published by the All-India Kashirāja Trust, Ramanagar Fort, Varanasi, 6 Vols. published 1959-1964).

44. Dr. Buddha Prakash—Studies in Puranic Geography and Ethnology—Śākadvipa. (Purana Bulletin Vol. III. No. 2, July 1961 ; published by All-India Kashirāj Trust, Ramnagar).

. म० म० गोपीनाथ कविराज—
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि (१९६३)
भारतीय संस्कृति और साधना (दो भाग) (१९६४)
प्र० विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

.६. वासुदेवशरण अग्रवाल—मार्कण्डेय पुराण—(एक सांस्कृतिक अध्ययन) हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६१।

४७. राहुल सांकृत्यायन—मध्य एशिया का इतिहास प्रथम खण्ड (प्र० विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५६)।

४८. भगवद्दत्त—भारतवर्ष का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग) दिल्ली, सं० २००८।
" —भारतवर्ष का इतिहास (द्वितीय सं०) दिल्ली।

४९. राजवली पाण्डेय—पुराण विषयानुक्रमणी (प्रथम भाग) हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, १९५७ ई०।

५०. माधवाचार्य शास्त्री—पुराणदिग् दर्शन (तृतीय सं०) देहली, सं० २०१४।

५१. महाभारत की नामानुक्रमणिका—(प्रकाशक गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथम सं०, २०१६ सं०)।

५२. मधुसूदन ओझा—अत्रिख्यातिः (लखनऊ, १९२९ ई०)।

५३. स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती—श्रीमद्भागवत रहस्य (द्वितीय सं०, बम्बई, १९६३ ई०

५४. ज्वाला प्रसाद मिश्र—अष्टादश पुराणदर्पण (प्रकाशक गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, मुम्बई, सं० १९७९ अधुना अप्राप्य)।

५५. रामशङ्कर भट्टाचार्य—
" अग्निपुराणस्य विषयानुक्रमणी (प्र० भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६३)।
" गरुड पुराण (भूमिका-विषयानुक्रमणी के साथ) [चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६४]।
" इतिहास-पुराण का अनुशीलन, वाराणसी, १९६३ ई०।
" पुराणस्थ वैदिक सामग्री का अनुशीलन (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६५ ई०,)।

.. महाभारत-कोश (प्रथम खण्ड) प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६४।

५७. मधुसूदन ओझा—पुराणनिर्माणाधिकरणम् तथा पुराणोत्पत्तिप्रसङ्गः (जयपुर, सं० २००९)।

५८. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी—पुराणत्त्व मीमांसा (वाराणसी, १९६१),
" —अष्टादशपुराण परिचयः (वाराणसी, सं० २०१३)।

५९. भाऊ शास्त्री वझे—काशीतिहासः (काशी, सं० २०११)।

६०. डा० मोतीचन्द्र—काशी का इतिहास (बम्बई, १९६४)।

६१. स्वामी दयानन्द—धर्म विज्ञान (तीन खण्ड, प्रकाशक भारत धर्म महामण्डल, काशी, १९३९ ई०)।
" —धर्म कल्पद्रुम (प्र० वही, सात खण्ड)।

६२. दीनानाथ शास्त्री सारस्वत—सनातनधर्मालोक (८ भाग, दिल्ली, १९६०–६५)।

६३. पं० नकछेदराम द्विवेदी—सनातन धर्मोद्धारः (सानुवाद चार खण्ड, प्र० हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी)।

६४. बलदेव उपाध्याय—भागवत सम्प्रदाय (प्र० नागरी प्रचारणी सभा, काशी)।

„ —आर्य संस्कृत के आधार ग्रन्थ (प्र० नन्दकिशोर एण्ड सन्स, काशी, १९६३)।

„ —भारतीय दर्शन (शारदा मन्दिर, काशी, षष्ठ सं० १९६२)।

„ —भारतीय दर्शनसार (सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली)।

„ —भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा (प्र०, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३)।

६५. रायगोविन्दचन्द्र—
प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा (हिन्दी प्रचारक, काशी सन् १९६४)।

६६. अन्नदाचरण तर्क चूड़ामणि—पुराणरहस्यम् (काशी)।

६७. कालूराम शास्त्री—पुराणवर्म (कानपुर)।

६८. डा० सम्पूर्णानन्द—
हिन्दू देवपरिवार का विकास (प्रयाग, १९६३)।

६९. डा० कपिलदेव—
मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद (चौखम्बा, काशी, १९६१)।

७०. डा० कामिल बुल्के—
राम कथा (हिन्दी परिषद्, प्रयाग, द्वि० सं० १९६४)।

७१. पं० बदरीनाथ शुक्ल—
मार्कण्डेय पुराण एक अध्ययन (चौखम्बा, काशी, १९६०)।